श्री आनन्दघन-चौबीसी

(हिन्दी विवेचन)

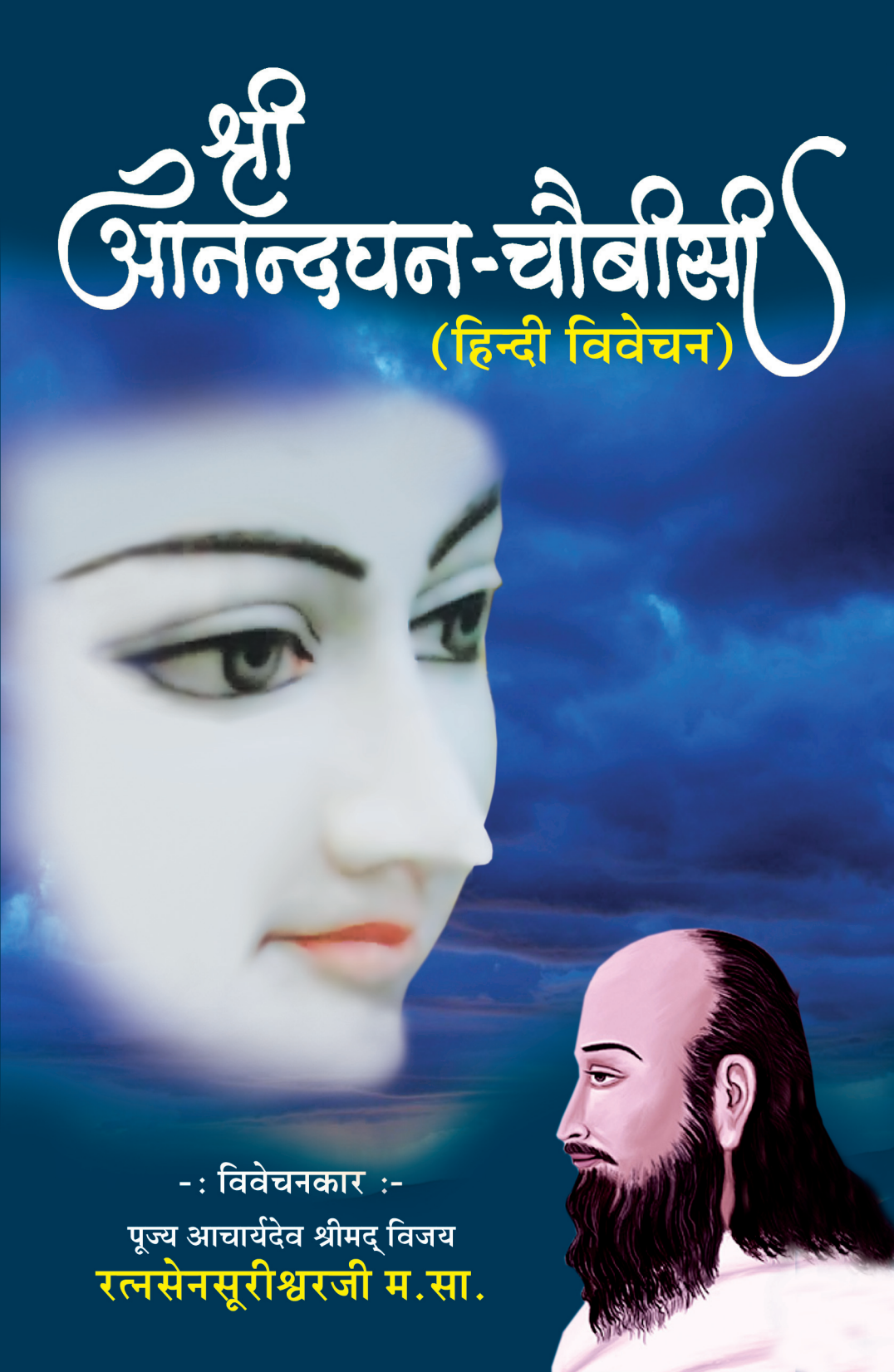

-: विवेचनकार :-

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

श्री आनन्दघन-चौबीसी

(हिन्दी-विवेचन)

प्रेरक

धर्मतीर्थप्रभावक पू. आचार्यदेव

श्रीमद् विजय मित्रानन्दसूरीश्वरजी म.सा.

विवेचनकार

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न

अध्यात्मयोगी, निःस्पृह शिरोमणि, प्रशांतमूर्ति, पूज्यपाद

पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के शिष्यरत्न

प्रवचन-प्रभावक, मरुधररत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर

पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

7

प्रकाशक

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.

Cell 8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति : द्वितीय • **लागत मूल्य :** 200/- रुपये • **प्रतियां :** 1000
विमोचन स्थल : जगवल्लभ पार्श्वनाथ जैन आराधक संघ-बीजापूर (कर्णाटक)
विमोचन : दि. 9-11-2021, मंगलवार, ज्ञानपंचमी वि.सं. 2078

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**श्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और अर्हद् दिव्य संदेश मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तक को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होंगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी,
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
चीरा बाजार,
मुंबई, M. 9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रवचन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

द्वारा आलेखित **222 पुस्तकों** में से प्राप्य हिन्दी भाषा में जैन धर्म का अमूल्य खजाना

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
अध्यात्मयोगी पूं.पं.श्री पंन्यासजी म. का साहित्य		
1.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
2.	अजातशत्रु अणगार	100/-
3.	महान् योगी पुरुष	85/-
4.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
5.	परम-तत्व की साधना भाग-2	150/-
6.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
7.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
8.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
9.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
10.	मंत्राधिराज प्रवचन सार	80/-
11.	हार्दिक–श्रद्धांजलि	190/-
जैन धर्म का पाठ्यक्रम		
1.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
2.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-
6.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-
7.	जीव विचार विवेचन	60/-
8.	नव तत्त्व-विवेचन	60/-
9.	दंडक सूत्र	50/-
10.	लघु संग्रहणी (जैन भूगोल)	100/-
11.	तीन भाष्य (चैत्यवंदन भाष्य, गुरुवंदन व पच्चक्खाण)	150/-
12.	कर्मग्रंथ-पहला	100/-
13.	कर्मग्रंथ-दूसरा-तीसरा	70/-
14.	चौथा-कर्मग्रंथ	55/-
15.	पाँचवाँ-कर्मग्रंथ	100/-
16.	छठा-कर्मग्रन्थ	160/-
17.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	100/-
18.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	220/-
19.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-
20.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
21.	Panch Pratikraman Sootra	60/-
22.	विवेकी बनो	90/-
वैराग्य पोषक ग्रंथ		
23.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
24.	वैराग्य शतक	100/-
25.	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
जीवन-उपयोगी साहित्य		
27.	जैन-महाभारत	130/-
28.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
29.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
30.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
31.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
32.	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-
33.	सज्झायों का स्वाध्याय	35/-
34.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
35.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
36.	विविध-तपमाला	100/-
37.	Pearls of Preaching	60/-
38.	अमृत रस का प्याला	300/-
39.	संस्मरण	50/-
40.	Celibacy	70/-
41.	रत्न-संदेश-भाग-1	150/-
42.	रत्न-संदेश-भाग-2	150/-
43.	आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-2	70/-
44.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-
45.	श्रमण-क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
46.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-
47.	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-
48.	व्यसन-मुक्ति	100/-
49.	गणधर-संवाद	80/-
50.	समाधि मृत्यु	80/-
51.	New Message for a New Day	600/-
52.	आओ श्रावक बनें !	25/-
53.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-
54.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
55.	अचिंत्य चिंतामणि–श्री नवकार-1	160/-
56.	अचिंत्य चिंतामणि–श्री नवकार-2	160/-
57.	सुखी जीवन के Mile-Stone	100/-
58.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-
59.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-
60.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-
61.	श्री आनंदघन चौबीसी-हिन्दी विवेचन	200/-

प्रकाशक की कलम से...

परम शासन प्रभावक, व्याख्यान वाचस्पति, दीक्षा युग प्रवर्त्तक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के तेजस्वी शिष्यरत्न नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक-चिंतक एवं अनुप्रेक्षक, निःस्पृह शिरोमणि पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के कृपा पात्र चरम शिष्यरत्न मरुधर रत्न, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.** द्वारा आज से 38 वर्ष पूर्व अपनी मुनि अवस्था के प्रारंभिक काल में हिन्दी भाषा में आलेखित **'श्री आनंदघन चौबीसी-हिन्दी विवेचन'** की द्वितीय आवृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

पूज्यश्री का वि.सं. 2038 में अपनी जन्मभूमि बाली में तपस्वी सम्राट् **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय राजतिलकसूरीश्वरजी म.** की निश्रा में चातुर्मास था, उस समय धर्म तीर्थ प्रभावक **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय मित्रानंदसूरीश्वरजी म.सा.** के निर्देशानुसार पूज्यश्री ने आनंदघन चौबीसी के ऊपर सिर्फ 23 दिनों में हिन्दी विवेचन तैयार किया था। उसके बाद पू. आचार्य भगवंत ने परिमार्जन किया और **पू.पं. पद्मविजयजी गणिवर जैन ग्रंथमाला ट्रस्ट अहमदाबाद** की ओर से उसका प्रकाशन करवाया था।

आज उस बात को 37 वर्ष बीत चूके है। अब उसकी नकलें अप्राप्य हो चूकी है, पाठकों की मांग को ध्यान में रखते हुए उस प्रकाशन की द्वितीय आवृत्ति प्रकाशित हो रही हैं। इस लंबे अंतराय में पू. आचार्यश्री के वरदहस्तों से अनेक ग्रंथों पर विवेचनाएँ प्रकाशित हो चूकी है। पुस्तकों के प्रुफ रीडिंग में **डॉ. चेतन प्रकाशजी पाटनी** का भी सराहनीय सहयोग रहा है।

पूज्यश्री की भाषा सरल व सुबोध होने से हिन्दी भाषी क्षेत्र में उनका साहित्य खूब चाव से पढा जाता है। यद्यपि आनंदघनजी के स्तवन खूब अर्थ गंभीर हैं, फिर भी पूज्यश्री ने गुरुकृपा के बल से यह सरल विवेचन तैयार किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी भाषी पाठकों को यह प्रकाशन खूब उपकारक सिद्ध होगा।

भव्य पाथेय

समतानिधि पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय मित्रानंदसूरीश्वरजी म.सा.

विक्रम संवत् 2038 की साल !

मेरा चातुर्मास जैन उपाश्रय-श्रीपालनगर-वालकेश्वर (बम्बई) में था । `मातृ–आशिष' कॉलोनी से धर्मानुरागी सुश्रावक अमोलखचन्दजी नाहर प्रतिदिन प्रवचन-श्रवण और तत्त्वचर्चा के लिए आते थे । उनके हृदय में अध्यात्म-प्रीति थी । अध्यात्म-प्रीति का यह वारसा उन्हें, उनके पिताश्री अमीचन्दजी नाहर से मिला था । उनके पिताजी योगिराज आनन्दघनजी महाराज के स्तवनों के बड़े प्रेमी थे । वे उन स्तवनों का चिन्तन-मनन करते रहते थे । उन स्तवनों पर उन्होंने अपनी शैली में विवेचन भी लिखा था । अमोलखचन्दजी भी आनन्दघनजी महाराज के स्तवनों पर चिन्तन-मनन करते रहते थे । उनकी प्रबल इच्छा थी कि `आनन्दघन चौबीसी' पर हिन्दी में सुन्दर विवेचन तैयार हो । इस प्रकाशन में आर्थिक सहयोग देने की भी उनकी इच्छा थी ।

उन्होंने एक दिन यह प्रस्ताव मेरे सामने रखा ।

मैंने कहा–``हिन्दी-विवेचन की अति आवश्यकता है और वह हो जाएगा । हमारे समुदाय में नवोदित विद्वान् **`रत्नसेनविजयजी'** नाम के एक मुनिराज हैं । वे हिन्दी के अच्छे लेखक हैं । उनमें लेखन की शीघ्रता है और वे उत्साही भी हैं । मैं यह कार्य उन्हें सौंप देता हूँ ।''

इस बातचीत के बाद मैंने मुनि रत्नसेनविजयजी को पत्र लिखा और उन्होंने मेरे निर्देशानुसार लेखन प्रारम्भ किया । उन्होंने बहुत ही अल्प समय (मात्र 23 दिन) में लेखन-कार्य पूर्ण करके संशोधन/परिमार्जन के लिए सारी सामग्री मुझे भेज दी । मैंने पढ़कर अनेक स्थानों पर परिमार्जन किया और

कई स्थलों पर स्पष्टता व विस्तार करने के लिए सूचनाएँ की । मुनिश्री ने मेरी सूचनानुसार पुनः परिमार्जन कर सामग्री मेरे पास भेजी । मैंने पुनः संशोधन-परिमार्जन किया । अन्तिम चार स्तवन मैंने 2-4 बार पढ़कर सुधारे...फिर भी तत्त्वगर्भित होने से इन्हें अन्य विद्वान् मुनि भी सुधार लें तो उचित रहेगा' यह विचार कर मैंने विद्वान् मुनिराज **श्री कुलचन्द्रविजयजी म.** को ये चार स्तवन भेज दिए, उन्होंने भी उचित परिमार्जन किया ।

नयसापेक्ष जिनशासन में शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं । कहा है **'शब्दानामनेका अर्थाः'** इस न्याय से स्तवनों में कहीं-कहीं अनेक अर्थ निकलते हैं । लेखक ने निश्चय–व्यवहार, उभयनय से सापेक्ष रहकर सरल, सुबोध, सुवाच्य शब्दों / वाक्यों में यह विवेचन तैयार किया है । विवेचन में भाषा का लालित्य भी सुन्दर है ।

लेखक मुनिराज ने योगिराज के स्तवनों को न्याय देने का समुचित प्रयत्न किया है । आदि से अन्त तक वाचन का रस अखण्ड रहा है, यह विशेषता पाठक के हृदय में स्वतः अनुभव में आएगी ।

लेखक मुनिराज की विस्तृत प्रस्तावना और योगिराज का पुण्यपरिचय अवश्य पठनीय है । वह बहुत ही सुन्दर शैली में लिखा गया है ।

सुश्रावक अमोलखचन्दजी ने इन स्तवनों के विवेचन को पढ़कर पहले स्तवन की चौथी गाथा के अर्थ में जो सुझाव दिया है, वह निम्नानुसार है–

'कोइ पतिरंजन अतिघणुं तप करे रे, पतिरंजन तन ताप ।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु-मिलाप ।।

गाथा 4 का अर्थ एक तो जैसे इस विवेचन में सांसारिक पति पर घटाया है, वह भी ठीक है । मगर मेरे ख्याल से श्री आनन्दघनजी म. का दूसरा आशय `अन्य दर्शनों में जो बाल-तप, कायकष्ट रूप है, उसको

श्रीमद् ने पतिरंजन रूप में स्वीकार नहीं किया है, बल्कि पतिरंजन को धातु-मिलाप रूप में स्वीकार किया है, अर्थात् सांसारिक-प्रीति, उपाधि सहित तथा रूपान्तरित पर्यायवाली होने से क्षणिक है और निरुपाधिक प्रीति स्व पर्याय में होने से धातुमिलाप यानी श्री ऋषभदेव भगवान को पति रूप में स्वीकार किया है। उन्हीं में अभेद रूप हो जाने से रमणता रूप रंजन से धातुमिलाप हुआ, जिससे अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति हो, वही सम्यक् तप रूप या धातुमिलाप रूप है।'

इस अर्थ का आगे की गाथाओं से सीधा सम्बन्ध है। वाचकों की नयदृष्टि अर्थ का यथार्थ निर्णय कर ही लेगी।

विद्वानों से अनुरोध है कि कहीं पर भी अर्थ में क्षति हुई हो तो हमें सूचित करें, ताकि दूसरी आवृत्ति में उसका सम्मार्जन हो सके।

मैंने वर्षों पूर्व विद्वान् मुनिराज श्री जम्बुविजयजी महाराज के साथ 7-8 हस्तलिखित प्रतियों के आधार से आनन्दघनजी महाराज के स्तवनों का संशोधन किया था, तब पता चला कि अनेक स्थलों पर अनेक पाठान्तर भी मिलते हैं, यह भी एक संशोधन का विषय है।

अर्थ–ज्ञान के माध्यम से भक्तियोग के साथ-साथ तत्त्वचिन्तन व अध्यात्म आदि अनेक लाभ इन स्तवनों की गहराई में जाने से मिल सकते हैं। योगिराज ने भव्यात्माओं को मोक्ष-मार्ग की यात्रा में भव्य पाथेय प्रदान किया है।

सभी भव्यात्माएँ इस `भव्य पाथेय' को प्राप्त कर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ें।

जैन उपाश्रय
मसूर (महाराष्ट्र)
वै.सु.3, संवत् 2041

आचार्य विजय मित्रानन्दसूरि

विवेचनकार की कलम से...

ॐ नमः सिद्धम्

सारमेतन्मया लब्धं, श्रुताब्धेरवगाहनात् ।
भक्तिर्भागवतीबीजं परमानंदसम्पदाम् ।।

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, पूज्यपाद उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. फरमाते है कि **'श्रुतसागर का अवगाहन करके मैंने यह सार पाया है कि परमात्मा की भक्ति परमानन्द की सम्पत्ति का बीज है ।'**

इस विराट् विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब सुख पाना चाहती हैं और दुःख से मुक्त होना चाहती हैं । उन सब जीवों का प्रयत्न भी सुख–प्राप्ति और दुःख–मुक्ति के लिए ही हो रहा है ।

सुख–प्राप्ति की इच्छा और प्रयत्न के बावजूद भी जीवात्मा सुख नहीं पाती है । इसका एक मात्र कारण विपरीत प्रयत्न है । किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए मात्र प्रयत्न ही अपेक्षित नहीं है, किन्तु उस प्रयत्न का सही दिशा में होना भी अनिवार्य है ।

❖ ***संध्या के समय एक बुढ़िया कपड़ा सी रही थी । धीरे-धीरे अंधेरा फैल रहा था । अचानक बुढ़िया के हाथ से सुई नीचे गिर गई । बुढ़िया सुई शोधने लगी, किन्तु वह उसे मिली नहीं । थोड़ी ही देर बाद घर के बाहर सड़क के खम्भे का बल्ब जलने लगा । कमरे में अंधेरा था, किन्तु बाहर प्रकाश था, अतः बुढ़िया घर से बाहर आ गई और उस बल्ब की रोशनी के नीचे बैठकर अपनी सुई शोधने लगी । घंटों की शोध के बावजूद भी बुढ़िया को सुई नहीं मिल पाई ।***

बुढ़िया को इस प्रकार हैरान-परेशान देखकर किसी पड़ोसिन ने कहा-माँ जी ! क्या शोध रही हो ?

बुढ़िया ने कहा–सुई !

बुढ़िया की सहायता के लिए वह पड़ोसिन भी नीचे बैठ गई और वह भी बुढ़िया के साथ–साथ सुई शोधने लगी । चारों ओर शोध लिया, किन्तु सुई नहीं मिली, तब पड़ोसिन ने कहा–माँ जी ! यह तो बताओ सुई खोई कहाँ थी ?

बुढ़िया ने कहा–सुई तो घर के अन्दर खोई थी ।

पड़ोसिन ने मन ही मन बुढ़िया की मूर्खता पर हँसते हुए कहा–तो माँ जी ! सुई वहीं शोधनी चाहिये न ?

बस !

मोहाधीन संसारी जीव की भी यही दशा है । उसे सुख की चाहना हैं, कामना है और वह प्रयत्नशील भी है, किन्तु उसका वह प्रयत्न विपरीत दिशा में है ।

वह चेतन के बजाय जड़ पदार्थों में से सुख पाना चाहता है । उसने चेतन को छोड दिया है और जड़ को पकड लिया है । वह जड़ की अपेक्षा रखता है और चेतन की उपेक्षा करता है । बस ! यही सबसे भयंकर और गंभीर भूल है । अब प्रयत्न होने के बावजूद भी सिद्धि कहाँ से मिले ?

सुख, चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं ! सुख, चेतन का गुण है, जड़ का नहीं । परन्तु मोह से भ्रान्त आत्मा चेतन के बजाय जड़ से ही, जड़ पदार्थों से ही सुख पाना चाहती है ।

क्या मूंगफली के छिलकों को पीसने से तेल की प्राप्ति हो सकती है ? क्या जल का मन्थन करने से घी की प्राप्ति हो सकती है ? कदापि नहीं । इसी प्रकार सुख, आत्मा का धर्म होने से आत्मा से ही पाया जा सकता है, जड़ से नहीं ।

आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए आवश्यकता है आत्मज्ञान की । आत्म-तत्त्व की पहिचान के बिना आत्मिक सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है । आत्मा एक अतीन्द्रिय पदार्थ है । जड़ से सर्वथा भिन्न है । सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा ही आत्मा को साक्षात् देख और जान सकते है और वे ही आत्मा की सच्ची पहिचान करा सकते हैं ।

मोह से भ्रान्त आत्मा देह में आत्म-बुद्धि कर लेती है और देह के विनाश में ही अपना विनाश मान लेती है ।

❖ *एक बार जंगल में किसी सिंहिनी ने एक बच्चे को जन्म दिया, बच्चे को जन्म देने के बाद तुरन्त ही उसकी मृत्यु हो गई ।*

उसी समय एक ग्वाला आ पहुँचा । उसने सिंह के बच्चे को देखा और उसे उठा लिया । उस बच्चे को लेकर वह अपने घर आ गया और उसने सिंह के शिशु को भेड़–बकरियों के टोले में रख दिया । धीरे–धीरे वह बच्चा बड़ा होने लगा, भेड़-बकरियों के टोले के साथ रहने के कारण उसका भी जीवन भेड़ की भाँति हो गया, वह भी भेड़ों के साथ जंगल में चरने के लिए जाता, घास खाता और 'बें–बें' करता । समय के साथ–साथ सिंह का बच्चा कुछ और बड़ा हुआ ।

एक बार वह ग्वाला अपनी भेड़ों को चराने के लिए जंगल में ले गया । उसी समय पर्वत पर से नीचे उतरते हुए किसी सिंह ने भयंकर गर्जना की । भेड़-बकरियों ने सिंह की दहाड़ सुनी तो वे वहाँ से तितर बितर होने लगीं, उन भेड़ों के संग में रहा सिंह का बच्चा भी भागने लगा ।

अपने सजातीय बन्धु को डर के मारे भागते हुए देखकर उस सिंह को बड़ा आश्चर्य हुआ । अरे ! यह सिंह मुझसे क्यों डर रहा है ? वह सिंह छलांग लगाकर उस सिंह के बच्चे के निकट आ गया और उसे पकड़कर बोला–अरे ! तू इस तरह क्यों भाग रहा है ? तू इतना कायर कैसे बन गया ? मेरा और तेरा स्वरूप तो एक ही है ।

सिंह के बच्चे को उस सिंह के शब्दों पर विश्वास नहीं आया तो वह सिंह उसे पास ही बहती हुई नदी के किनारे ले गया । सिंह ने उस बच्चे को उसकी प्रतिछाया नदी के जल में बताई और उसे कहा–अब देख ! तुझ में और मुक्त में कोई अन्तर है ?

सिंह के बच्चे ने सिंह की तथा अपनी प्रतिछाया देखी और उसे अपने स्वरूप का परिचय हुआ । उसने निर्णय लिया, 'मैं भेड़ नहीं, बल्कि सिंह हूँ ।' बस ! तत्क्षण उसने भी गर्जना की । अन्तर में रहा हुआ उसका भय सर्वथा निकल गया, वह भय-मुक्त बनकर जंगल में विचरण करने लगा ।

इस घटना के उपनय को समझने का प्रयास करें । सिंह का बच्चा संसारी जीव है । भेड़–बकरियों का टोला यह पौद्‌गलिक भाव है और सिंह की गर्जना वीतराग-वाणी है ।

जिस प्रकार सिंह ने उस सिंह–शावक को अपने स्वरूप का परिचय कराया, तभी उस बच्चे का भय दूर हो पाया, इसी प्रकार इस संसार में अब तक आत्मा पौद्‌गलिक भाव में रही होती है, तब तक वह अपने आपको विनाशी समझती है, स्व-स्वरूप की अज्ञानता के कारण वह सदा भयभीत रहती है । परन्तु जब आत्मा, परमात्मा की वाणी का श्रवण करती है और उस वाणी द्वारा आत्मा को आत्मा की सच्ची पहिचान होती है, अपनी अजर-अमरता का ज्ञान होता है, तब अनादि से रहा हुआ भय सर्वथा दूर हो जाता है और वह भयंकर मरणांत उपसर्गों में भी समाधि-मग्न रह सकती है ।

आत्मा की शाश्वतता को जानने वाले खंधक मुनि शरीर की चमड़ी उतारने वाले के प्रति भी प्रेम दिखा सकते हैं । आत्मा की शाश्वतता जानने वाले गजसुकुमाल मुनि प्रज्वलित अंगारों से मस्तक जलने की पीड़ा को समता भाव से सहन कर सकते हैं ।

आत्मा की अमरता को जानने वाले ही मरणान्त उपसर्गों में भी प्रसन्नचित्त रह सकते हैं । परमात्म-भक्ति से हमें अपनी आत्मा की शाश्वतता का बोध होता है ।

प्रशमरस-निमग्न वीतराग परमात्मा की भव्य प्रतिमा एक ऐसा दर्पण है, जिसमें हमारी आत्मा प्रतिबिम्बित होती हैं, हमें अपने स्वरूप की पहिचान होती है ।

जब तक आत्मा पर मिथ्यात्व का जोर रहता है, तब तक उसे न तो मोक्ष की रुचि होती है और न ही मुक्तात्मा के प्रति प्रीति। परमात्म भक्ति मुक्ति की दूती है। मिथ्यात्व की मंद अवस्था में ही मुक्ति तथा मुक्तात्मा के प्रति प्रेम पैदा होता है। आसन्नभव्य आत्मा ही मुक्तात्मा के प्रति आत्म-समर्पण कर सकती है।

मोक्षप्राप्ति के विविध मार्गों में भक्तियोग एक श्रेष्ठ योग है। भक्तियोग अर्थात् आत्मा का परमात्मा के प्रति समर्पण। जहाँ परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण है, वहाँ सिद्धि सुलभ है।

परमात्म-भक्ति में तल्लीन बनी आत्मा एक ऐसे आनन्द का अनुभव करती है, जो इस विश्व में अन्यत्र कहीं सुलभ नहीं है। उसको शांतरस भी कहा जाता है, भक्ति की मस्ती कुछ अनोखी होती है। पूज्य उपाध्यायजी म. ने गाया है–

मुक्तिथी अधिक तुज, भक्ति मुज मन वसी,
जेहशुं सबल प्रतिबंध लागो।

भक्ति के आनन्द में मस्त बनी आत्मा मुक्ति को भी भूल जाती है। गुण-कीर्तन, भक्ति का श्रेष्ठ प्रकाश है, जिसमें भक्त परमात्मा के गुणों की प्रशंसा करता है...अपने अवगुणों की निन्दा करता है।

सेव्य-सेवक भाव, सख्य भाव, दाम्पत्य भाव आदि विविध भावों के द्वारा भक्त परमात्मा के गुणों का कीर्तन कर सकता है। ऐसी भक्ति के नव प्रकार है।

सेव्य-सेवक-भाव में भक्त अपने आपको परमात्मा का सेवक मानता है और परमात्मा को सेव्य रूप में स्वीकार करता है। जैसे–

तू प्रभु म्हारो हुँ प्रभु त्हारो, क्षण एक मुझ ने नाही विसारो।
महेर करी मुज विनंति स्वीकारो, स्वामी सेवक जानी निहालो।।

सख्य-भाव में प्रभु को मित्र माना जाता है 'प्रभु हमें भूल गए हैं' इस प्रकार की अभिव्यक्ति स्तवना में की जाती है। जैसे–

अबोलडा शानां लीधा छे राज, जीव-जीवन प्रभु माहरा।
तमे अमारा अमे तमारा, वास निगोद मां रहेता।

आत्म-निन्दा भाव–में प्रभु के समक्ष भक्त द्वारा अपनी निन्दा की जाती है । `प्रभु ! मैं तो अनेक अवगुणों का भण्डार हूँ' इस प्रकार की अभिव्यक्ति इसमें होती है । जैसे–

साहिब सांभलो रे, संभव अरज अमारी ।
भवो भव हुं भम्यो रे, न लही सेवा तमारी ।।
नरक निगोद मां रे, तिहां बहु भव भमीयो ।
तुम विन दुःख सह्यारे, अहोनिश क्रोधे धमधमीयो ।।१।।
इन्द्रियवश पड्यो रे, पाल्याव्रत नहीं सूंसे ।
त्रस पण नवि गण्या रे, हणिया थावर हूंशे ।।२।।

卐 卐 卐 卐 卐

दास अवगुण भर्यो, दयानिधि दास पर दया कीजे ।।

प्रमोद–भाव–में भक्त प्रभु के दर्शन से प्राप्त आनन्द की अभिव्यक्ति करता है । जैसे–

अखीयां हरखन लागी हमारी, अखीयां हरखन लागी ।
दरिसन देखत पास जिणंद को, भाग्यदशा अब जागी हमारी ।।

प्रेम-लक्षणा भाव–में भक्त परमात्मा को प्रियतम रूप में स्वीकार कर उनकी स्तुति करता है । जैसे–

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कंत ।
रीझयो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि–अनंत ।।

इस प्रकार भक्त के विविध–भावों की अपेक्षा स्तवनों में भेद किया जा सकता है ।

प्रस्तुत कृति–`आनन्दघन चौबीसी' पूज्यपाद योगिराज आनन्द घनजी की श्रेष्ठतम कृति है । योगिराज ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति स्वरूप चौबीस तीर्थंकरों के 24 स्तवन बनाए हैं । ये स्तवन अर्थ गाम्भीर्य और रहस्य से परिपूर्ण हैं । इन स्तवनों में योगिराज ने अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त किया है । उन्होंने इन स्तवनों के माध्यम से समस्त मोक्ष-मार्ग का अवतरण कर लिया है । वास्तव में, ये स्तवन

`गागर में सागर' तुल्य हैं । शब्द-देह से इनका कद छोटा होते हुए भी अर्थ–दृष्टि से ये अत्यन्त विराट् हैं ।

पूज्यपाद उपाध्यायजी म. ने योगिराज आनन्दघनजी म. की स्तुति करते हुए लिखा है–

आशय आनंदघनतणो, अति गंभीर उदार ।
बालक बांह्य पसारी ने, कहे उदधि विस्तार ।।

आनन्दघनजी के स्तवन अत्यन्त गंभीर हैं, उनकी गम्भीरता तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है । जिस प्रकार समुद्र दिखाने के बाद किसी बालक को समुद्र के विस्तार के बारे में पूछा जाय तो वह केवल हाथों को फैलाकर समुद्र के विस्तार को बता सकता है, समुद्र के वास्तविक विस्तार को बताने के लिए उसके पास अन्य कोई साधन नहीं है । उसी प्रकार आनन्दघनजी के स्तवनों की अर्थ–गंभीरता को पार पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।

इन चौबीस स्तवनों में उन्होंने आदि से अन्त तक मोक्षमार्ग का सुन्दर प्ररूपण किया है । वे प्रथम स्तवन में प्रीतियोग से प्रभु–स्तवना का प्रारम्भ करते हैं और क्रमशः धीरे-धीरे जिनेश्वर प्ररूपित मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं । इनमें आदिधार्मिक अवस्था से लेकर शैलेशीकरण तक की समस्त भूमिकाओं का सुन्दर निरूपण किया गया है ।

आत्मा मोक्षमार्ग में ज्यों–ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों त्यों उसके आत्मिक गुणों का किस प्रकार विकास होता है । विकास के पथ पर आगे बढ़ रही आत्मा में किस–किस प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रगट होती हैं, इत्यादि वर्णन इन स्तवनों में बहुत ही सुन्दर रीति से किया है ।

ये स्तवन योगिराज की अन्तरात्मा के उद्‌गार स्वरूप हैं, अतः भक्तात्मा ज्यों–ज्यों इन स्तवनों के गान में तल्लीन बनती जाती है, त्यों–त्यों उसे विशिष्ट आत्मानंद की अनुभूति होती जाती है ।

योगिराज आनंदघनजी महाराज

पूज्यपाद योगिराज आनन्दघनजी महाराज के जीवन-दर्शन की विशिष्ट सामग्री कहीं उपलब्ध नहीं होती है। अध्यात्मयोगी महापुरुषों का अधिकांश जीवन अध्यात्म की उपलब्धियों में ही व्यतीत होता है, उन्हें अपनी प्रसिद्धि की न तो कोई इच्छा
होती है और न ही इस संदर्भ में उनकी कोई प्रवृत्ति होती है। ख्याति, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के व्यामोह से मुक्त बने इन योगी महापुरुषों को एक मात्र अध्यात्म की ही चिन्ता होती है। दुनिया के मान-अपमानों से वे सर्वथा अलिप्त रहते हैं, **लोकैषणा का अजगर जो सब को निगल जाता है, उनसे वे कोसों दूर रहते हैं।**

परमात्म-भक्ति के स्तवनों में तथा अध्यात्म-पदों में तल्लीन बने योगिराज ने अपनी कृतियों में कहीं भी अपने जीवन की विशिष्ट घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया है, अतः उनकी जन्म-तिथि, जन्म-स्थल आदि के बारे में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, परंतु तत्कालीन अनेक महापुरुषों ने आनन्दघनजी की स्तुति की है, इसके आधार पर हम उनकी महान् आत्मा का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ किंवदन्तियाँ अतिप्रसिद्ध हैं। उनके आधार पर हम उनके बाह्य-अंतरंग विशिष्ट व्यक्तित्व के दर्शन कर सकते हैं।

संसार से विरक्त बने योगिराज ने प्रायः यौवन वय में तपागच्छीय मुनिराज के पास दीक्षा अंगीकार की थी। दीक्षा के बाद उनका नाम **'लाभानंदजी'** रखा गया जो बाद में **आनन्दघनजी** के नाम से प्रख्यात हुए।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे निर्मल चारित्रधर्म की आराधना करने लगे। संसार के विषय-सुखों से अत्यंत ही विरक्तचित्त वाले लाभानन्दजी अपना अधिकांश समय स्वाध्याय तथा साधुचर्या में ही व्यतीत करते थे।

स्वाध्याय की निरन्तर साधना के फलस्वरूप वे अल्पकाल में ही शास्त्र पारगामी हो गए । स्व-पर दर्शन का उन्होंने गहनतम अध्ययन किया । स्व-पर दर्शन के समस्त आगम शास्त्रों का अवगाहन कर उन्होंने इस बात का निश्चय कर लिया कि अध्यात्म के बिना आत्मा का उद्धार नहीं है ।

अध्यात्म अर्थात् आत्मस्वरूप में मग्न बन जाना । आत्मस्वरूप के चिंतन, मनन और ध्यान में जो आत्मा मग्न बन जाती है, उसे किसी प्रकार की सांसारिक आकांक्षा नहीं रहती है ।

ठीक ही कहा है :–

विषवल्लीसमां तृष्णां, वर्धमानां मनोवने ।
अध्यात्मशास्त्रदात्रेण, छिन्दन्ति परमर्षयः ।।

योगी अध्यात्मशास्त्र रूप दात्र से मन रूपी वन में उगी हुई और निरन्तर बढ़ने वाली तृष्णा रूपी विषलता का समूल उच्छेद कर देते हैं । अर्थात् जो आत्मा अध्यात्म में लीन रहती है, उस आत्मा में संसार-सुख को पाने की कोई लालसा नहीं होती है और कदाचित् हो जाय तो वे उसे अध्यात्म के बल से समूल उखाड़ देते हैं ।

जिनागमों के पारगामी योगिराज अपना अधिकांश समय आत्मस्वरूप के चिंतन, मनन और ध्यान में व्यतीत करने लगे । मान-सम्मान में वे सदैव अलिप्त रहते थे । उनका जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण था । लोक-प्रसिद्ध अनेक किंवदन्तियों के आधार पर हमें उनके जीवन की निःस्पृहता, त्यागप्रधानता आदि के दर्शन होते हैं ।

सेठ का अभिमान

एक बार आनन्दघनजी महाराज गुजरात प्रदेश में विचरण कर रहे थे । चातुर्मास का समय निकट आ गया और उन्होंने किसी एक गाँव में चातुर्मास के लिए स्थिरता की । पर्युषण के दिन आए । एक दिन वे **'कल्पसूत्र'** पर व्याख्यान देने हेतु बैठे । उस गाँव में ऐसा नियम बन गया था कि नगरसेठ के आने के बाद ही साधु महाराज अपना प्रवचन प्रारम्भ करते थे ।

व्याख्यान का समय हो चुका था, किन्तु अभी तक नगरसेठ नहीं आए थे, अन्य सभी लोग आ चुके थे। आनन्दघनजी महाराज प्रवचन प्रारम्भ करने लगे। तभी किसी ने आपसे निवेदन करते हुए कहा, `महाराजश्री ! कुछ समय के लिए आप ठहर जाइए, सेठजी आने वाले हैं, उसके बाद ही प्रवचन प्रारम्भ कीजिए।'

आनन्दघनजी कुछ समय के लिए रुक गए, परन्तु सेठजी नहीं आए। समय हो चुका था अतः आनन्दघनजी ने अधिक प्रतीक्षा न कर अपना प्रवचन प्रारम्भ कर दिया। इस बात के समाचार सेठजी को मिले। थोड़ी देर में सेठजी वहाँ उपस्थित हो गए।

सेठजी ने आनन्दघनजी को कहा–``महाराजश्री ! आपने आज जल्दी व्याख्यान प्रारम्भ क्यों किया ?''

आनन्दघनजी ने कहा–``समय हो चुका था।''

``महाराजश्री ! इस उपाश्रय का यह नियम है कि मेरे आने के बाद ही व्याख्यान प्रारम्भ होता है'' सेठजी का उत्तर था।

आनन्दघनजी ने सोचा–`अहो ! इस सेठ को कितना अभिमान है ! यह त्यागी महात्मा को भी अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। यह बिल्कुल उचित नहीं है। साधु का जीवन तो गुर्वाज्ञा और आगमानुसारी होना चाहिए, न कि किसी गृहस्थ की इच्छा के अनुरूप।

बस ! दूसरे ही दिन आनन्दघनजी ने वह उपाश्रय उस सेठ को सौंप दिया और कहा–`यह आपका उपाश्रय ! हम चलते हैं।' इतना कहकर वे बिना झिझक व भय के वहाँ से चल पड़े। उन्होंने अपने जीवन में किसी से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखी। साध्वाचार के अनुरूप इनका निरपेक्ष जीवन था अतः उन्हें गृहस्थ का कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

क्रूरता त्याग

योगिराज आनन्दघनजी को अध्यात्म, ध्यान और भावना में अत्यधिक रस था, अतः वे कई बार एकान्त गुफाओं में बैठकर परमात्मा के ध्यान में तथा आत्म-स्वरूप के चिंतन में तन्मय बन जाते थे। सर्व

जीवों के प्रति उनके हृदय में अपार करुणा और मैत्री थी, इसी कारण जब वे किसी गुफा में आत्मध्यान में लीन बनते, तब आस-पास के हिंसक और क्रूर प्राणी भी उनके सान्निध्य में आकर बैठ जाते और उन प्राणियों के जीवन में रही हुई क्रूर-वृत्ति भी दूर हो जाती थी ।

स्वर्ण-सिद्धि से क्या फायदा ?

• योगिराज आनन्दघनजी का अन्य अनेक योगियों से भी संबंध था । एक बार किसी योगी ने सुवर्ण रस की सिद्धि प्राप्त की और उसने एक शीशी (Bottle) में सुवर्णसिद्ध रस भरकर आनन्दघनजी को भेंट स्वरूप भेजी ।

परन्तु भौतिक समृद्धि में सर्वथा अलिप्त आनन्दघनजी पर क्या प्रभाव पड़ता ? उनके लिए सुवर्णसिद्धि का कोई मूल्य नहीं था । तत्काल ही उन्होंने सुवर्णसिद्ध-रस से भरी हुई उस शीशी को पास में रखी शिला पर गिरा दिया, सारा रस बह गया ।

आनन्दघनजी की इस क्रिया से आगन्तुक को बड़ा दुःख हुआ । उसने कहा, `योगिराज ! हमारे स्वामी ने दीर्घ साधना कर यह सिद्धि प्राप्त की है और आपने यह कीमती रस इस प्रकार फैला दिया ! क्या आप इस रस की कीमत नहीं समझते हैं ?'

आनन्दघनजी ने कहा-`अरे ! यह भी कोई बड़ी सिद्धि है ? इस सिद्धि के लिए इतना श्रम ! प्रयत्न और पुरुषार्थ तो आत्मसिद्धि के लिए होना चाहिए, ऐसी भौतिक सिद्धियों से क्या फायदा है ?'

आगन्तुक ने कहा – ``क्या इस सिद्धि को आप कम समझते हैं ?''

आनन्दघनजी ने सोचा ``अब इसके साथ ज्यादा चर्चा करने में विशेष फायदा नहीं है, अतः इसे प्रत्यक्ष अनुभूति करा देनी चाहिए ।'' यह सोच कर वे अपने स्थान से उठे और पास ही पड़ी पत्थर की एक शिला पर पेशाब कर आए । उनके आगमन के बाद आगन्तुक ने ज्यों ही उस शिला की ओर देखा, उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा । जिस शिला पर योगिराज ने पेशाब किया था वह शिला स्वर्णशिला में रूपान्तरित हो चुकी थी ।

आगन्तुक शर्मिंदा हो गया और सोचने लगा **``जिनके पेशाब में भी स्वर्णसिद्धि रही हुई है, ऐसे योगिराज को रससिद्धि से क्या मतलब ?** जिन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की इच्छा ही नहीं है ऐसे अध्यात्म-योगियों के लिए सुवर्ण रस की क्या कीमत हो सकती है ?

चमत्कार

• एक बार जोधपुर के महाराजा आनन्दघनजी के दर्शनार्थ आए । उस समय आनन्दघनजी कुछ ज्वरग्रस्त थे । उन्होंने सोचा, `रुग्णावस्था में राजा को बोध देने में कुछ असुविधा होगी ।' उन्होंने ज्वर को अपने कपड़े में उतार दिया और उस कपड़े को अपने पास रख दिया ।

आनन्दघनजी ने प्रभावपूर्ण शैली में महाराजा को धर्मोपदेश दिया । योगिराज की वाणी से महाराजा अत्यन्त प्रभावित हुए । विदाई के पूर्व महाराजा ने योगिराज के पास में पड़े हुए कपड़े में कम्पन देखकर पूछा, `यह कपड़ा क्यों काँप रहा है ?'

``मैंने अपना बुखार इसमें उतार दिया था, आपके साथ स्वस्थता से बात करने के लिए ।'' इतना कह कर योगिराज ने वह कपड़ा वापस ओढ़ लिया, वे पुनः ज्वरग्रस्त हो गए । यह प्रभाव देख राजा खूब प्रभावित हुआ । योगिराज निजी स्वार्थ के लिए अपनी सिद्धियों का कभी उपयोग नहीं करते थे ।

निःस्पृहता मूर्ति

• एक बार जोधपुर के महाराजा और महारानी के बीच कुछ अनबन हो गई । महाराजा महारानी से अप्रसन्न थे । कुछ दिनों तक यह सिलसिला जारी रहा । विहार करते हुए योगिराज का जोधपुर के बाह्य क्षेत्र में आगमन हुआ । महारानी को इस बात का पता चला तो उसने सोचा ``योगिराज आनन्दघनजी सिद्धपुरुष हैं, अतः यदि मैं उनके पास जाऊँ तो वे मुझे महाराजा को प्रसन्न करने का मंत्र दे देंगे'' । महारानी अपने परिवार के साथ आनन्दघनजी के दर्शनार्थ चली आई ।

महारानी ने आनन्दघनजी के दर्शन किए और उनसे अपने दिल की व्यथा व्यक्त की । उसने प्रार्थना की, `आप मुझे कोई ऐसा मंत्र दें जिससे महाराजा मुझ पर प्रसन्न हो जायें ।' आनन्दघनजी ने एक कागज लिया और उस पर कुछ लिखकर, वह कागज महारानी को दे दिया ।

महारानी ने कागज उठाया और वह महल की ओर चल पड़ी । उसने उस कागज को मंत्रित समझकर एक ताबीज में बन्द कर दिया और उस ताबीज को हाथ में बाँध लिया । बस ! महारानी के आश्चर्य का पार न रहा । थोड़ी देर बाद महाराजा का महारानी पर अत्यधिक प्रेम हो गया । महारानी की अप्रसन्नता सर्वथा दूर हो गई ।

कुछ समय बाद अन्य ईर्ष्यालु रानियों ने राजा को कहा–``योगिराज ने महारानी को मंत्र दिया है, इस प्रकार महारानी ने आपको वश में करने का प्रयास किया है ।'' महाराजा ने इस बात की छान-बीन की और महारानी का ताबीज खुलवाया । ताबीज को खोलने पर उसमें से एक कागज निकला । उसे पढ़ने पर महाराजा के आश्चर्य का पार न रहा । उसमें लिखा था :–

`राजा रानी दोनों मिलें, इसमें आनन्दघन को क्या ?'

यह पढ़कर महाराजा को आनन्दघनजी की निराशंस-वृत्ति का ख्याल आ गया । योगियों का जीवन अद्भुत होता है, उन्हें सांसारिक रिश्तों से क्या मतलब ? वे तो अपने स्वरूप में लीन रहते हैं ।

सच्चा प्रियतम

एक बार आनन्दघनजी म. विहार करते हुए मेड़ता की ओर जा रहे थे । उसी समय नगर के किसी श्रेष्ठि-पुत्र की मृत्यु हो गई थी, श्रेष्ठि-पुत्र के मृत-देह को श्मशान घाट की ओर ले जाया जा रहा था । उस श्मशान यात्रा में एक स्त्री भी थी, जो उस मृत श्रेष्ठि-पुत्र की पत्नी थी । वह अपने पति की मृत्यु के कारण जौहर करना चाहती थी, अर्थात् अपने पति के शव को गोद में लेकर उस चिता में अपने जीवन को समाप्त करना चाहती थी ।

लोगों ने उस पुत्र-वधू को मरने से रोकने के लिए समझाने की बहुत कोशिश की, परन्तु वह स्त्री अपनी जिद पर अडिग थी। किसी व्यक्ति ने आनन्दघनजी को दूर से आते हुए देखा, वह दौड़कर आनन्दघन जी के पास पहुँचा। उसने सती होने वाली उस स्त्री को समझाने के लिए निवेदन किया।

आनन्दघनजी निकट आ गए। उस स्त्री को समझाया तो उस स्त्री ने चिता में जलकर मरने का विचार छोड़ दिया। आनन्दघनजी म. ने आत्मा के सच्चे प्रियतम (परमात्मा) की पहचान कराई। उसकी सादि-अनन्त प्रीति को दर्शाने के लिए आदीश्वर प्रभु के स्तवन की रचना की:

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि-अनन्त ।।

ज्ञान सुधारस पीजे

एक बार आनन्दघनजी म. मारवाड़ के किसी प्रदेश में विचर रहे थे। वे किसी नगर के बाहर ठहरे। उन्होंने अट्ठम का तप किया। तप की पूर्णाहुति के बाद वे गोचरी के लिए निकले। किन्तु अपनी मतिकल्पना से लोगों ने उन्हें व्यवहार-मार्ग से भ्रष्ट समझकर आहार-पानी नहीं बहोराया। आहार में अनासक्त योगिराज को इस बात की कोई परवाह नहीं थी कि आज किसी ने उन्हें गोचरी नहीं बहोराई।

'आहार मिले तो संयमवृद्धि और न मिले तो तपोवृद्धि' के सिद्धान्त पर अडिग आनन्दघनजी को किसी प्रकार का रोष नहीं हुआ और वे अपने स्थान पर आकर अपनी आत्मा को उपदेश देते हुए गा उठे :–

आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञान सुधारस पीजे।
भटके द्वार-द्वार लोकन के, कूकर आशाधारी।
आतम अनुभव रस के रसिया, उतरे न कबहुँ खुमारी ।।आशा।।

निःस्पृहता

योगिराज विहार करते हुए किसी गाँव में पधारे। उनके अध्यात्ममय जीवन का लोगों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। किन्तु उन्हें एकाकी जानकर

किसी श्रावक ने उनसे कहा–आप महान् हो, अतः आपका नाम जग में अमर रहे, इस हेतु आप कोई शिष्य बना लो तो अच्छा रहेगा, ताकि वह शिष्य आपके नाम की परम्परा को आगे बढ़ा सकेगा ।

अपने नाम के प्रति निर्मम आनन्दघनजी उसी समय गा उठे :–

अवधू, नाम हमारा राखे, सो परम महारस चाखे ।
नहीं हम पुरुषा नहीं हम नारी, करन न भात हमारी ।
जाति न पांति न साधन साधक, नहीं हम लघु नहीं भारी ।।अवधू।।

• अध्यात्म साधना में निमग्न योगिराज आनन्दघनजी को किसी भी प्रकार का भय नहीं था । जिनशासन की आराधना और अध्यात्म की साधना के फलस्वरूप उन्हें आत्मा की अमरता का साक्षात् अनुभव था, तभी तो एक बार वे गा उठे :–

अब हम अमर भये न मरेंगे, या कारण मिथ्यात्व दियो तज ।
क्यूँ कर देह धरेंगे ।अब।।

चमत्कार

• एक बार आनन्दघनजी म, बीकानेर की ओर विहार कर रहे थे । वहाँ विचर रहे कुछ साधुओं ने आनन्दघनजी से निवेदन किया, ``दिल्ली के बादशाह का पुत्र–शाहजादा साधुओं को परेशान करता है, अतः आप उन्हें कुछ चमत्कार दिखायें ।'' इस बात से आनन्दघनजी को दुःख हुआ, उन्होंने शाहजादा को चमत्कार दिखाने का निर्णय लिया ।

आनन्दघनजी शाहजादे के निवास-स्थल के आसपास घूमने लगे । थोड़ी देर बाद घोड़े पर सवार होकर शाहजादा आया और आनन्दघनजी को देखकर उनकी मजाक करने लगा ।

उसी समय आनन्दघनजी **``बादशाह का बेटा ! खड़े रहो ।''** इतना कह कर आगे बढ़ गए । इधर आनन्दघनजी के इस कथन के साथ ही वह घोड़ा स्थिर हो गया । घोड़े को स्थिर देखकर शाहजादे को अत्यंत आश्चर्य हुआ । घोड़े को चलाने के लिए उसने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु घोड़ा वहां से एक कदम भी नहीं चला ।

शाहजादे के साथियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि आखिर बात क्या है ? घोड़ा क्यों नहीं चल पा रहा है ? क्या किसी ने कोई मंत्र प्रयोग किया है ?

शाहजादे ने कहा-``और तो मुझे कुछ पता नहीं है, एक जैनसाधु की मजाक करने पर उसने कहा–``बादशाह के बेटे खड़े रहो ।''

मित्रों ने सोचा, `शायद इसी कारण घोड़ा नहीं चल रहा है । सभी मित्र बादशाह से मिले और बादशाह ने आनन्दघनजी की शोध करवाई, आखिर आनन्दघनजी का पता चला, तब बादशाह स्वयं उनके पास आए ।

बादशाह के नमस्कार करने पर योगिराज ने कहा–``बादशाह का बेटा साधुओं को सताता है, उनकी मजाक करता है, अतः उसे भी चमत्कार मिलना चाहिए ।''

बादशाह ने वचन दिया कि अब कभी भी वह साधुओं की मजाक नहीं करेगा ।

तब आनन्दघनजी ने कहा–``बादशाह का बेटा चलेगा ।''

बस ! इन शब्दों के कहने के साथ ही शाहजादे का घोड़ा चलने लग गया ।

पूज्य उपाध्यायजी म. द्वारा स्तुति–

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के जैन इतिहास में हम पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. के नाम को कभी भूल नहीं सकते हैं । अपने बाह्य और अभ्यंतर व्यक्तित्व के द्वारा उन्होंने जिनशासन की जो सेवा-प्रभावना की है, उसे कभी नहीं भूला जा सकता ।

पूज्य योगिराज भी उसी काल में हुए थे । योगिराज की अध्यात्मसाधना से पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. अत्यन्त प्रभावित हुए थे, उन्होंने आनन्दघनजी की स्तुति स्वरूप आठ पदों की रचना की थी–

(राग : कानडो)

1) मारग चलत चलत गात, आनन्दघन प्यारे । रहत आनन्द भरपूर ।
ताको सरूप भूप त्रिहुँ लोक थे न्यारो, बरखत मुख पर नूर ।।1।।
सुमति सखी के संग, नित नित दौरत, कबहुँ न होत ही दूर ।
'जसविजय' कहे सुनो आनन्दघन, हम तुम मिले हजूर ।।2।।

2) आनन्दघन की आनन्द सुजसही गावत, रहत आनन्द सुमता संग ।
सुमति सखी ओर न बल आनन्दघन, मिल रहे गंगतरंग ।।1।।
मन मंजन करके निर्मल कियो है चित्त, तापर लगायो है अविहड रंग ।
'जसविजय' कहे सुनतही देखा, सुख पायो बोत अभंग ।।2।।

3) आनंद कोउ नहीं पावे, जोइ पावे सोइ आनंदघन ध्यावे,
आनंद कौन रूप कौन आनंदघन। आनंद गुण कौन लखावे ।।1।।
सहज संतोष आनंदगुण प्रगटत, सब दुविधा मिट जावे ।
'जस' कहे सोही आनंदघन पावत, अंतर ज्योत जगावे ।।2।।

4) आनंद ठौर-ठौर नहीं पाया, आनंद आनंद में समाया ।
रति-अरति दोउ संग लीय वरजित, अरथ ने हाथ तपाया ।।3।।
कोउ आनंदघन छिद्र ही पेखत, जस राय संग चडी आया ।
आनन्दघन आनन्दरस जीलत, देखत ही **'जस'** गुण गाया ।।4।।

5) आनन्द कोउ हम देखलावो, कहाँ ढूँढत तू मूरख पंछी ।
आनन्द हाट न बेकावो ।।1।।
एसी दसा आनन्द सम प्रगटत, ता सुख अलख लखावो ।
जोइ पावे सोइ कछु न कहावत, **सुजस** गावत ताको वधावो ।।2।।

6) आनन्द की गत आनंदघन जाणे, वाइ सुख सहज अचल अलख पद,
वा सुख सुजस बखाने ।।1।।
सुजस विलास जब प्रगटे आनन्दरस, आनंद अक्षय खजाने ।
एसी दसा जब प्रगटे चित्त अंतर, सो हि आनंदघन पिछाने ।।2।।

7) परी आज आनंद भयो मेरे, तेरो मुख निरख निरख ।
रोम रोम सीतल भयो अंग अंग, शुध समजण समतारस झीलत ।
आनंदघन भयो अंतरंग ।।1।।

एसी आनंद दसा प्रगटी चित्त अंतर, ताको प्रभाव चलत निर्मल गंग ।
वाही गंग समता दोउ मिल रहे, `जसविजय' सीतलता के संग ।।2।।

8) आनन्दघन के संग सुजस ही मिले जब, तब आनन्द सम भयो सुजस ।
पारस संग लोहा जो परसत, कंचन होत ही ताके कस ।।1।।

खीर-नीर जो मिल रहे आनंद, जस सुमति सखी के संग भयो है एक रस ।
भव खपाइ, सुजस विलास भये, सिद्ध-स्वरूप लिये घसमस ।।2।।

प्रस्तुत गुण-स्तवना से हमें आनन्दघनजी के अन्तरङ्ग विराट् व्यक्तित्व के दर्शन हो सकते है । वे अत्यन्त ही निस्पृह और निर्मम थे । स्व-पर-दर्शन, व्यवहार-निश्चयनय के वे पूर्ण ज्ञाता थे ।

उस काल में यतियों का भी कुछ जोर था । संवेगी साधुओं की संख्या बहुत अल्प थी । गच्छ के भेद-प्रभेद में पड़कर कई साधु राग द्वेष के शिकंजे में जकड़े हुए थे । तत्कालीन विषम परिस्थितियों का योगिराज ने खण्डन किया था ।

एक स्तवन में उन्होंने लिखा है–

गच्छना भेद बहु नयन निहालता, तत्त्वनी वात करता न लाजे ।
उदर भरणादि निज काज करता थका, मोह नडिया कलिकाल राजे ।

मात्र बाह्य आडम्बर के जाल में फँसे लिंगधारी साधुओं पर प्रहार करते हुए उन्होंने लिखा है–

`आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे ।

योगिराज ने अपने इन स्तवनों के अन्तर्गत व्यवहार मार्ग और निश्चय मार्ग उभय की पुष्टि की है और वास्तव में दोनों मिलकर जैनदर्शन बनता है । सापेक्ष दृष्टि से दोनों की साधना ही मोक्ष का अंग बनती है । पूज्य आनन्दघनजी म. ने इन स्तवनों के अन्तर्गत जैनदर्शन के विविध अंगों पर सुन्दर प्रकाश डाला है ।

प्रस्तुत विवेचना

पाठकों के कर-कमलों में जो यह आनन्दघन चौबीसी विवेचना प्रस्तुत है, इसके संकलन में मैं तो निमित्त मात्र हूँ। परमाराध्यपाद सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की अमीदृष्टि तथा पूज्यपाद अध्यात्मयोगी निस्पृह-शिरोमणि वात्सल्यवारिधि गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री की अदृश्य कृपावृष्टि ही इस विवेचना को साकार रूप दे सकी है। इसके साथ ही वात्सल्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा. के शुभाशीर्वाद और प.पू. धर्मप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय मित्रानंदसूरीश्वरजी म.सा. की सतत प्रेरणा को मैं नहीं भूल सकता हूँ।

लगभग तीन वर्ष पूर्व प.पू. वर्धमान तप के अजोड़ तपस्वी आचार्यदेव श्रीमद् विजय राजतिलकसूरीश्वरजी म.सा. के साथ मेरा चातुर्मास संवत् 2038 में बाली (राज.) में था।

पर्युषणा के बाद प.पू. शासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय मित्रानन्दसूरीश्वजी म.सा. का पत्र आया, उसमें उन्होंने लिखा–``हिन्दी में आनन्दघन चौबीसी पर न अति संक्षिप्त–न अति विस्तृत विवेचन तैयार करना है और यह कार्य तुम्हें ही शीघ्र करना है।''

पत्र पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ–`कहाँ आनन्दघनजी के अत्यन्त गूढ़ार्थ भरपूर स्तवन और कहाँ मेरी अल्प बुद्धि !' प्रथम तो मुझे झिझक सी हुई...फिर मैंने सोचा **``आचार्यदेव श्री की प्रेरणा है,** आदेश है तो मुझे संकोच की क्या आवश्यकता है ?''

मैंने सर्वप्रथम पहले स्तवन पर विवेचन तैयार किया और पू. आचार्यदेवश्री को भेजा। मैंने सोचा यदि आचार्यदेश्री को विवेचन संतोष पूर्ण लगेगा तो कार्य आगे चालू रखूँगा, अन्यथा स्थगित कर दूंगा। कुछ ही दिनों बाद पूज्य आचार्यदेवश्री का प्रेरणादायी पत्र मिला और उन्होंने मुझे आगे सभी स्तवनों की हिन्दी विवेचन के लिए प्रोत्साहित किया।

इधर श्रमणोपासक तत्त्वपिपासु जवाहरचंदजी पटनी ने भी मुझे इस कार्य में पूर्ण योग दिया। उन्होंने विवेचन के लिए आवश्यक साहित्य सामग्री मुझे प्रदान की।

बस ! उसके बाद मैंने अपना प्रयत्न जारी रखा और एक मास से भी कम समय में सभी स्तवनों की विवेचना तैयार कर सब लिखित सामग्री पूज्य आचार्यदेव श्रीको भेज दी।

शासन-प्रभावना के विविध कार्यों में सतत व्यस्त होते हुए भी समय निकाल कर उन्होंने इस विवेचना का सांगोपांग निरीक्षण-परीक्षण किया और विवेचन में रही क्षतियों को दूर किया, इस श्रमसाध्य योगदान के लिए मैं उनका हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ। जो कुछ शुभ है, वह सब इन्हीं महापुरुषों का है और जहाँ कहीं क्षति है, वहाँ मेरी अल्पज्ञता का प्रदर्शन है।

प्रस्तुत विवेचन में हिन्दी-गुजराती-संस्कृत आदि विविध पुस्तकों का सहयोग लिया गया है, उनके रचनाकारों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। अन्त में मतिमन्दता के कारण प्रस्तुत विवेचन में कहीं भी जिनाज्ञा से विपरीत लिखने में आया हो तो उसके लिए हार्दिक क्षमा चाहता हूँ।

वडालियासिंहण
जामनगर (सौराष्ट्र)
तिथि-वै.सु.14, 2041
(पूज्यपाद गुरुदेवश्री की
5वीं स्वर्गारोहण तिथि)
दिनांक 3-5-1985

पं.पू. अध्यात्मयोगी पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री
का शिष्याणु
मुनि रत्नसेनविजय

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
1.	ऋषभनाथ-स्तवन	32
2.	अजितनाथ-स्तवन	44
3.	सम्भवनाथ-स्तवन	53
4.	अभिनन्दन जिन-स्तवन	65
5.	सुमतिनाथ-स्तवन	74
6.	पद्मप्रभु जिन-स्तवन	84
7.	श्री सुपार्श्व जिन-स्तवन	96
8.	चन्द्रप्रभ जिन-स्तवन	107
9.	सुविधिनाथ जिन-स्तवन	118
10.	शीतलनाथ जिन-स्तवन	130
11.	श्रेयांसनाथ जिन-स्तवन	141
12.	वासुपूज्य जिन-स्तवन	150
13.	विमल जिन-स्तवन	159
14.	अनन्तनाथ जिन-स्तवन	170
15.	धर्मनाथ जिन-स्तवन	183
16.	शान्तिनाथ जिन-स्तवन	196
17.	कुन्थुनाथ जिन-स्तवन	215
18.	अरनाथ जिन-स्तवन	228
19.	मल्लिनाथ जिन-स्तवन	239
20.	श्री मुनिसुव्रत जिन-स्तवन	252
21.	नमिनाथा जिन-स्तवन	265
22.	नेमिनाथ जिन-स्तवन	280
23.	श्री पार्श्वनाथ जिन-स्तवन	298
24.	महावीर जिन-स्तवन	310

प्रथम स्तवन

पूर्व भूमिका

आनन्द के समुदाय रूप योगिराज आनन्दघनजी म. के स्तवनों में गजब का चमत्कार है। उनकी यह रचना अत्यन्त भावपूर्ण और गंभीर अर्थों से भरी हुई है।

प्रभु स्तवना के साथ–साथ उन्होंने इन स्तवनों में जैन-दर्शन के गहनतम तत्त्वों का अवतरण किया है। उनकी इन कृतियों को देखकर बड़े–बड़े दिग्गज विद्वान् भी विस्मयविमुग्ध हो जाते हैं।

श्री आनन्दघनजी अनूठे योगी थे। उन्होंने चौबीस जिनेश्वरों के चौबीस स्तवनों के साथ अनेक बोधपूर्ण पदों की भी रचना की है।

प्रस्तुत है उनकी कृति का पहला स्तवन–

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे।

इस स्तवन की रचना के सन्दर्भ में एक किंवदन्ती प्रचलित है जो इस प्रकार है–

एक बार आनन्दघनजी विहार करते हुए मेड़ता की ओर जा रहे थे। वे मेड़ता पहुँचे। नगर के बाहर उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति की मृत्यु हो गई है और लोग उसके शव को श्मशान भूमि पर ले जा रहे हैं। इसके साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि एक स्त्री भी उस शवयात्रा में शामिल है। उसी के पति की मृत्यु हुई है और आगामी जन्म में पति से पुनः मिलन के लिए वह भी (अपने पति के देह को गोद में बिठाकर) चिता में जलकर भस्म होना चाहती है।

अन्य लोगों को यह पसन्द नहीं था। उन्होंने उस स्त्री को बहुत समझाया, परन्तु उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी। अन्त में

योगिराज आनन्दघनजी म. को सामने आते हुए देखकर लोगों ने सारी बात योगीजी को कही ।

योगीजी ने उसकी बात ध्यानपूर्वक सुनी । फिर उस स्त्री को बोध देते हुए उन्होंने कहा कि–हे कन्ये ! तू प्रीति के लिए यह आत्मबलिदान करना चाहती है, परन्तु यह शक्य नहीं है कि भवान्तर में तुझे यही पति मिले । पति तो कभी का मर चुका है और वह अपने कर्मानुसार कहीं पैदा भी हो चुका होगा । यह भी निश्चित नहीं है कि आगामी भव में उससे तुम्हारा संयोग होगा ही । यदि तू सच्ची और शाश्वत प्रीति चाहती है, तो वीतराग ऋषभदेव से प्रेम कर, जिसकी प्रीति सादि-अनंत होगी और तू सदा आनंद में रह सकेगी ।

योगिराज आनन्दघनजी म. की वाणी ने उस स्त्री पर जादूई असर किया । उसने अपने प्राणत्याग का विचार छोड़ दिया ।

सच्ची प्रीति के स्वरूप को बतलाते हुए आनंदघनजी म. गा उठे–

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे....।

बस ! फिर तो वह स्त्री भी परमात्मा की भक्त बन गई और उसने आत्मकल्याण किया ।

यह है इस स्तवन की रचना का अन्तरङ्ग हार्द ।

इस स्तवन का राग `मारु' है । यह राग आत्मा के अन्तरङ्ग तेज को प्रदीप्त करने वाली है ।

अच्छा ! तो आइए चलें, हम भी मधुर कण्ठ से गाए । इस स्तवन का ध्यानपूर्वक श्रवण करें, फिर इसके गंभीर अर्थों के अथाह सागर में डूब जायें । इससे हमें प्राप्त होगी-अपूर्व शांति । इससे हमें प्राप्त होगी–चित्त की प्रसन्नता । तो लीजिए ! हम सब भी डूब जाते हैं भक्ति रस के सागर में...

1 ऋषभनाथ स्तवन

(राग : मारु)

ऋषभ–जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कन्त ।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनन्त ।।
।। ऋषभ०...1।।

प्रीत-सगाई रे जग मां सहु करे रे, प्रीत–सगाई न कोय ।
प्रीत-सगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ।।
।। ऋषभ०...2।।

कोई कंत कारण काष्ठ-भक्षण करे रे, मिलशुं कंत ने धाय ।
ए मेळो नवि कदिय संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय ।।
।। ऋषभ०...3।।

कोई पति-रंजन अति-घणुं तप करे रे, पतिरंजन तनताप ।
ए पति-रंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु–मिलाप ।।
।। ऋषभ०...4।।

कोई कहे लीला रे अलख अलखतणी रे, लख पूरे मन आस ।
दोषरहित ने लीला नवि घटे रे, लीला दोष–विलास ।।
।। ऋषभ०...5।।

चित्तप्रसन्ने रे पूजन-फल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह ।
कपट–रहित थई आतम अरपणा रे, आनन्दघन-पद-रेह ।।
।। ऋषभ०...6।।

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूं रे कंत ।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ऋषभ=प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव । **जिनेश्वर=**राग-द्वेष विजेता ऐसे `जिन' के स्वामी । **प्रीतम=**पति । **माहरो=**मेरा । **और=**दूसरा । **न चाहूं=**मैं चाहता नहीं हूं । **कन्त=**पति । **रीझ्यो=**प्रसन्न हुए । **साहेब=** भगवान । **संग=**साथ (संगति) । **न परिहरे=**नहीं छोड़ेंगे । **भांगे=**भंग से । **सादि=**जिसका प्रारम्भ है । **अनन्त=**जिसका अन्त नहीं है ।

सामान्य अर्थ

शुद्ध चेतना अपनी सहेली श्रद्धा को कहती है कि–श्री ऋषभदेव भगवान् मेरे प्रिय पति हैं, इसलिये अब मैं अन्य किसी को भी अपना पति नहीं बनाना चाहती हूँ । मुझ पर प्रसन्न हुए मेरे स्वामी मेरा साथ कभी छोड़ने वाले नहीं हैं, उनके सम्बन्ध की आदि तो हुई है किन्तु अन्त नहीं होने वाला है, अर्थात् हमारी प्रीति अनन्त काल तक स्थायी रहेगी ।

विवेचन

इस अनादि अनन्त संसार में अपनी आत्मा मोह–अज्ञानता तथा राग-द्वेष के वश होकर अनन्त काल से भटक रही है । जब तक आत्मा का चरम पुद्गल परावर्त में प्रवेश नहीं होता है, तब तक आत्मा में न तो मोक्ष–रुचि प्रगट होती है और न ही संसार के प्रति अरुचि ।

अचरमावर्त काल यह आत्मा की अत्यन्त मोहाधीन अवस्था है, जिसमें जीव को सांसारिक सुखों के प्रति तीव्र आसक्ति होती है । भवाभिनन्दी आत्मा के जो आठ दोष–**'योगदृष्टि समुच्चय'** में बतलाये गये हैं उन (1) क्षुद्रता (2) लोभ में तीव्र आसक्ति (3) दीनता (4) अत्यन्त ईर्ष्या (5) अत्यन्त भय (6) माया (7) अज्ञानता । (8) निष्फलारम्भिता, दोषों से यह आत्मा व्याप्त होती है ।

चरमावर्त में प्रवेश हो जाने के बाद जीव में धीरे धीरे कुछ `मित्रा' आदि दृष्टि की योग्यता प्रगट होती है ।

मोक्ष–मार्ग की साधना के जो चार अनुष्ठान–(1) प्रीति (2) भक्ति (3) वचन और (4) असंग बतलाये गये हैं, उनकी प्राप्ति का यथावस्थित क्रम है। ये चारों अनुष्ठान एक साथ प्राप्त नहीं हो जाते हैं। गुणस्थानक के विकास-क्रम की भाँति ही इन अनुष्ठानों का भी क्रमिक विकास होता है।

भव्यत्व का परिपाक होने पर चरमावर्ती जीव को कुछ धर्म रुचि प्रगट होती है और वही धर्म–रुचि जब प्रीति–अनुष्ठान का रूप लेती है, तब आत्मा में परमात्म–तत्त्व के प्रति तीव्र प्रेम प्रगट होता है। चरमावर्ती जीव को **शुक्लपाक्षिक जीव** भी कह सकते हैं। क्योंकि शुक्ल पक्ष के दूज के चाँद की भाँति ही चरमावर्ती जीव का क्रमिक आत्म विकास होता है।

धीरे–धीरे आत्मा में जब सम्यग् बोध का प्रकाश प्रकट होता है तब जीवात्मा को संसार के स्वरूप का सत्य बोध होता जाता है और इस सत्य बोध से उसे संसार के सम्बन्ध क्षणिक और नाशवन्त लगते हैं। बस ! इस संवेदन के साथ ही जीवात्मा अब ऐसा सम्बन्ध चाहती है जो कभी नष्ट न हो। इस सम्बन्ध की वह खोज करती है।

इस शोध में जब जीवात्मा को आत्मा के सनातन स्वरूप का भान हो जाता है, तब वह उसी शुद्धात्म–स्वरूप से प्रीति करना चाहती है।

भक्तियोग के परम उपासक श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज जीवात्मा की प्राथमिक भूमिका में अवश्य करणीय परमात्म–भक्ति के आदर्श को तथा प्रीति–अनुष्ठान के आदर्श को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे...।'**

इस अवसर्पिणी काल में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव परमात्मा हुए हैं अतः उनकी आत्मा के साथ अपनी आत्मा के सम्बन्ध को जोड़ते हुए आनन्दघनजी म. की शुद्ध चेतना कहती है कि 'अब तो मैंने ऋषभ–जिनेश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया है, अब मुझे अन्य पति करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अब हमारा संग सादि–अनन्त काल तक ऐसा ही बना रहेगा।'

ऋषभदेव कहो अथवा आत्मा का शुद्ध स्वरूप कहो, एक ही बात है। शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति यही प्रियतम की प्राप्ति है। अपनी चेतना शुद्ध तभी बन सकती है, जब वह शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त ऐसे परमात्मा

के साथ प्रीति करे । इसी व्यवहार नय को मुख्य करके यहाँ परमात्मा के साथ प्रीति के सम्बन्ध को जोड़ने की बात कही है ।

शुद्ध निश्चय नय से तो आत्मा ही आत्मा के माध्यम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है । निश्चय को लक्ष्य में रखकर व्यवहार का पालन करना-यह मुक्ति-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय होने से यहाँ आनन्दघनजी म. सर्वप्रथम प्रीति अनुष्ठान की बात कर परमात्मा के साथ में अपनी आत्मा के सम्बन्ध को जोड़ते हुए कहते हैं कि अब तो मैं ऋषभ (अरिहन्त) की ही शरण को स्वीकार करूंगा—अन्य किसी की नहीं । क्योंकि उन्हीं की प्रीति सादि—अनन्त हो सकती है, अन्य की नहीं ।

इस प्रकार इस गाथा में शुद्ध चैतन्यमय ऐसे ऋषभदेव (परमात्मा) के साथ प्रीति जोड़ने का सचोट मार्गदर्शन किया गया है ।

ऐसी परमात्म-प्रीति को पाने का जिसने प्रयास किया है उसे परमानन्द की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती है ।

प्रीत सगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीत—सगाई न कोय ।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

प्रीत सगाई=मित्रता का सम्बन्ध । **जगमां=**जगत् में । **सहु=**सभी । **करे रे=**करते हैं । **न कोय=**नहीं जाने । **निरुपाधिक=**उपाधि रहित । **कही रे=**कहा गया है । **सोपाधिक=**उपाधि सहित । **धन=**आत्मसमृद्धि । **खोय=**खोता है ।

सामान्य अर्थ

दुनिया में प्रेम-सम्बन्ध तो सभी करते हैं परन्तु वास्तव में वह प्रेम सम्बन्ध नहीं है । प्रेम-सम्बन्ध तो निरुपाधिक (उपाधि रहित) होना चाहिये । उपाधि—सहित प्रेम में तो सब कुछ खोने का ही है ।

विवेचन

यदि कोई उपर्युक्त बात सुनकर योगिराज आनन्दघनजी म. से प्रश्न करे कि `परमात्मा से प्रीति करते हो, तो इसमें क्या बड़ी बात की ?

प्रीति तो दुनिया में सभी करते हैं, इसका उत्तर वे इस गाथा में दे रहे हैं।

दुनिया में सच्चे सम्बन्ध या सच्ची प्रीति है ही नहीं। दुनिया में जितने भी सम्बन्ध होते हैं, वे स्वार्थजन्य होते हैं।

दुनिया प्रेम करती है धन से।

दुनिया प्रेम करती है पद से।

दुनिया प्रेम करती है प्रतिष्ठा से।

यदि आपके पास में धन है, पद है, प्रतिष्ठा है तो दुनिया आपको मान देगी, सम्मान देगी और सब कुछ देगी, परन्तु यदि आपके पास धन, पद और प्रतिष्ठा नहीं है, तो आपकी ओर कोई देखेगा भी नहीं। लोगों की दृष्टि में आपका मूल्य गिर जायेगा–आप नगण्य हो जायेंगे।

स्वार्थ के खातिर प्रेम करने वाली यह दुनिया स्वार्थ–सिद्धि के बाद धिक्कार देती है। अतः दुनिया स्वार्थी होने से उसकी प्रीति वास्तविक नहीं हो सकती है।

आपसे दुनिया तभी तक प्रेम करेगी, जब तक आपसे उसकी कोई स्वार्थ सिद्धि होती हो वृक्ष को तभी तक पानी पिलाते है, जब तक वह फल देता है। गाय को घास तभी तक देते हैं, जब तक वह दूध देती है।

स्वार्थ के विसर्जन के साथ ही संसारियों की प्रीति भी टूट जाने वाली है।

ऐसी स्वार्थजन्य प्रीति का अध्यात्म-मार्ग में कोई अर्थ नहीं हैं। ऐसी प्रीति में तो आत्म–ऋद्धि खोने का ही डर है।

वास्तविक प्रीति तो निरुपाधिक होती है। दुनिया की प्रीति तो उपाधिसहित है। जिसका अध्यात्म–मार्ग में कोई मूल्य नहीं है, वह निरर्थक है।

कोई कंत कारण काष्ठ भक्षण करे रे, मिलशुं कंत ने धाय।
ए मेलो नवि कदिये संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कोई=कई स्त्रियाँ। **कारण**=के लिए। **काष्ठ भक्षण करे**=अग्नि-स्नान करती हैं। **मलशुं**=मिलेंगे। **धाय**=दौड़कर। **ए मेलो**=यह मिलन।

नवि=नहीं । **कदिये=**कभी भी । **संभवे रे=**हो सकता है । **मेलो=**मिलन-स्थल । **ठाम=**नियत-स्थल । **ठाय=**निश्चित ।

सामान्य अर्थ

अपने पति की मृत्यु के बाद कई स्त्रियाँ इस कामना से अग्नि–स्नान कर लेती हैं कि आगामी जन्म में हमें यही पुरुष पति के रूप में मिल जायेगा, किन्तु दोनों के मिलन का स्थल नियत न होने से इस प्रकार के मिलन की प्रायः सम्भावना ही नहीं है ।

विवेचन

दुनिया में पति-पत्नी के बीच गाढ़ प्रीति भी देखने को मिलती है और वे चाहते हैं कि हमारा प्रेम-सम्बन्ध चिरस्थायी रहे । इस प्रीति के बीच यदि पति की मृत्यु पहले हो जाय तो उस पति को आगामी भव में प्राप्त करने के लिए स्त्रियाँ उस के शव के साथ चिता में अग्नि-स्नान कर लेती हैं । परन्तु पू. आनन्दघनजी म. कहते हैं कि इस प्रकार का अग्नि–स्नान करके जो स्त्रियाँ अपने जीवन को समाप्त कर देती हैं, उनके लिए यह निश्चित नहीं है कि उन्हें अपने पति की पुनः प्राप्ति होगी ही ।

यह संसार बहुत ही विचित्र है । संसार की रंगभूमि पर जीवात्मा नाना रूपों को धारण कर नृत्य करती रहती है । `कर्म को किसी बात की शर्म नहीं' इस नियमानुसार पितामह मरकर पुत्र बन जाता है, माता मरकर बहिन बन जाती है, पति मरकर भाई और भाई मरकर पति भी बन सकता है । इस संसार में मृत्यु के बाद प्रत्येक जीवात्मा अपने–अपने कर्म के अनुसार जन्म ग्रहण करती है । यह संभव नहीं है कि पति और पत्नी के कर्म एक समान ही हों और उन्हें अपना इच्छित जन्म प्राप्त हो जाय । सभी जीव अपने–अपने कर्म के अधीन हैं । अपनी इच्छानुसार कोई कहीं जन्म लेने में समर्थ नहीं है ।

अतः आनन्दघनजी म. कहते हैं कि सांसारिक स्वार्थजन्य प्रीति में भी यदि किसी की प्रीति स्थिर हो जाय और इस जन्म के बाद पुनः उस सम्बन्ध को पाने के लिए यदि कोई अग्नि–स्नान भी कर ले, तो भी उनका पुनर्मिलन सम्भव नहीं हैं ।

कोई पतिरंजन अति घणुं तप करे रे, पतिरंजन तन-ताप ।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्युं रे, रंजन-धातु मिलाप ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पति-रंजन=पति को खुश करने । **अति घणो=**बहुत । **तप करे रे=**तपस्या करती है । **तन–ताप=**शारीरिक कष्ट । **ए पतिरंजन=**पतिरंजन की उपर्युक्त प्रक्रिया । **में=**मैंने । **नवि चित्त धर्युं रे=** चित्त में धारण नहीं की है । **रंजन=**खुश करना । **धातु-मिलाप=**मिलन-एकमेक होना, (शरीर की धातुओं का एकमेक हो जाना)

सामान्य अर्थ

कोई स्त्री अपने पति को खुश करने के लिए नाना प्रकार के तप करती है और वह मानती है कि इस प्रकार तप करने से मेरे पति खुश हो जायेंगे परन्तु आनन्दघनजी म. कहते हैं कि इस प्रकार के पतिरंजन को मैंने चित्त में धारण नहीं किया है, मैं तो धातु के मिलन की तरह एकरूप होने वाले रंजन को ही रंजन कहता हूँ ।

विवेचन

पूर्वोक्त गाथा की तरह इस गाथा में भी आनन्दघनजी म. ने संसार के प्रेम को निरर्थक बतलाया है ।

प्रेम के वशीभूत होकर यदि कोई स्त्री अपने पति को खुश करने के लिए अत्यन्त तप भी तपे तो भी इस तप से कोई बड़ी सिद्धि होने वाली नहीं है, क्योंकि पति-रंजन के लिए किये गए तप के आचरण से एक ओर तो शरीर का शोषण होती है और दूसरी ओर (कदाचित् उसका फल प्राप्त हो भी जाय तो) वह क्षणिक होता है । पति से भोग-सुखों की प्राप्ति में ही यदि कोई सुख माने तो उसका यह सुख भ्रांति-पूर्ण ही है ।

`रंजन धातु मिलाप' के दो भिन्न अर्थ हो सकते हैं–

एक अर्थ :– आनन्दघनजी म. कहते हैं कि मैंने पति को खुश करने की क्रिया में अपने चित्त को स्थापित नहीं किया है क्योंकि वह पतिरंजन तो रंजन और धातु के संयोग स्वरूप है अर्थात् उस लौकिक

पतिरंजन का फल तो पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज का संयोग ही है। ऐसे पतिरंजन को मैंने अपने हृदय में स्थान नहीं दिया है।

दूसरा अर्थ :– आनन्दघनजी म. कहते हैं कि मैंने सांसारिक पति के रंजन को अपने हृदय में स्थान नहीं दिया है। बल्कि हे ऋषभदेव प्रियतम ! मैंने तो आपको खुश करने में अपने चित्त को स्थापित किया है। आपको खुश करना अर्थात् मेरी सातों धातुओं में आपका संयोग होना। अपनी सातों धातुओं को प्रभुमय बना देना यही 'रंजन धातु मिलाप' का अर्थ है।

कोई कहे लीला रे अलख अलखतणी रे, लख पूरे मन आस।
दोष-रहित ने लीला नवि घटे रे, लीला दोष-विलास ॥5॥

कठिन शब्दों के अर्थ

कोई कहे=कई लोग कहते हैं। **लीला रे=**क्रीड़ा है। **अलख=**अगोचर। **अलखतणी=**परमात्मा की। **लख=**लाखों। **पूरे मन आस=**मन की आशाएँ पूर्ण करती हैं। **दोषरहित=**निर्दोष। **लीला=**क्रीड़ा। **नवि घटे=**घटती नहीं है। **दोष–विलास=**दोषों की रंगभूमि है।

सामान्य अर्थ

दुनिया में कई लोग कहते हैं कि यह दुनिया ईश्वर की लीला है। ईश्वर ही इस जगत् का कर्त्ता और संचालक है। उसकी इच्छानुसार ही दुनिया में सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं और वही ईश्वर जीवों की इच्छाओं को पूर्ण करता है, परन्तु आनन्दघन जी कहते हैं कि जो दोष-रहित ईश्वर है, उसके लिए दुनिया की यह लीला उचित नहीं है। दुनिया की लीला तो दोष रूप है।

विवेचन

दुनिया में हमें अनेक मत-मतान्तर देखने को मिलते हैं। उनमें से एक मत की मान्यता यह है कि इस सृष्टि का सर्जनहार एक ईश्वर है। सृष्टि उसी की लीला है वही इस जगत् का संचालन करता है।

कई लोग इस मान्यता को स्वीकार कर कहते हैं कि जब प्रभु की इच्छा होगी, तब हमारे लक्ष्य की पूर्ति हो जाएगी। व्यर्थ में पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है ? आखिर तो सब ईश्वर की इच्छा के अधीन हैं।

परमात्मा भक्ति के योग्य होने पर भी परमात्मा को जगत्कर्त्ता मानना सबसे बड़ा दोष है । पू. आनन्दघनजी म. कहते हैं कि जो ईश्वर है, वह राग-द्वेष का विजेता है । वह वीतराग होता है–वह रागादिजन्य प्रवृत्ति कभी नहीं कर सकता है ।

यदि ईश्वर लीला अथवा क्रीड़ा से जगत् का सर्जन अथवा पालन करता है तो प्रश्न उठता है कि वह वीतराग कैसे ? क्यों कि वीतराग में तो इस प्रकार की प्रवृत्ति घट नहीं सकती है ।

ईश्वर यदि क्रीड़ा से दुनिया की सृष्टि करता है, तब तो यह सिद्ध हो जाता है कि वह राग युक्त है वीतराग नहीं ! जो वीतराग नहीं–वह ईश्वर कैसे हो सकता है ? इस प्रकार ईश्वर को जगत् कर्त्ता मानने से अन्योन्याश्रय दोष प्रगट होता है । अतः ईश्वर को जगत्कर्त्ता, पालनहार और संहारक मानना उचित नहीं है । परन्तु अज्ञानता से कई लोग ईश्वर को इस रूप में मान बैठे हैं । ``दुनिया में सर्व शक्तिमान् ईश्वर ही है और उसी की इच्छानुसार सब कुछ होता है'' इस प्रकार की मान्यता को धारण करने वाले जीव ईश्वर-प्रणिधान के लिए किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ न कर, ईश्वर-इच्छा को ही मुख्य मान लेते हैं ।

पूज्य आनन्दघनजी महाराज फरमाते हैं कि वीतराग ईश्वर में जगत्-सर्जन आदि की लीला घट नहीं सकती है । ईश्वर तो वीतराग है, राग-द्वेष के जाल से सर्वथा मुक्त है, अतः उसके साथ तन्मय बनने के लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक है । वीतराग–ईश्वर के प्रणिधान से अपनी आत्मा भी तत्स्वरूप को प्राप्त कर सकती है । अतः अपनी आत्मा के वीतराग स्वरूप को प्रकट करने के लिए शुद्ध ईश्वर का प्रणिधान और उसका ध्यान अनिवार्य है ।

चित्त प्रसन्ने रे पूजन कह्युं, रे पूजा अखंडित एह ।
कपट-रहित थई आतम अरपणा रे, आनन्दघन पद रेह ।।6।।

चित्त प्रसन्ने रे=चित्त की प्रसन्नता । **पूजन-फल**=भगवान की पूजा का फल । **कह्युं रे**=कहा गया है । **अखंडित**=धाराबद्ध । **एह**=यह है । **कपट रहित**=दम्भ रहित । **थई**=होकर । **आतम**=जीव की । **अरपणा रे**=अर्पण करना । **आनन्दघन**=मोक्ष-पद की । **रेह**=रेखा ।

सामान्य अर्थ

पति के चित्त को प्रसन्न करना यही पत्नी के लिए पति–भक्ति का फल है । कपटरहित होकर (भिन्न–भाव का त्याग कर) पति अर्थात् परमात्मा के चरणों में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर देना, यही आनन्द के समुदाय रूप मोक्षपद को पाने का मार्ग है ।

विवेचन

देवाधिदेव वीतराग परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण करना, यही सच्ची पूजा है । माया रहित होकर परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण करने से तत्काल प्रसन्नता का अनुभव होता है ।

क्या आप परमात्मा की पूजा करते हैं ? यदि हाँ । तो क्या आपको चित्त की प्रसन्नता का अनुभव हुआ है ?

यदि प्रभु-पूजा करते हुए भी चित्त में प्रसन्नता का अनुभव नहीं हो रहा है तो इसका अर्थ यह है कि अभी तक परमात्मा के चरणों में आत्म–समर्पण नहीं किया है । यदि परमात्मा के चरणों में आत्म–समर्पण किया होता तो फलस्वरूप चित्त में प्रसन्नता का अनुभव हुए बिना नहीं रहता ।

लोक में भी पति के चित्त को खुश करना, यह पत्नी की `पति–भक्ति' का फल है, उसी प्रकार परमात्मा के चरणों में आत्म समर्पण करने पर ही चित्त की प्रसन्नता का अनुभव कर सकते हैं ।

आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि शुद्धात्म-स्वरूप को प्राप्त ऐसे ऋषभदेव प्रभु ही मेरे प्रियतम हैं और उनकी पूजा आत्मा के शुद्ध भाव से ही होती है । प्रभु-पूजा से आत्मा में सहजानन्द का प्रवाह प्रकट होता है, जिससे चित्त में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है । कपटरहित होकर अर्थात् निर्दंभ भाव से परमात्मा को आत्मसमर्पण करना ही सच्ची पूजा है । ऐसी पूजा से तात्कालिक चित्त–प्रसन्नता का फल मिलता है और परम्परा से मोक्ष फल की प्राप्ति होती है ।

द्वितीय स्तवन

पूर्व भूमिका

चरमावर्त में प्रवेश प्राप्त जीवात्मा को परमात्मा के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है । जीवन में यह सहजतया देखने को मिलता है कि जिसको जिस व्यक्ति अथवा वस्तु पर प्रीति होती है, वह उसकी शोध करता है और जब तक वह वस्तु उसे प्राप्त न हो जाय, तब तक उसे पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है ।

भक्त भी भगवान् के प्रति प्रीति हो जाने के बाद वह परमात्मा को पाने के लिए लालायित हो उठता है, लेकिन साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा का तो भरत-क्षेत्र में विरहकाल है । परमात्मा से साक्षात् मिलन तो वर्तमान में संभव नहीं है, अतः भक्त परमात्मा के बताये हुए मार्ग को प्राप्त करना चाहता है । मोक्ष–मार्ग के अभिमुख बना हुआ भक्त अब परमात्मा के बताये हुए मार्ग की शोध के लिए निकल पड़ा है ।

मार्ग की शोध में वह अनेक स्थलों पर जाता है, अनेक सुप्रसिद्ध व्यक्तियों से भी मुलाकात करता है, परन्तु कहीं भी उसे संतोष प्राप्त नहीं होता । कहीं अंधपरम्परा चल रही है, तो कहीं कदाग्रह का जाल बिछा हुआ है । कहीं वाद–विवाद का संघर्ष है तो कहीं बाह्य आडंबर का बोलबाला है । मार्ग की शोध में चारों ओर भटक–भटक कर जब थककर चूर हो जाते हैं तो अंत मे आनन्दघनजी महाराज पहुँच जाते हैं–परमात्मा के मंदिर में । देवाधिदेव वीतराग परमात्मा **श्री अजितनाथ प्रभु** के सामने अपनी हार्दिक व्यथा व्यक्त करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि ``हे प्रभो ! आम्र वृक्ष की शीतल छाया की भाँति आप ही मेरे लिए शरण्य हैं क्योंकि

राग-द्वेष और मोहादि शत्रुओं को आपने परास्त कर दिया है, जबकि उन शत्रुओं के आक्रमण से मेरे हाल-बेहाल हो गये हैं। मैं बहुत ही मुश्किल में आ पड़ा हूँ।

इस दुनिया में कहीं मुझे आपका पंथ नजर नहीं आ रहा है। हे कृपासिंधो ! कृपा करो और मुझ सेवक को वह मार्ग प्रदान कर मुझे भव से पार लगा दो। जब तक आपका मार्ग प्राप्त नहीं होगा तब तक प्रतीक्षा जरूर कर लूंगा, किन्तु कुपथ तो कभी स्वीकार नहीं करूंगा।

बस ! मार्ग पाने की ही अभिव्यक्ति इस स्तवन में की गई है ! तो चलें। हम भी आनन्दघनजी के सुरीले स्वरों में स्वर मिलाकर परमात्मा से मोक्ष मार्ग की प्रार्थना कर लें–

2 अजितनाथ स्तवन

(राग : आसावरी–म्हारो मन मोह्यो रे...ए देशी)

पंथडो निहालूं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुण धाम ।
जे तैं जीत्या रे तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किस्युं मुज नाम ।।
।। पंथडो०...1।।

चरम नयन करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार ।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयन ते दिव्य विचार ।।
।। पंथडो०...2।।

पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवतां रे, अंधो अंध पुलाय ।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरण-धरण नही ठाय ।।
।। पंथडो०...3।।

तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे, पार न पहोंचे कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय ।।
।। पंथडो०...4।।

वस्तु विचारे रे दिव्य नयन तणो रे, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे रे तरतम-वासना रे, वासित बोध आधार ।।
।। पंथडो०...5।।

काल लब्धि लहि पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलंब ।
ए जन जीवे रे जिनजी ! जाणजो रे, आनन्दघन–मत–अम्ब ।।
।। पंथडो०...6।।

पंथडो निहालूं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम ।
जे तैं जीत्या रे तेणे हुँ जीतियो रे, पुरुष किस्युं मुज नाम ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पंथडो=मार्ग । निहालुं देखता हूँ । **अजित=**अजितनाथ भगवान् । **अजित गुणधाम=**दूसरे से न जीता सके ऐसे गुणों के स्थानभूत । **जे=**जिसको । **तै=**आपने । **जीतियो=**मैं जीत लिया गया । **किस्युं मुज=**मेरा क्यों ?

सामान्य अर्थ

(प्रथम स्तवन में आत्मा के वास्तविक प्रियतम की पहिचान बताई गई है । प्रस्तुत स्तवन में प्रीतम-प्रभु के बताए हुए मोक्ष मार्ग की प्रतीक्षा बताई है । हे अजितनाथ प्रभो ! मैं खड़ा-खड़ा आपके बताए मोक्षमार्ग को देख रहा हूँ । आपका नाम वास्तव में सार्थक है । आप तो अनन्त गुणों के धाम हो और मैं ! ओहो ! मेरी हालत तो अत्यन्त गंभीर है । प्रभो ! आपने जिन मोहादि शत्रुओं को जीत लिया है, मैं तो उन्हीं शत्रुओं से जीता गया हूँ । उन मोहादि शत्रुओं ने मुझ पर विजय प्राप्त कर ली है । अतः मेरा `पुरुष' कहलाना निरर्थक ही है । पुरुष तो वह है जो पुरुषार्थ कर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे ।

विवेचन

यह अनन्त संसार एक यात्रा है और अपनी आत्मा इस यात्रा की पथिक बनी है । इस दीर्घ यात्रा को समाप्त कर आत्मा अपने स्व-धाम (मोक्ष) पहुँचना चाहती है, परन्तु पहुँचे कैसे ? मार्ग बड़ा विकट है । राग-द्वेष मोहादि शत्रुओं से मार्ग अत्यन्त व्याप्त है । आनन्दघनजी महाराज दूसरे तीर्थंकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे अजितनाथ प्रभो ! आपने तो उन रागादि शत्रुओं को पूरी तरह से परास्त कर दिया है और आप सच्चे `अजित' अजेय बन गये । आपने सब शत्रुओं को हरा दिया, आप किसी से हारे नहीं ।

हे कृपालु प्रभो ! आपने तो कमाल कर दिया । आप तो पहुंच गये अपने नियत स्थान पर और सेवक यहीं भटकता रह गया ।

मार्ग बड़ा संकटपूर्ण है । राग-द्वेष और मोह आदि की भयंकर फूत्कारों से मैं भयभीत हूँ । मुझे तो आगे बढ़ने में बड़ा भय लगता है ।

हे प्रभो ! दुनिया में मैं पुरुष कहलाता हूँ, और मैं भी अपने आपको पुरुष समझता हूँ । परन्तु हे कृपालो ! मुझमें उन शत्रुओं को जीतने का पौरुष कहाँ है । All that glitters is not gold चमकने वाली सभी चीजें सोना नहीं होती । बस, इसी प्रकार हे प्रभो ! मैं भी नाम का पुरुष हूँ ।

अब सच्चा पुरुष बन सकूँ अतः अपनी कृपा बरसाओ । ऐसा मार्ग बतला दो कि मैं सुरक्षित रूप से आप तक पहुँच जाऊँ ।

सर्व गुणों के एक–धाम हे अजितनाथ प्रभो ! कृपा करोगे न ! मुझ पर !!

चरम नयन करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार ।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयन ते दिव्य विचार ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चरम-नयन करी=चर्म आंखों से । **सयल संसार=**संपूर्ण संसार । **जेणे नयणे करी=**जिन आँखों से **दिव्य विचार=**पारमार्थिक विचारणा ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आपके इस मुक्ति पंथ को चर्म चक्षुओं के द्वारा नहीं जान सकते हैं । जो भी व्यक्ति इन चर्म-चक्षुओं से आपके मार्ग को देखना चाहता है वह तो इस संसार में भूला ही पड़ता है, क्योंकि आपका जो मार्ग है–वह तो बाह्य चर्म चक्षुओं से देखने की वस्तु नहीं है । दिव्य–नयन अर्थात् सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से ही आपका पंथ जाना जा सकता है ।

विवेचन

हे प्रभो ! आपका मुक्ति-पंथ बहुत ही निराला है । वह बाह्य नेत्रो से अगोचर है । उस दिव्य पंथ को जानने के लिए तो चाहिये दिव्य आँखें ।

मोह में आसक्त संसारी लोग उस सुख (मोक्ष के सुख) को बाह्य चक्षुओं के द्वारा देखना चाहते हैं । किसी के पास भौतिक समृद्धि देखकर वे उसे सुखी मान लेते हैं और उस भौतिक सुख को पाने के लिए तल-

पापड़ बन जाते हैं, परन्तु उस सुख के लिए किया गया सब प्रयत्न निष्फल हो जाता है, अर्थात् कदाचित् वह सुख प्राप्त भी हो जाय तो उसका आनन्द अल्प समय के लिए ही रहता है, फिर तो वापस उसे पछताना ही पड़ता है, ऐसी दशा है संसार के सुख में आसक्त बनने वालों की ।

हे परमात्मा ! आपका पथ तो दिव्य है । उसको जानने, सोचने तथा समझने के लिए तो सम्यग्ज्ञान का दिव्य प्रकाश चाहिये, स्याद्वादमय दृष्टि और अंतश्चक्षु के बिना आपके पथ का दर्शन भी सम्भव नहीं है आगे बढ़ने की तो बात ही क्या करें ।

मार्ग में आगे तो तब बढ़ सकते हैं जब मार्ग का ज्ञान हो । बड़ी ही विकट समस्या है । हे प्रभो ! आपके पंथ में आगे बढ़ने के लिए । मात्र ज्ञान हो लेकिन सम्यग्दृष्टि न हो तो भी वह ज्ञान आत्मा को आगे नहीं बढ़ा पाता है । सम्यग्दृष्टि (दर्शन) रहित ज्ञान तो आत्मा को पतन के मार्ग में भी ले जा सकता है ।

हे नाथ ! अब तो सुनो मेरी विनती और इस समस्या का समाधान करो—दिव्य नयन प्रदान करो ।

पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे, अंधो अंध पुलाय ।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरण-धरण नही ठाय ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पुरुष परम्पर=किसी प्रसिद्ध पुरुष के पीछे । अनुसरण । **अनुभव=**स्वयंबोध । **अंधो-अंध पुलाय=**अंधे के पीछे अंधा चले । **वस्तु=**पदार्थ व्यवस्था । **आगम=**शास्त्र । **चरण=**पैर । **धरण=**रखने के लिए । **ठाय=**स्थान ।

सामान्य अर्थ

आपके मार्ग की शोध में कई जगह मैंने देखा कि कई प्रसिद्ध परम्पराएँ तो अंध-दौड़ तुल्य ही हैं । उन परम्पराओं में भी सर्वत्र राग-द्वेष का एकछत्र साम्राज्य देखा है । वे तो अंधे के पीछे अंधे की दौड़ जैसी है ।

आपके आगम-सिद्धान्त के अनुसार मार्ग को पाने का विचार करता हूँ तो कहीं पैर रखने के लिए भी स्थान नहीं मिलता है, अर्थात् आपके आगम मार्ग से कषाय आदि पर विजय पाना मेरे लिए अत्यंत कठिन है ।

विवेचन

हे करुणासिंधो ! आज आपके सामने मुक्ति-पथ की समस्याओं को प्रदर्शित करने बैठ ही गया हूँ तो सुनो, हे नाथ ! मेरी इन समस्याओं को सुनो !

आपके पथ की शोध में मैं भटक रहा हूँ परन्तु दुनिया में देखता हूँ तो अधिकांशतः कुगुरुओं का ही एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ दिखाई पड़ता है । कुगुरु का योग तो भव में डुबाने वाला है ।

एक अंधे के पीछे दूसरा अंधा चले तो उसकी क्या हालत हो ? अरे ! यदि कोई नेत्रवान व्यक्ति भी अंध का अनुकरण करे तो वह भी अंधे की तरह खड्डे में ही गिरता है । बस ! उसी प्रकार इस संसार में कुगुरु का योग तो आत्मा को डुबाने वाला है । बड़ी समस्या है इस संसार में अपके पंथ को शोधने की ।

यदि कुगुरु को छोड़कर शास्त्र के आधार पर मार्ग की शोध करता हूँ, तो भी मैं आपके मार्ग को पाने में असमर्थ ही हूँ क्योंकि आगम शास्त्र इतने गहन और विशाल हैं और उनका आलेखन इस प्रकार नयसापेक्ष दृष्टि से हुआ है कि उसको समझना मेरे लिए अत्यंत दुष्कर है ।

शास्त्र बहुत हैं, मेरी बुद्धि कम है । अपनी अल्पमति से मैं प्रभु-पंथ का वास्तविक निर्णय करने में समर्थ नहीं हूँ ।

आगम दृष्टि से यदि प्रभु के पंथ का विचार किया जाय तो उस चारित्र–मार्ग का अनुसरण अत्यंत कठिन लगता है, आगम दृष्टि से वस्तु विचारणा की जाय तो पैर रखने के लिए भी स्थान नहीं है अथवा आगम दृष्टि से विचार करें तो चरण स्थानक अर्थात् संयमस्थानकों की प्राप्ति अत्यंत कठिन है ।

तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे, पार न पहोंचे कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

तर्क विचारे=अनुमान आदि प्रमाण की मदद से । **वाद-परम्परा=**वाद-विवाद की श्रेणी । **पार=**अंत । **अभिमत वस्तु=**इष्ट वस्तु । **वस्तु-गते=**सच्चाई से यथास्थित । **विरला=**कोई विरल । **जोय=**देखने में आता है ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! तर्क–प्रमाण के बल से भी इस दुनिया में आपके मार्ग का बोध नहीं होता है, क्योंकि उसमें वाद–विवाद की लंबी श्रृंखला दिखाई देती है ।

मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप को कहने वाले इस दुनिया में कोई विरले ही पुरुष होते हैं, बाकी तो सब अपनी–अपनी ढपली ही बजा रहे हैं ।

विवेचन

कुतर्क में ऐसी शक्ति है कि वह सत्य को स्वीकारने नहीं देता है । यदि तर्क वस्तु को सिद्ध करता है तो कुतर्क उसका खंडन किये बिना नहीं रहता । प्रभु पंथ के शोध में निकले हुए आनंदघनजी कह रहे हैं कि इस दुनिया में कुतर्क का एक ऐसा जाल छाया हुआ है कि इस जाल में मेरे सुतर्कों का प्रवेश होना शक्य नहीं है ।

यदि मैं उन कुतर्कवादियों से वाद करने जाऊँ तो उस वाद का अंत ही नहीं आता है, वे मेरी हर सत्य बात को कुतर्क से काट डालते हैं ।

बड़ी ही समस्या है, हे प्रभो ! आपके मार्ग को जानने में । तर्क का आश्रय छोड़कर यदि मैं सद्गुरु की शोध में निकला हूँ तो चारों ओर मुझे मार्ग–विरोधी वातावरण ही दिखाई पड़ता है । सन्मार्ग की राह पर स्वयं चलने वाले और दूसरों को भी सन्मार्ग की राह बताने वाले सद्गुरु इस जगत् में विरले ही हैं ।

सद्गुरु की शोध में मैं अनेक स्थानों पर भटका हूँ । कहीं तो मुझे बाह्य आडम्बर का लंबा पर्दा दिखाई दिया है तो कहीं शब्द-आडंबर के लंबे–लंबे जाल, जिनके पीछे स्वार्थी जन (कुगुरु) अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं ।

वस्तु विचारे रे दिव्य नयण तणो रे, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे रे तर-मत वासना रे, वासित बोध आधार ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वस्तु विचारे=वस्तु के चिंतन में । **दिव्य नयण तणो=**केवलज्ञान वाले परमात्मा । **विरह=**वियोग । **पड्यो=**पड़ा हुआ है । **तर–तम जोगे रे=**अल्प-अधिक अंश में । **वासना=**ज्ञान का क्षयोपशम । **वासित=**संस्कारित । **बोध=**सत्य ज्ञान । **आधार=**मदद रूप ।

सामान्य अर्थ

मुक्तिपथ को साक्षात् जानने वाले केवलज्ञानी भगवन्तों का वर्तमान में विरह पड़ा हुआ है, अतः अब उनका भी सहारा नहीं है। तो प्रश्न है कि अब क्या करूँ ? इन समस्याओं को देख मार्ग छोड दूँ ?

आनंदघनजी कहते हैं कि नहीं ! आशा की एक किरण मुझे दिखाई दे रही है और वह है वर्तमान में विद्यमान गीतार्थ गुरुओं से सम्यग्बोध प्राप्त करूँ और उन्हीं का आश्रय करूँ।

विवेचन

विश्व के सचराचर भावों को केवलज्ञानी भगवंत ही अपने ज्ञान से जान सकते हैं। मोक्ष का यह पवित्र पंथ उनकी दृष्टि में बिल्कुल स्पष्ट है। परन्तु वर्तमान में तो उन सर्वज्ञ भगवंतों का भी अभाव है।

अब क्या करें ? मोक्षमार्ग को पाने में चारों ओर से मेरे लिए कठिनाइयाँ आ खड़ी हुई हैं, परन्तु फिर भी इन समस्याओं के बीच में आशा की एक किरण फूट पड़ती है। वह है—गीतार्थ गुरुओं की शोध कर उनका आश्रय स्वीकार करना।

भगवान् महावीर परमात्मा का शासन काल इक्कीस हजार वर्ष का है और हाल तो मात्र ढाई हजार वर्ष ही व्यतीत हुए हैं, अतः आनंदघनजी परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि मुक्ति का पथ अनेक विकट परिस्थितियों से भरा हुआ है तथा मार्ग में अनेक व्यवधान आने की भी संभावनाएँ हैं।

काल-लब्धि लहि पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलंब।
ए जन जीवे रे जिन जो ! जाणजो रे, आनंदघन मत अंब ॥6॥

कठिन शब्दों के अर्थ

काल–लब्धि=काल का परिपाक। **लही=**प्राप्त कर के। **पंथ=**आपका मार्ग। **निहालशुं=**देखूंगा। **अवलंब=**आधार। **आनन्द–घन=**आत्मा। **मत=**विचार। **अंब=**आम्रवृक्ष-पकड़ना।

सामान्य अर्थ

हे अतिशय आनंद के दाता परमात्मन् ! ``काल परिपक्व रूप लब्धि की प्राप्ति हो जाने के बाद तो हम आपके मार्ग को देखने वाले ही हैं'' यह आशा भी हमारे लिए बहुत बड़ा अवलंबन है । हे प्रभो ! मोक्षाशयी प्रवृत्ति का जिसने आधार लिया है, वह आत्मा जिंदा रहने वाली ही है, अर्थात् अब तो मैं हे प्रभो ! आपकी ही आशा से जी रहा हूँ ।

विवेचन

किसी भी काम की सिद्धि समय आने पर ही होती है । आज बोया हुआ बीज आज ही फल देने में समर्थ नहीं बनता है । उसके लिए समय की प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है और सिंचन संरक्षण आदि का प्रयत्न भी बराबर करना पड़ता है । समय की प्रतीक्षा के साथ-साथ पुरुषार्थ भी चाहिये । मात्र समय की प्रतीक्षा फलदायी नहीं बनती है ।

उसी प्रकार हे प्रभो ! मैं भी उस समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि जब मुझे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा और जिसके बल से मुझे आपका पंथ स्पष्ट दिखाई दे सकेगा ।

हे प्रभो ! मैंने अपने हृदय में आपकी प्रीति रूपी बीज का जो वपन कर लिया है, अब उसके फल रूप आनंदघन रूप आम्रफल चाहता हूँ ।

हे प्रभो ! आप तो आम्र-वृक्ष के तुल्य हो । आपकी शीतल छाया को प्राप्त कर सभी भव्यात्माएँ आनंदघन-मोक्षसुख का आस्वादन करती हैं ।

हे प्रभो ! मैं भी आपकी शरण स्वीकार करता हूँ और आपकी शीतल छाया पाना चाहता हूँ । हे नाथ ! मुझ पर कृपा करो ।

तृतीय स्तवन

पूर्व भूमिका

प्रथम स्तवन में आनन्दघन महाराजा ने प्रीति अनुष्ठान की बात कही थी, उसी को पुष्ट कर मार्ग–शोधन की बात दूसरे स्तवन में कही गई, अब इस स्तवन में वे प्रभु की सेवा पाने की योग्यता बता रहे हैं ।

व्यवहार से तो हम सब प्रतिदिन प्रभु की सेवा करते ही हैं और अपने आपको `प्रभु-भक्त' भी समझते हैं लेकिन आनन्दघनजी कहते हैं कि `प्रभु-भक्त' का विरुद पाना आसान काम नहीं है । वे हमें प्रभुसेवा के रहस्य में ले जाना चाहते हैं और प्रभु सेवा का मार्ग स्पष्ट बतलाते हैं ।

आत्मा के विकास के लिए प्रभु-सेवा अनिवार्य है, परन्तु प्रभु-सेवा कौन कर सकता है, इसका मापदंड (थर्मामीटर) वे इस स्तवन में बतलाते हैं । क्या आप भी अपने आत्म-विकास का मापदंड निकालना चाहते हैं ? तो डूब जाओ, इस स्तवन की गहराई में–

3 सम्भवनाथ स्तवन

(राग : रामगिरी-रातडी रमी ने किहा थी आविया-ए देशी)

संभवदेव ते धुर सेवो सवे रे, लही प्रभु-सेवन भेद ।
सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद ।।
।। संभव०...1।।

भय चंचलता हो जे परिणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव ।
खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकीए रे, दोष अबोध लखाव ।।
।। संभव०...2।।

चरमावर्ते हो चरम-करण तथा रे, भव परिणति-परिपाक ।
दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचन-वाक् ।।
।। संभव०...3।।

परिचय पातक घातक साधु शुं रे, अकुशल अपचय चेत ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे, परिशीलन नय हेत ।।
।। संभव०...4।।

कारण जोगे हो कारज निपजे रे, एहमां कोई न वाद ।
पण कारण विण कारज साधिए रे, ए निज मत उन्माद ।।
।। संभव०...5।।

मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप ।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनंदघन रस रूप ।।
।। संभव०...6।।

संभवदेव ते धुर सेवो सवे रे, लही प्रभु-सेवन भेद ।
सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

संभव देव=तृतीय संभवनाथ भगवान अथवा जो-जो भी देव रूप में मान्य हों । **ते=**वे, उसकी, उनकी । **धुर=**सर्व प्रथम । **सेवो=**पूजा करो, भक्ति करो । **सवे=**सभी । **लही=**जानकर । **प्रभु-सेवन-भेद=**प्रभुसेवा के प्रकार । **सेवन-कारण=**सेवा में कारणभूत । **पहेली=**प्रथम । **भूमिका=**अवस्था (योग्यता रूप) । **अभय=**निर्भयता । **अद्वेष=**द्वेष का अभाव, प्रेम । **अखेद=**अव्याकुलता ।

सामान्य अर्थ

अभय (निर्भयता), अद्वेष (मैत्री) और अखेद (अरुचि का अभाव) इन तीन आत्मिक गुणों की प्राप्ति प्रभु-सेवा की प्रथम भूमिका है । उस भूमिका को प्राप्त कर सभी भव्य प्राणी सम्भवनाथ प्रभु की अथवा देव रूप में जो मान्य हों उनकी सेवा करें ।

विवेचन

दूसरे स्तवन द्वारा आनन्दघनजी महाराज मोक्षमार्ग की शोध कर रहे थे । इस शोध के फलस्वरूप उन्हें मोक्षमार्ग मिल ही गया । मिल तो गया किन्तु उस मार्ग पर चलना मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ते रहना और लक्ष्य को सिद्ध कर लेना कोई आसान काम नहीं है ।

यह मोक्षमार्ग अत्यन्त ही विकट है । अतः इसके लिए सुयोग्य मार्गदर्शक (Guide) की आवश्यकता रहती है । उसके निर्देशानुसार बहुत ही ध्यान पूर्वक एक-एक कदम रखने पर ही मोक्षमार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है । मोक्षसाधक कारणों की थोड़ी भी उपेक्षा आ जाने पर आत्मा मोक्षमार्ग से च्युत हो जाती है और पुनः संसार के भयंकर गर्त में गिर जाती है ।

मोक्षमार्ग को जान लेने के बाद अब योगिराज आनन्दघनजी महाराजा मोक्षमार्ग में पहला कदम रखना चाहते हैं । वह पहला कदम मोक्षमार्ग की पहली भूमिका रूप है । आनन्दघनजी महाराज

फरमाते हैं कि हे भव्यात्माओं ! यदि आप मोक्षमार्ग में आगे बढ़ना चाहते हों तो सर्व प्रथम सम्भवनाथ प्रभु की सेवा करो ।

सम्भवनाथ प्रभु की सेवा करने के लिए सेवा का रहस्य समझना होगा । प्रभु की देह पर सिर्फ चन्दन के तिलक कर देना अथवा पुष्प आदि चढ़ा देना ही प्रभु सेवा नहीं है ।

यह प्रभुसेवा तो आत्म विकास रूप है अर्थात् जब आत्मा अपने विकास की पहली भूमिका प्राप्त करती है और उसके योग्य अभय, अखेद और अद्वेष गुणों को प्राप्त करती है, तभी उसे वास्तविक रूप से प्रभुसेवा प्राप्त हुई समझना चाहिये ।

जिस प्रकार सिंहिनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही रह सकता है, उसी प्रकार प्रभु सेवा भी योग्य जीवात्मा ही प्राप्त कर सकता है । प्रभु सेवा के लिए योग्यता प्राप्त करना अनिवार्य है । योग्य शिक्षण, डिग्री और अनुभव (Practical Knowledge) के बिना जिस किसी को डॉक्टर नहीं बनाया जा सकता है, उसी प्रकार प्रभु-सेवा की प्राप्ति भी बिना योग्यता के नहीं होती है ।

भाव रहित द्रव्य-पूजा की यहाँ बात नहीं हैं, यहाँ तो आत्म विकास में साधक ऐसी प्रभु-सेवा की बात है । इसके लिए आनन्दघनजी महाराजा प्रभु-सेवा प्राप्ति की योग्यता का माप-दंड (Thermometer) बता रहे हैं । वह है– 1) आत्मा में अभय की 2) आत्मा में अद्वेष की प्राप्ति और आत्मा में अखेद की प्राप्ति । इन तीन गुणों की प्राप्ति होने पर ही आत्मा अपने विकास-क्रम की पहली भूमिका को प्राप्त करती है ।

जैन दर्शन में आत्मा के विकास को बताने वाली योग की आठ दृष्टियाँ बताई हैं । उनमें सबसे पहली दृष्टि है–**'मित्रा'** यह आत्मा-विकास की पहली भूमिका है । इस दृष्टि की प्राप्ति होने पर आत्मा में रहा खेद दोष नष्ट हो जाता है और आत्मा निर्भयतादि गुणों को प्राप्त करती है ।

आनन्दघनजी म. भी यहाँ उसी प्रथम भूमिका की बात कर रहे हैं । यहाँ अभय आदि शब्दों का लौकिक अर्थ नहीं लेने का है । स्तवनकार स्वयं हो अगली गाथा में इनका तात्त्विक अर्थ बतला रहे हैं ।

भय चंचलता हो जे परिणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव ।
खेद प्रवृत्ति हो करतां थाकीए रे, दोष-अबोध लखाव ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

भय=डर । **चंचलता**=अस्थिरता । **परिणामनी**=आत्मा के भावों की । **द्वेष**=अरुचि । **अरोचक**=अप्रीति । **खेद**=व्याकुलता (थकान) । **प्रवृत्ति**=धार्मिक प्रवृत्ति । **थाकीए**=कंटाला आना । **दोष**=मिथ्यात्व / कर्ममल । **अबोध**=अज्ञान । **लखाव**=जाने ।

सामान्य अर्थ

भय अर्थात् आत्मा के परिणामों की चंचलता, द्वेष अर्थात् मुक्ति, मुक्ति के साधक तथा मुक्ति के साधनों पर अरुचि तथा खेद अर्थात् धार्मिक प्रवृत्ति करते हुए कंटाला आना । इन तीन दोषों के कारण आत्मा को सम्यग्बोध की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् ये तीनों दोष आत्मबोध में बाधक हैं ।

विवेचन

भवाभिनन्दी आत्मा को संसार तथा संसार के सुख के साधनों के प्रति तीव्र राग व आसक्ति होती है तथा मोक्ष के साधनों के प्रति तीव्र द्वेष होता है । किसी भी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति में उसको कंटाला ही आता है । कदाचित् किसी के दबाव से वह धर्म में प्रवृत्ति करता भी है तो उसके परिणाम अति चंचल होते हैं अर्थात् वह आत्मा शुभ-परिणामों में स्थिर नहीं रह सकती है । लेकिन जब आत्मा चरमावर्त में प्रवेश करती है और अपने अनन्त संसार को अत्यन्त मर्यादित कर लेती है तो उसमें आत्म-विकास की योग्यता धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है और वह मोक्ष-मार्ग की प्रथम भूमिका रूप अभय, अद्वेष और अखेद गुणों को प्राप्त करती है ।

1) भय :– भय अर्थात् आत्मा के परिणामों की चंचलता । जब तक आत्मा के परिणाम चंचल होंगे, तब तक आत्मा शुभ परिणामों में स्थिर नहीं रह सकती है । भय से युक्त व्यक्ति का चित्त परमात्मा के गुणस्तवन तथा गुणचिंतन में तदाकार नहीं हो सकता है । प्रभु-भक्ति में लीन बनने के लिये पहली शर्त है-निर्भयता अर्थात् चित्त-स्थैर्य ।

2) द्वेष :– मुक्ति के प्रति, मुक्ति-मार्ग के साधकों के प्रति तथा मुक्ति-मार्ग के साधनों के प्रति अरुचि भाव होना द्वेष कहलाता है । भवाभिनन्दी आत्मा को इस प्रकार का द्वेष सदा बना रहता है और इस कारण किसी भी धार्मिक अनुष्ठान को देखने पर उसे आनन्द के बजाय क्रोध ही आता है । उसे धर्म और धर्म-क्रियाएँ आडम्बर रूप लगती हैं ।

3) खेद :– सत् प्रवृत्ति में हतोत्साहित होना खेद है । इस दोष के कारण भवाभिनन्दी आत्मा को सत् प्रवृत्ति में सतत उत्साह नहीं रहता है ।

जरा, हम भी आत्म-निरीक्षण करें कि क्या ये दोष हमारी आत्मा में से नष्ट हो चुके हैं ? यदि नहीं तो सर्वप्रथम उन दोषों के निकन्दन का पुरुषार्थ करना होगा ।

चरमावर्ते हो चरम-करण तथा रे, भवपरिणति परिपाक ।
दोष टले वली, दृष्टि खुले भनी रे, प्राप्ति प्रवचन-वाक् ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चरमावर्त=अंतिम पुद्गल परावर्त । **चरमकरणे**=अंतिम यथाप्रवृत्तिकरण में । **तथा भवपरिणति**=तथाभव्यत्व । **परिपाक**=परिपक्वता । **दोष टले**=कर्ममल दूर होवे । **दृष्टि**=योग की दृष्टि । **खुले**=खिलती है । **भली**=अच्छी । **प्राप्ति**=प्राप्त होना । **प्रवचन-वाक्**=जिन-वाणी ।

सामान्य अर्थ

उपर्युक्त अभय आदि गुणों की प्राप्ति कब होती है ? वह बतलाते हैं कि आत्मा जब चरमावर्त (अर्थात् आत्मा का भवभ्रमण एक पुद्गल परावर्त से अधिक न हो) में प्रवेश करती है और अन्तिम यथा प्रवृत्ति करण प्राप्त करती है उसके साथ ही तथाभव्यत्व का भी तीव्र परिपाक होता है तब आत्मा में मिथ्यात्व रूप दोष नष्ट होने लगता है और आत्मा को प्रथम मित्रा दृष्टि प्राप्त होती है जिसके परिणाम स्वरूप जिन-वाणी की प्राप्ति होती है ।

विवेचन

चरमावर्त में प्रवेश के बाद ही आत्मा विकास के पथ पर बढ़ सकती है । चरमावर्त को समझने के लिए पुद्गल परावर्तकाल को समझना

अनिवार्य है । पुद्गल परावर्तकाल के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार भेद हैं । यहाँ क्षेत्र पुद्गल परावर्त की उपयोगिता होने से उसी का वर्णन किया जाता है । इस क्षेत्र पुद्गल परावर्त के भी बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो भेद हैं :–

1) बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त :– किसी एक जीवात्मा को बिना किसी क्रम से लोकाकाश के समस्त आकाश-प्रदेशों को मृत्यु से स्पर्श करने में जितना समय लगता है उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त काल कहते हैं ।

2) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त :– चौदह राज लोक में रहे आकाशप्रदेश को क्रमशः मृत्यु द्वारा स्पर्श करने पर जितना समय व्यतीत होता है, उसे सूक्ष्म पुद्गल परावर्त काल कहते हैं । ऐसे तो जीवात्मा के असंख्य आत्मप्रदेश हैं, और मृत्यु के समय वह अनेक आकाशप्रदेशों का स्पर्श करती है, किन्तु उनमें से मात्र एक ही आकाश प्रदेश लेने का है और उसके बाद जीव जब उसके पास रहे आकाशप्रदेश का स्पर्श कर मृत्यु को प्राप्त करता है, फिर क्रमशः उसके पास रहे आकाश प्रदेश का । इस प्रकार पहले और दूसरे आकाश प्रदेश के स्पर्श के बीच अनेक बार मरकर अन्य आकाश-प्रदेशों का स्पर्श भी कर ले तो भी उन्हें संख्या में नहीं गिनने का है । इस प्रकार एक क्रम से आत्मा जब चौदह राज लोक के समस्त आकाश प्रदेशों का स्पर्श कर ले और उस स्पर्श करने में जितना समय व्यतीत हो उसे सूक्ष्म पुद्गल परावर्त काल कहते हैं ।

इस एक पद्गल परावर्त काल में अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणियाँ बीत जाती हैं । भूतकाल में ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्त व्यतीत हो चुके हैं ।

आत्मा के मोक्षगमन में जब मात्र एक ही पुद्गल परावर्त बाकी रहता है, तब अन्तिम पुद्गलावर्त काल को चरमावर्त काल कहते हैं । इस चरमावर्त में प्रविष्ट आत्मा ही मोक्षमार्ग की यत्किंचित् आराधनादि कर सकती है । अचरमावर्त काल में तो आत्मा में मोक्ष के प्रति तीव्र द्वेष या अरुचि ही होती है ।

चरमावर्त में प्रवेश करने पर जीवात्मा जब अपुनर्बन्धक भाव को प्राप्त करती है और अन्तिम यथा प्रवृत्तिकरण करती है तब इसके साथ ही

जीवात्मा की भवपरिणति का परिपाक होता है । यानी तथाभव्यत्व का परिपाक होता है । इस प्रकार भवपरिणति के परिपाक से कर्म-मल अर्थात् तीव्र मिथ्यात्व का धीरे-धीरे ह्रास होता है । परिणामस्वरूप जीवात्मा को प्रथम योगदृष्टि `मित्रा दृष्टि' की प्राप्ति होती है । मित्रा दृष्टि से उसे जिन–प्रवचनानुसारिणी वाणी की प्राप्ति होती है । इस वाणी की प्राप्ति किसी भी दर्शन में रहते हुए (भी) हो सकती है । अन्य शास्त्रों के द्वारा भी वीतराग वाणी की ही प्राप्ति होती है ।

परिचय पातक घातक साधु शुं रे, अकुशल अपचय चेत ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नय हेत ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

परिचय=संबंध होना । **पातक घातक साधु**=पाप नाशक पवित्र पुरुषों का । **शुं**=साथ । **अकुशल**=पाप कर्म । **अपचय**=क्षय होना । **चेत**=चेतना में । **ग्रंथ**=पुस्तक । **अध्यातम**=आत्मिक विकास में साधक (ग्रंथ) । **श्रवण**=सुनना । **मनन**=चिन्तन करना । **परिशीलन**=गहरा चिन्तन करना । **नय हेत**=नय तथा हेतुवाद की विचारणापूर्वक ।

सामान्य अर्थ

उपर्युक्त योग्यता प्राप्त होने पर 1) जीवात्मा को पाप का नाश करने वाले, मोक्षमार्ग के साधक सद्गुरुओं का योग प्राप्त होता है, जिनके सत्संग से आत्मा की अकल्याणकर वृत्तियों का बोध हो जाता है, 2) आत्मा में से कर्ममल घटने लगता है, 3) अध्यात्म-ग्रंथों के श्रवण मनन का अवसर मिलता है और 4) नय-वाद तथा हेतुवादपूर्वक उनका परिशीलन करने का अवसर मिलता है ।

विवेचन

बहुत ही उत्तम सूत्र है–``योग्य बनो, पात्र बनो, सिद्धियाँ आपको स्वयं वरेंगी ।''

बस ! यदि अपनी आत्मा में अध्यात्म की योग्यता प्रगट हुई होगी, तो उसका फल अपने को अवश्य मिलेगा ।

गत गाथाओं में स्तवनकार ने योग्यता का माप-दण्ड बतलाया था। इस गाथा में वे उसका फल बतला रहे हैं। यदि सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की प्रथम भूमिका स्वरूप अभय, अखेद और अद्वेष आदि की प्राप्ति हुई है तो उसके फलस्वरूप 1) ऐसे गीताथ गुरु का योग मिलेगा जो मार्ग के साधक होंगे, 2) आत्मा में से कर्ममल का प्रबल ह्रास होगा, 3) अध्यात्म ग्रंथों के श्रवण का सुयोग्य अवसर प्राप्त होगा, 4) उन ग्रन्थों के मनन-चिंतन की योग्यता प्राप्त होगी और 5) नयवाद और हेतुवाद पूर्वक गहन पदार्थों को समझने की शक्ति प्राप्त होगी।

इन सब वस्तुओं की प्राप्ति क्रमशः होती है।

सद्गुरु का योग तो पारसमणि तुल्य है। पारसमणि के संग के बाद लोहा, लोहा नहीं रह सकता। वह अवश्य ही सुवर्ण बनेगा। इसी प्रकार जब आत्मा को सद्गुरु का योग मिलता है तो उसका विकास तीव्र गति से प्रारम्भ हो जाता है। सद्गुरु के योग से चित्त की मलिनता दूर हो जाती है, चित्त स्वस्थ बन जाता है और फिर आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवण-मनन से आत्मा की योग्यता बढ़ती जाती है। तत्पश्चात् उसे आत्म-स्वरूप की सच्ची प्रतीति होने लगती है।

कारण जोगे हो कारज निपजे रे, एहमां कोई न वाद।
पण कारण विण कारज साधिये रे, ए निज मत उन्माद ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कारण जोगे=कारण (साधन) सामग्री का योग। **कारज**=कार्य। **निपजे**=उत्पन्न होता है। **एहमां**=इसमें। **वाद**=प्रश्न, विवाद। **विण**=बिना। **साधिए**=उत्पन्न करना। **निज मत उन्माद**=अपने मत की कल्पना।

सामान्य अर्थ

कारण के बिना कभी कार्य की सिद्धि नहीं होती है, यह सनातन सत्य है। उपर्युक्त सेवा यानी आत्म-विकास भी कार्य साधक कारणों की प्राप्ति होने पर ही होता है। **``कारण के बिना भी कार्य सिद्ध हो जाये''** यह सिद्धान्त तो मनगढ़न्त है, कोरी मिथ्या कल्पना है, अपनी मान्यता का उन्माद है।

विवेचन

किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए उसके अनुरूप कारणों की आवश्यकता रहती है । कार्य–साधक कारणों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं– 1) उपादान कारण और 2) निमित्त कारण ।

जो कारण (वस्तु) अपनी पूर्वावस्था का त्याग कर उत्तर अवस्था रूप कार्य को प्राप्त करता है, उसे उपादान कारण कहते हैं । जैसेः– घट का उपादान कारण मिट्टी है, तो घट रूप कार्य में मिट्टी ही अपनी पूर्वावस्था का त्याग कर घट रूप में परिवर्तित होती है, अतः मिट्टी घट का उपादान कारण है ।

टेबल, कुर्सी आदि फर्नीचर का उपादान कारण लकड़ी है । मूर्ति का उपादान कारण पत्थर है ।

कार्य के सम्पन्न होने में जो व्यक्ति या पदार्थ सहायता करते हैं, वे निमित्त कारण कहलाते हैं अर्थात् जिनके सहयोग के बिना कार्य की परिणति संभव नहीं है, वे निमित्त-कारण कहलाते हैं जैसे-घट के निर्माण में पानी, चक्र, दण्ड, कुम्भकार इत्यादि निमित्त कारण हैं, क्योंकि उनके अभाव में मिट्टी स्वयं ही घट रूप में परिणत नहीं होती है ।

मूर्ति के निर्माण में भी कारीगर, छैनी, हथौड़ा आदि निमित्त कारणों की आवश्यकता रहती है, उनके बिना मूर्ति का निर्माण संभव नहीं है ।

इससे यह प्रकट होता है कि किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए जितनी आवश्यकता उपादान कारण की है, उतनी ही आवश्यकता निमित्त कारण की भी है । दोनों में से एक के भी अभाव में कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है ।

बालू मिट्टी (नदी की रेत) में घट बनने की योग्यता नहीं है, अतः कुशल से कुशल कुम्भकार भी उसमें से घट नहीं बना सकता है । इसी प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र तल में रहे हुए पत्थर में मूर्ति बनने की योग्यता छिपी हुई होने पर भी जब तक उसे निमित्त कारण नहीं मिलेगा, तब तक उसमें से मूर्ति का निर्माण कभी नहीं हो सकेगा ।

अतः किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए तत्साधक कारणों की उपेक्षा करना हितावह नहीं है ।

योगिराज आनन्दघनजी महाराज फरमाते हैं कि योग्य कारण से कार्य की सिद्धि होती है। इसमें विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है, फिर भी यदि कोई व्यक्ति कारण के बिना ही कार्य की सिद्धि मान लेता है तो यह उसकी बुद्धि का उन्माद ही है।

आत्मा के उत्थान के लिए भी उपादान और निमित्त दोनों कारणों की आवश्यकता रहती है। जिस आत्मा में मोक्ष-गमन की योग्यता नहीं है, उस आत्मा का निमित्त कारण कुछ भी उपकार नहीं करते हैं। जैसे-अभव्य को निमित्त कारण कुछ भी उपकार नहीं करते हैं। जैसे-अभव्य को आत्मा में मोक्षगमन की योग्यता न होने से ज्ञान और चारित्र की साधना उसे कुछ भी लाभ नहीं करती है। इसी प्रकार भव्य आत्मा में मोक्षगमन की योग्यता होते हुए भी जब तक उसे सद्गुरु का योग, जिनशासन की प्राप्ति, मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ आदि नहीं होता है, तब तक उस आत्मा का मोक्ष संभव नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति यह माने कि बिना किसी कारण से ही समय आने पर मेरी आत्मा की मुक्ति हो जाएगी, तो यह उसकी बुद्धि की भ्रमणा ही है।

मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनन्दघन रस-रूप ॥6॥

कठिन शब्दों के अर्थ

मुग्ध=भोले जन। **सुगम=**सरल। **करी=**मानकर। **सेवन=**सेवा। **आदरे=**आरम्भ करते है। **अगम=**अगम्य-कठिन। **अनूप=**अनुपम। **कदाचित्=**कभी। **सेवक-याचना=**सेवक की माँग। **आनन्दघन=**आनन्द का समूह। **रस-रूप=**तद् रूप-एकाकार।

सामान्य अर्थ

इस लोक में मुग्ध जन प्रभु-सेवा को अत्यन्त सुगम मानकर प्रभु सेवा करते हैं परन्तु आनन्दघनजी महाराज कहते है कि प्रभु सेवा की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। प्रभु सेवा का मार्ग अगम्य और अनुपम है। अतः

हे आनन्द रस से परिपूर्ण संभवदेव ! कृपा कर मुझे भी अपनी भक्ति प्रदान करो ।

विवेचन

प्रभु-भक्ति की दुर्लभता बतलाते हुए आनन्दघनजी महाराजा इस गाथा में परमात्मा संभवदेव से सेवा की याचना कर रहे हैं । भोले जन तो समझते हैं कि प्रभु-सेवा तो अत्यन्त सरल है । परन्तु प्रभु-भक्ति को सरल मान बैठना उनके भोलेपन का सूचक है ।

प्रभु-सेवा की प्राप्ति तो अत्यन्त दुष्कर है । प्रभु-सेवा के रहस्य को समझना अत्यन्त कठिन है । भावरहित मात्र बाह्य द्रव्य-पूजा प्रभुसेवा नहीं है । प्रभुसेवा को प्राप्ति के बाद तो भव-भीति भी नष्ट हो जाती है । भावरहित द्रव्य-पूजा फलसाधक नहीं बनती है, इसीलिए तो `कल्याणमन्दिरस्तोत्र' में गाया गया है कि–

``आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव-दुःख-पात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।''

भक्तिरहित हृदय से की गई पूजा फलसाधक कैसे बन सकती है ? अतः फलसाधक प्रभु-सेवा की प्राप्ति के लिए आनन्दघनजी महाराज सम्भवनाथ प्रभु से याचना करते हुए कहते हैं कि हे नाथ ! कृपा करो और सेवक की इस याचना को स्वीकार करो, मुझे भी आपकी सेवा का अवसर प्राप्त हो । सेवक की याचना है कि हे नाथ ! जब कभी भी आप अपनी सेवा मुझे दें तो ऐसी सेवा दें कि उस सेवा से मैं आनन्द रस से परिपूर्ण बन जाऊँ । ऐसी सेवा अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त होने पर ही मिल सकती है ।

चतुर्थ स्तवन

पूर्व भूमिका

यह विराट् संसार कुवादियों के जाल से भरा पड़ा है । यहाँ भावपूर्वक वीतराग के दर्शनों की प्राप्ति होना दुष्कर ही नहीं अति दुष्कर है ।

जंगली पशुओं से परिपूर्ण पर्वतीय-गुफाओं तथा सघन लता-वृक्षों से आच्छादित जंगल को पार करना जिस प्रकार अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म आदि बाधक पर्वतों तथा अज्ञानादि भयंकर पशुओं की गर्जनाओं से परिपूर्ण इस संसार-अटवी को पार करना भी कोई सरल कार्य नहीं है ।

राग-द्वेष से परिपूर्ण इस संसार में प्रभु के दर्शनार्थी के सम्मुख बड़ी ही विकट समस्या है । प्रभु-दर्शन के लिए आत्मा को भयंकर युद्ध खेलना पड़ता है अन्तरंग शत्रुओं से । प्रभु-दर्शन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का बहुत ही सुन्दर निर्देश किया गया है इस स्तवन में । मानों स्तवनकार ने उस अवस्था के भावों का साक्षात् स्पर्श किया हो । उसी भावोल्लास से परिपूर्ण है यह स्तवन ।

तो चलें, हम भी प्रभु-दर्शन के लिए उत्सुक बन कर एक महाकवि के भावों के महोदधि में अपने आप को डुबो दें ।

4 अभिनन्दन जिन-स्तवन

(राग : धन्या श्री सिंधुओ-आज निहेजो रे बीसै नाहलो-ए-देशी)

अभिनन्दन जिन दरिसण तरसिये, दरिसण दुर्लभ देव ।
मत-मत-भेदे रे जो जइ पूछिए, सहु थापे अहमेव
।। अभिनन्दन०...1।।

सामान्ये करी दरिसण दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष ।
मद में घेर्यो रे अंधो किम करे, रवि शशि रूप विलेष ।।
।। अभिनन्दन०...2।।

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोइए, अति दुर्गम नयवाद ।
आगमवादे हो गुरुगम को नहि, ए सबलो विषवाद ।।
।। अभिनन्दन०...3।।

घाती डूंगर आडा अति घणा, तुज दरिसण जगनाथ ।
धिट्ठाइ करि मारग संचरूं, सेंगु कोइ न साथ ।।
।। अभिनन्दन०...4।।

दरिसण-दरिसण रटतो जो फिरूं, तो रण रोझ समान ।
जेहने पिपासा हो अमृत-पान नी, किम भांजे विष-पान ।।
।। अभिनन्दन०...5।।

तरस न आवे हो मरण-जीवन तणो, सीझे जो दरिसण काज ।
दरिसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, आनन्दघन महाराज ।।
।। अभिनन्दन०...6।।

अभिनन्दन-जिन दरिसण तरसिये, दरिसण दुर्लभ देव ।
मत-मत-भेदे रे जो जइ पूछिए, सहु थापे अहमेव ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अभिनन्दन भरत क्षेत्र के चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन स्वामी । जिन=राग-द्वेष के विजेता । **दरिसण=**दर्शन । **तरसिये=**तृषातुर होना, वस्तु-प्राप्ति के लिए आकुल-व्याकुल होना । **दुर्लभ=**कठिनाई से प्राप्त । **मत-मत-भेदे=**अन्य-अन्य दर्शन । **जो=**यदि । **जई=**जाकर । **थापे=**सिद्ध करते हैं । **अहमेव=**मैं ही ।

सामान्य अर्थ

हे अभिनन्दन जिनेश्वर ! मैं आपका दर्शन पाने के लिए अत्यन्त तरस रहा हूँ, लेकिन आपका `दर्शन' पाना बहुत ही कठिन है । अन्य-अन्य दर्शनकारों के पास जाकर पूछता हूँ तो सब अपने ही दर्शन को श्रेष्ठ बतलाते हैं और मुझे प्रभु-दर्शन का प्रलोभन देकर अपनी ओर खींचते हैं ।

विवेचन

चरमावर्त में प्रवेश करने के बाद भव्यात्मा को शुद्ध मोक्ष-मार्ग पाने की इच्छा पैदा होती है लेकिन जब तक उसे सद्गुरु का योग नहीं मिलता तब तक मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना असम्भव है ।

शुद्ध मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए पूज्य आनन्दघनजी महाराज अभिनन्दन भगवान की स्तवना करते हुए फरमाते हैं कि इस विराट् विश्व में आपके दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है । यहाँ `दर्शन' शब्द का अर्थ है–`वीतराग तत्त्व की सच्ची पहिचान' अथवा वीतराग प्ररूपित तत्त्व पर गहन श्रद्धा ।

चरमावर्त में प्रविष्ट आत्मा को जब मोक्ष तत्त्व की अभिरुचि पैदा होती है, तो वह मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए प्रयत्न करती है । परन्तु यह विश्व तो अनेक मतमतान्तरों का अखाड़ा है । उनमें मोक्ष को मानते हुए भी मोक्ष के स्वरूप और मोक्षमार्ग की मान्यताओं में परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है । कोई ज्ञान से मुक्ति मानता है, कोई क्रिया से मुक्ति मानता है तो कोई विनय से ।

कोई दर्शन मोक्ष में आत्मा के अस्तित्व से ही इन्कार करता है तो कोई मोक्ष में आत्मा को गुणहीन स्वीकार करता है । कोई ब्रह्म में आत्मा के मिल जाने को ही मोक्ष कहते हैं । इस प्रकार मोक्ष-स्वरूप के विषय में अनेकविध मत प्रचलित हैं । किसी भी मतवाले के पास जाकर पूछते हैं तो वे अपने ही मार्ग को सच्चा बतलाते हैं । हे प्रभो ! भद्रिक आत्माएँ उन राग-द्वेष से युक्त मतावलम्बियों के जाल में फँस जाती है और इस प्रकार वे आत्माएँ विशुद्ध मोक्षमार्ग से वंचित रह जाती हैं ।

हे प्रभो ! जब तक आत्मा को आपके वीतराग स्वरूप की पहिचान नहीं होती है तब तक मोक्षमार्ग में वह एक कदम भी नहीं उठा सकती है ।

विशुद्ध मोक्षमार्ग की प्राप्ति में भव्यात्मा को अनेकविध कठिनाइयों में से गुजरना पड़ता है, उन कठिनाइयों का विशद वर्णन आगे की गाथाओं में बताया जाता है ।

सामान्ये करी दरिसण दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष ।
मद में घेर्यो रे अंधो किम करे, रवि-शशि रूप विलेष ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सामान्ये करी=सामान्य से । **दोहिलुं**=कठिनाई भरा है । **निर्णय**=फैसला । **सकल**=सम्पूर्ण । **विशेष**=अत्यन्त दुर्लभ । **मद में**=अभिमान में । **घेर्यो**=घेरा हुआ । **अंधो**=अंधजन । **रवि**=सूर्य । **शशि**= चन्द्रमा । **रूप**=रूप । **विलेष**=पृथक्करण ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! सामान्य रूप से भी आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है अथवा सामान्य रूप से भी आपके दर्शन को समझना अत्यन्त कठिन है, तो फिर विशेष रूप से समझना अत्यन्त कठिन हो तो इसमें आश्चर्य क्या ? मद से घिरा हुआ अन्ध जैसे सूर्य और चन्द्र के स्वरूप को कैसे जान सकता है, वैसे ही हे प्रभो ! आपके (जैन-दर्शन) दर्शन को समझना भी अत्यन्त कठिन है ।

विवेचन

अंधे व्यक्ति के लिए चन्द्र-सूर्य के दर्शन अशक्य हैं । कदाचित्

किसी की प्रेरणा से वह चन्द्र-सूर्य के स्वरूप को समझ जाय और उसे चित्र रूप में बना भी सके। परन्तु वही अन्धा यदि शराब पी ले तो उसके लिए चन्द्र-सूर्य का चित्र बनाना भी अशक्य ही हो जाता है। मदोन्मत्त अंधा व्यक्ति सूर्य और चन्द्र को देख ही नहीं सकता है तो फिर उन दोनों की विशेषताओं को तो कैसे समझ सकता है ?

उसी प्रकार हे प्रभो ! आपका दर्शन अत्यन्त गहन है और वह सामान्य-विशेष उभयात्मक है। जो आपके दर्शन से पराङ् मुख हैं और इसके साथ ही जिन्होंने कदाग्रह का मदिरापान भी कर लिया है, ऐसे व्यक्ति हे प्रभो ! आपके दर्शन के बारे में क्या बता सकते हैं ?

हे प्रभो ! यह दुनियाँ कदाग्रहवादियों से भरी पड़ी है। वे आपके दर्शन को समझने के लिए अंधे हैं और इसके साथ ही अभिमान से ग्रस्त है, अतः वे तो आपके स्वरूप को कैसे समझ सकते हैं ?

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोइए, अति-दुर्गम नयवाद ।
आगमवादे हो गुरुगम को नहि, ए सबलो विषवाद ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

हेतु-विवादे=हेतुवाद (तर्क से) । **चित्तधरी जोइए=**मन को स्थिर कर प्रभु को देखने जाय। **अति दुर्गम=**अत्यन्त कठिन। **नय-वाद=**नयवाद (वस्तु के प्रति एक अभिप्राय को जानने का साधन)। **आगमवादे=**शास्त्र-प्रमाण से। **गुरुगम=**गुरु का सहकार परम्परा)। **सबलो=**सबसे बड़ा। **विषवाद=**अत्यन्त कठिनाई।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आपके दर्शन अर्थात् तत्त्व-व्यवस्था को पाने में (समझने में) दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं–1) यदि हेतुवाद से आपके दर्शन को समझने का प्रयत्न करता हूँ तो नयवाद को समझना अत्यन्त कठिन लगता है और 2) यदि आगमवाद से आपके दर्शन को समझने का प्रयत्न करूँ तो सद्गुरु का मार्गदर्शन नहीं मिल पा रहा है। इसलिए हे प्रभो ! मेरा मन इन परिस्थितियों से अत्यन्त उद्विग्न बन रहा है।

विवेचन

हे प्रभो ! आपके दर्शन को समझने के लिए जब कोई मुझे नयवाद की सलाह देता है, तो मैं उसे समझने का प्रयत्न करता हूँ परन्तु उस नयवाद को समझना तो मेरे लिए लोहे के चने चबाने जैसा काम है, नयवाद को समझना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है ।

नयवाद को समझे बिना आपके दर्शन को समझना शक्य नहीं है, अतः मेरे सामने नयवाद को समझने की समस्या आ खड़ी हुई है । आपके दर्शन को समझने के लिए कोई मुझे आगम शास्त्र को पढ़ने की सलाह देता है, परन्तु उस आगम-शास्त्र को बिना गुरुगम समझना अत्यन्त कठिन है ।

वर्तमान में आगमों के रहस्यपूर्ण भावों को समझने वाले गीतार्थ गुरुओं का भी (प्रायः) अभाव दिखाई देता है इसलिए हे प्रभो ! आपके दर्शन में प्रवेश पाने के लिए मेरे सामने ये दो सबसे बड़ी कठिनाइयों आ खड़ी हुई हैं ।

हेतुवाद या नयवाद से परमात्म-दर्शन का बोध करना भी सरल कार्य नहीं है क्योंकि सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति हेतुवाद और नयवाद को आसानी से नहीं समझ सकता है ।

मात्र आगम के पठन-पाठन से भी वीतराग-दर्शन का बोध नहीं होता, उसके लिए भी गुरु-परम्परा की अनिवार्यता रहती है । परन्तु उन दोनों साधनों की प्राप्ति दुर्लभ दिखाई दे रही है । वास्तव में परमात्मा वीतराग भगवान के वचनों की गाढ़ श्रद्धा के बिना अन्य साधनों की प्राप्ति भी निरर्थक ही है ।

घाती डूंगर आडा अति घणा, तुज दरिसण जगनाथ ।
धिट्ठाइ करि मारग संचरूं, सेंगु कोइ न साथ ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

घातिडुंगर=घात करने वाले पर्वत/चार घाति कर्म । आड़ा बीच में । **अति घणा=**बहुत । **धिट्ठाइ=**धृष्टता । **मारग=**मार्ग । **संचरूं=**आगे बढ़ूँ । **सेंगु=**साथी ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आपका दर्शन प्राप्त करने के लिए जब आगे बढता हूँ, तो मार्ग में बड़े-बड़े पर्वत बाधक बनते हैं और धृष्टता करके यदि मैं आगे चलने का प्रयत्न करूँ भी तो उस मार्ग को बतलाने वाला कोई साथी भी नहीं है ।

विवेचन

प्रभुदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दर्शनमोहनीय के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से होती है । सम्यग्दर्शन आत्मा का मौलिक गुण है । उस गुण को घात करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म है । इसके साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय भी घाती कर्म कहलाते हैं, क्योंकि ये आत्मा के ज्ञानादि मूलगुणों का घात करते हैं ।

आनन्दघनजी प्रभु-प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! आपके दर्शन को पाने के लिए जब मैं आगे बढ़ता हूँ तो ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्म मेरे बीच में पर्वत बनकर बाधक बनते हैं और उनके अवरोध के कारण मैं दर्शन नहीं कर पाता हूँ ।

यदि मैं अति साहस करके आपके दर्शन के लिए निकल पड़ूँ, तो जिस प्रकार कोई व्यक्ति मार्गदर्शक के बिना भयंकर अटवी को पार नहीं कर सकता है और अपनी इच्छानुसार चलने पर मार्ग-भूला ही रहता है, और अपनी इच्छानुसार चलने पर मार्ग-भूला ही रहता है, उसी प्रकार हे प्रभो ! आपके दर्शन के लिए मैं निकल भी पड़ूँ, तो उसके लिए मुझे कोई योग्य मार्गदर्शक नहीं, मिल पा रहा है । मार्गदर्शक के बिना यदि मैं आगे बढ़ने जाऊँ, तो मार्ग-भ्रष्ट होने की संभावना है । अतः हे प्रभो ! मेरे सम्मुख ये कैसी अजीब समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं ।

दरिसण-दरिसण रटतो जो फिरूँ, तो रण रोझ समान ।
जेहने पिपासा हो अमृत-पान नी, किम भांजे विष-पान ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

रटतो=रटन करते हुए । **फिरूँ**=घूमना । **रण-रोझ समान**=जंगल

के रोझ प्राणी के समान । **पिपासा=**प्यास । **अमृतपान=**अमृत को पीने की । **भांजे=**पूर्ण होना । **विषपान=**जहर का पान ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! यदि `दर्शन-दर्शन' इस प्रकार कहता हुआ चारों ओर फिरूँ तो जंगल के रोझ (गाय के सदृश प्राणी) के समान ही मेरी दशा हो जाय और उससे कुछ भी सिद्धि होने वाली नहीं है । यदि किसी को अमृत पीने की इच्छा हो और वह यदि विष का पान करे, तो उसकी अमृत पिपासा कैसे शांत हो सकती है !

विवेचन

यदि दुनिया के अन्दर कोई व्यक्ति `प्रभु-दर्शन' `प्रभु-दर्शन' इस प्रकार रटता हुआ फिरे तो लोग उसे पागल ही कहेंगे । मात्र नाम-रटन से कार्य सिद्धि नहीं होती है । भयंकर जंगल में अथवा रेगिस्तान में कोई रोझ प्राणी पानी के लिए भटकता फिरे तो उसे पानी की प्राप्ति कहाँ से होवे । पानी की प्राप्ति बिना उसकी तृषा की शांति भी कैसे होवे ।

जिस प्रकार किसी प्राणी को अमृत-पान की तीव्र इच्छा हो और उसके सामने विष का कटोरा धरा जाय तो उसकी इच्छा कैसे शांत हो सकती है ? शांत हो जाने के बजाय उसकी इच्छा उल्टी तीव्र बनती है । उसी प्रकार हे प्रभो ! आपके दर्शन के लिए मुझे अनेक विघ्न आ रहे हैं, परन्तु जब तक आपके दर्शन न हो जाय, तब तक मुझे शांति कैसे मिल सकती है ? विघ्नों से मैं हार खाने वाला नहीं हूँ, उन विघ्नों ने तो आपके दर्शन की पिपासा को और भी तीव्र बना दिया है ।

तरस न आवे हो मरण-जीवन तणो,
सीझे जो दरिसण काज ।।
दरिसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी,
आनन्दघन महाराजा ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

तरस=तृषा । **मरण-जीवन तणो=**मृत्यु तथा जीवन का । **सीझे=**सिद्ध

होवे । **दरिसण काज=**दर्शन रूप कार्य । **सुलभ=**सरल । **कृपा=**महरबानी । **आनन्दघन=**आनन्द की समूह रूप ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! यदि मुझे दर्शन प्राप्त हो जाय, तो मेरे जीवन-मरण का प्रश्न हल हो जाय, अर्थात् आपके दर्शन के बाद मुझे जन्म-मरण का भी भय नहीं रहेगा । ऐसे तो आपका दर्शन होना कठिन है परन्तु हे आनन्द के समूह रूप अभिनन्दन प्रभो ! आपकी परम कृपा से यह दर्शन सुलभ हो सकता है ।

विवेचन

प्रभु-कृपा से किस कार्य की सिद्धि नहीं होती है ? प्रभु-कृपा तो सर्व सिद्धियों का अमोघ-उपाय है । अत्यन्त दुर्लभ वस्तु भी प्रभु-कृपा से सुलभ बन जाती है ।

इस संसार में प्रभु-दर्शन यानी आत्म-दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । परन्तु आनन्दघनजी महाराजा अपने नाथ अभिनन्दन स्वामी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि-हे नाथ ! आपके दर्शन का कार्य मेरे प्रयत्नों से नहीं किन्तु आपकी कृपा से ही सम्भव है । अतः हे प्रभो ! आप मुझ पर `कृपा दृष्टि' बनाओ ताकि मेरे इस कार्य की सिद्धि हो जाय । आपके दर्शन की प्राप्ति के बाद मुझे जन्म-मरण का भय रहने वाला नहीं है । इस संसार में आत्मा को जन्म-मरण का भय तभी तक सताता है, जब तक उसे प्रभु-दर्शन की प्राप्ति नहीं होती । हे प्रभो ! कृपा कर मुझे सम्यग्दर्शन प्रदान करो, ताकि भव-भ्रमण का भय मिट जाय ।

पञ्चम स्तवन

पूर्व भूमिका

भक्त को जगी है परमात्म-दर्शन की अपूर्व प्यास । कैसे उसका शमन हो ? उसका मार्ग बता रहे हैं आनन्दघनजी महाराज । परमात्मा के चरणों में कर दो अपनी आत्मा का समर्पण । भक्त की व्यथा है कैसे करूँ यह समर्पण ? आनन्दघनजी मार्ग बतला देते हैं–

पहले छोड़ो अपनी बहिरात्म दशा को ।
फिर स्थिर बनो अन्तरात्म-दशा में ।
फिर डूब जाओ परमात्म-दशा में ।

क्या है यह बहिरात्म दशा और अन्तरात्म दशा ? आनन्दघनजी अपने ही शब्दों में उसका स्पष्ट निर्देश कर रहे हैं ।

प्रेरणा का स्त्रोत कहो अथवा प्रभु की स्तवना कहो, सुंदर संगम कर दिया है इन दोनों का । प्रभु की स्तवना के साथ-साथ अज्ञान-निद्रा में सोए हुए सबको जागने की प्रेरणा दी है आनन्दघनजी ने ।

चलो ! अब तो जागें योगिराज की इस अमृत वाणी को सुनकर ।

5 सुमतिनाथ-स्तवन

(राग : वसंत या केदारी)

सुमति चरण-कज आतम-अरपणा,
दरपण जिम अविकार, सुज्ञानि।
मति-तरपण बहु-सम्मत जाणिए,
परिसरपण सुविचार, सुज्ञानि ।। ।। सुमति०...1।।

त्रिविध सकल तनु धर-गत आतमा,
बहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानि ।
बीजो अंतर-आतम तीसरो,
परमातम अविच्छेद, सुज्ञानि ।। ।। सुमति०...2।।

आतम-बुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघ-रूप, सुज्ञानि ।
कायादिकनो हो साखी-धर रह्यो, अंतर-आतम रूप, सुज्ञानि ।।
।। सुमति०...3।।

ज्ञानानंदे हो पूरण पावनो, वर्जित सकल उपाध, सुज्ञानि ।
अतीन्द्रिय गुण-गण-मणि आगरु ।
इम परमातम साध, सुज्ञानि ।। ।। सुमति०...4।।

बहिरातम तजी अन्तर-आतम, रूप थई थिर भाव, सुज्ञानि ।
परमातम नुं हो आतम भाववुं, आतम-अरपण-दाव, सुज्ञानि ।।
।। सुमति०...5।।

आतम-अरपण वस्तु विचारतां, भरम-टले मति दोष, सुज्ञानि ।
परम पदारथ संपत्ति संपजे, आनन्दघन-रस पोष, सुज्ञानि ।।
।। सुमति०...6।।

सुमति चरण कज आतम अरपणा,
दरपण जिम अविकार, सुज्ञानि ।
मति तरपण बहु सम्मत जाणिए,
परिसरपण सुविचार, सुज्ञानि ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सुमति=पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ भगवान अथवा सुन्दर बुद्धि । **चरण=**पैर । **कज=**कमल । **आतम=**आत्मा । **अरपणा=**अर्पण । **दरपण=**दर्पण । **जिम=**उस तरह । **सु-ज्ञानि=**हे सुंदर ज्ञान वाले । **मति-तरपण=**बुद्धि को संतोष देने वाला । **बहु-सम्मत=**बहुतों को मान्य । **परिसरपण=**गमन करना । **सुविचार=**अच्छा विचार ।

सामान्य अर्थ

हे ज्ञानियों ! दर्पण के समान विकार रहित अर्थात् निर्मल ऐसे सुमतिनाथ भगवान के चरण कमलों में आत्मा का समर्पण भाव बुद्धि को आनन्दित करने वाला है । परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण सभी विद्वज्जनों को मान्य है । इस आत्म-समर्पण से (भक्त का) अच्छे विचारों में प्रवेश होता है ।

विवेचन

राग और द्वेष के मैल से अपवित्र बनी हुई अपनी आत्मा को पवित्र और निर्मल बनाने के लिए परम-पवित्र परमात्मा की शरण अनिवार्य है । ज्ञान की सफलता का आधार उसके सदुपयोग में है, अतः यदि आप अपने-आपको ज्ञानी समझते हैं तो आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि परमात्मा की शरण को स्वीकार करें ।

निर्मल ज्ञानवाले ज्ञानीजनों को सम्बोधित करते हुए आनन्दघनजी कहते हैं कि हे ज्ञानी पुरुषो ! आप परम पवित्र सुन्दर बुद्धिवाले ऐसे सुमतिनाथ भगवान् की शरण स्वीकार करो, दर्पण के समान निर्मल ज्ञानवाले सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में अपनी आत्मा को समर्पित करो ।

`समर्पण' एक महान् भाव है । मात्र काया से दो-चार बार झुक

जाना, नमस्कार कर लेना सच्चा समर्पण नहीं है। सच्चा समर्पण तो मन के साथ भावपूर्वक होना चाहिये। मन का अर्पण ही सच्चा समर्पण है।

परमात्मा के चरणों में मन के समर्पण से ही नमस्कार भाव-नमस्कार बनता है और मोक्ष का साधक बनता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए एक ही भाव-नमस्कार पर्याप्त है। भाव-पूर्वक आत्म-समर्पण के लिए आनन्दघनजी हमें प्रेरणा दे रहे हैं।

परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण करने से अपनी बुद्धि निर्मल बनती है। जिस प्रकार जल से वस्त्र का मैल हटता है, उसी प्रकार परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण से अपनी अविवेकपूर्ण बुद्धि का ह्रास हो जाता है और बुद्ध पवित्र बनती है। कुबुद्धि के नाश से मन का भ्रमण भी घट जाता है और मन परमात्मा के चरणों में अधिकाधिक केन्द्रित होने लगता है। आत्मसमर्पण से बुद्धि में सद् विचार बढ़ने लगते हैं और आत्मा को परमानन्द का आस्वाद आने लगता है। निर्मल बुद्धि से सत्कार्य करने की प्रेरणा मिलती है और सत्कर्म के फलस्वरूप आत्मा मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ सकती है। अतः मुमुक्षुजनों के लिए परमात्मा की शरण अत्यन्त अनिवार्य है।

त्रिविध सकल तनु धर गत आतमा, बहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानि।
बीजो अंतर आतम तीसरो, परमातम अविच्छेद, सुज्ञानि ॥2॥

कठिन शब्दों के अर्थ

त्रिविध=तीन प्रकार का। **सकल तनु-धर गत**=सकल प्राणियों में रहा हुआ। **आतमा**=आत्मा। **बहिरातम**=बहिरात्मा। **धुरि**=प्रथम। **अन्तर आतम**=अन्तरात्मा। **तीसरो**=तृतीय। **परमातम**=परमात्मा। **अविच्छेद**=अखंड।

सामान्य अर्थ

विश्व में जितने प्राणी हैं, उन सब को तीन भागों में बाँट सकते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। परमात्मावस्था आत्मा की अखण्ड और अविनाशी अवस्था है।

विवेचन

संसार में सभी प्राणियों का आत्म-विकास एक समान नहीं होता

है । जब तक सन्मार्ग-प्रभु-पंथ का बोध नहीं होता है तब तक आत्म-स्वरूप की पहिचान भी नहीं होती है ।

अरूपी और इन्द्रियातीत पदार्थ होने के कारण आत्मा को बाह्य भौतिक साधनों के माध्यम से समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है, अतः मार्ग भूले हुए की भाँति कई आत्माएँ देह में ही आत्म-बुद्धि कर बैठती हैं और आत्म-शुद्धि के स्थान पर देह-शुद्धि में ही रम जाती हैं । देह में आत्म-बुद्धि रखने वाली ऐसी आत्माएँ बहिरात्मा कहलाती है ।

देह में आत्म-बुद्धि रखने वाली आत्माएँ भौतिक सुख-समृद्धि में ही सच्चा सुख मानती हैं और उसे पाने के लिए तनतोड़ मेहनत करती हैं ।

आत्मा, देह से भिन्न पदार्थ है—इस प्रकार की मान्यतावाली आत्मा अन्तरात्मा कहलाती है । आत्मा और देह के भिन्न स्वरूप का उसे सच्चा ज्ञान होता है । वह देह को अनित्य और आत्मा को नित्य, देह को नाशवंत और आत्मा को अविनाशी मानती है । देह के सुखों का त्याग कर आत्मसुख तो पाने के लिए वह प्रयत्नशील बनती है । उसकी प्राप्ति के लिए परमात्मा का आलम्बन लेती है ।

परमात्मावस्था आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति रूप अवस्था है । आत्मा ही जब सर्व कर्मों से मुक्त बन जाती है, तब परमात्म-पद को प्राप्त करती है । यह परमात्म पद शाश्वत है । इस पद की प्राप्ति के बाद आत्मा पुनः संसार में जन्म नहीं लेती है । यह सदा काल परमानन्द की अनुभूति में मग्न रहती है ।

आतम-बुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघ रूप, सुज्ञानि ।
कायादिकनो हो साखी-धर रह्यो, अंतर-आतम रूप, सुज्ञानि।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

आतम बुद्धे=आत्मा की बुद्धि से । **कायादिक=**शरीर । **ग्रह्यो=**ग्रहण करना । **अघ रूप=**पाप रूप । **साखिधर=**साक्षी ।

सामान्य अर्थ

देह आदि पुद्गल पदार्थों को आत्म स्वरूप मानना यह आत्मा की पाप रूप बहिरात्म दिशा है । देह आदि में से आत्मबुद्धि को हटाकर,

देह-प्रवृत्ति में मात्र साक्षीभाव रखना अर्थात् देह से आत्मा को भिन्न मानना यह अन्तरात्मा की निशानी है ।

विवेचन

कितना सुन्दर और स्पष्ट वर्णन है ! कितनी संक्षिप्त और पूर्ण व्याख्याएँ की हैं आनंदघनजी महाराज ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा की । `शरीर' ही मैं हूँ–अर्थात् `शरीर ही आत्मा है'' यह मान्यता बहिरात्म-भाव की निशानी है । जिस प्रकार कोई व्यक्ति मद्य-पान कर नशे में चक चूर हो जाय, तो वह दूसरे के घर को भी अपना घर मान बैठता है । दूसरे की पत्नी को भी अपनी पत्नी मान बैठता है । बस ! उसी प्रकार मोह-मदिरा का प्रेम से पान करनेवाली संसारी आत्माएँ भी अपने स्वरूप को भूल जाती हैं और स्वयं जिस रूप नहीं हैं उस भिन्न रूप को अपना स्वरूप मान लेती हैं ।

देह में आत्म बुद्धि के कारण ही आत्मा धन-गृह-परिवार आदि को `अपना मेरा' मान बैठती है तथा उन वस्तुओं को पाने के लिए और प्राप्त वस्तुओं के संरक्षण के लिए सतत प्रयत्नशील बनी रहती है । धन-स्वजन आदि में ममत्व बुद्धि के कारण उसके नाश में अपना नाश समझती है, अतः उसे वस्तु के वियोग में अत्यन्त शोक रहता है और मनचाही वस्तु मिल जाय, तो मानों स्वर्ग मिल गया हो, इस प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है । अर्थात् बहिरात्मा के सुख-दुःख का आधार भौतिक समृद्धियाँ ही होती हैं ।

इस दशा में संसार की अनेक आत्माएँ पड़ी हैं । बहिरात्मा को चार्वाक दर्शन की मान्यता से भी बल मिलता है–Eat, drink and be marry. `खाओ, पीओ, मौज करो' की मान्यता में उसका विश्वास हो जाता है । परलोक को वह बिल्कुल नहीं मानती है । उसकी दृष्टि में तो इस लोक के ही सुखों का विचार होता है । प्रभु-पंथ की प्राप्ति के पूर्व सभी आत्माएँ इसी दशा में होती हैं ।

आत्मा के विकास की पहली भूमिका है–अन्तरात्म दशा । इस दशा में आत्मा को अपने सत्स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान होता है । देह से भिन्न आत्मा के स्वरूप को वह मात्र मानती ही नहीं है, बल्कि शुद्ध स्वरूप को पाने के

लिए प्रयत्नशील भी रहती है। आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का उसे परिचय हो जाता है और उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य 'परमात्म-पद' को प्राप्त करना हो जाता है उसी के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहती है।

संसार में होने वाली विचित्र घटनाओं को वह ज्ञाता-दृष्टा बनकर देखती है, उसके साथ तन्मय नहीं होती है। शरीर के सुख-दुःख में वह मध्यस्थता को धारण करती है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पाने का ही प्रयत्न करती है।

ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो, वर्जित सकल उपाध, सुज्ञानि।
अतीन्द्रिय गुण-गण-मणि आगरु, इम परमातम साध, सुज्ञानि ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ज्ञानानन्दे=ज्ञान के आनन्द से। **पूरण=**भरपूर। **पावनो=**पवित्र। **वर्जित=**रहित। **सकल उपाध=**सम्पूर्ण उपाधियाँ। **अतीन्द्रिय=**इन्द्रियों से अगोचर। **गुण-गुण=**गुणों का समुदाय। **मणिआगरु=**मणियों की खान। **इम=**इस तरह। **साध=**साधो।

सामान्य अर्थ

ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण, परम पवित्र, कर्म आदि की उपाधियों से रहित इन्द्रियों के अगोचर और गुण-रत्नों की खान समान परमात्म अवस्था को समझना चाहिये।

विवेचन

गत गाथाओं में आत्मा की प्रथम दो अवस्थाओं का स्पष्ट स्वरूप निर्देश किया था, अब इस गाथा में स्तवनकार आत्मा की शुद्ध दशा का स्पष्ट शब्दों में वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है, वह ज्ञान से परिपूर्ण है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानता आत्मा की विभाव दशा है। ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण नष्ट हो जाने से आत्मा केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) को प्राप्त करती है और लोक-अलोक के सर्व भावों को स्पष्ट जानती है। इस ज्ञान की प्राप्ति से आत्मा को वर्णनातीत आनन्द

की अनुभूति होती है । जब सामान्य ज्ञान से भी हमें आनन्द मिलता है, तो पूर्ण ज्ञान से कितना आनन्द मिलता होगा ? उसका वर्णन शक्य नहीं है ।

परमात्म अवस्था को प्राप्त आत्मा इस प्रकार के ज्ञानानन्द की मस्ती का साक्षात् अनुभव करती है ।

परमात्म अवस्था में आत्मा, कर्मजन्य सर्व उपाधियों से मुक्त हो जाती है । शुद्धात्मा का स्वरूप इन्द्रियों के अगोचर है, वह अनेक गुणों की खान रूप होती है । यह परमात्मा का स्वरूप है । इस स्वरूप के दर्शन कराते हुए आनन्दघनजी कहते हैं कि–हे बुद्धिमान पुरुषो ! परमात्मा के इस स्वरूप को समझकर उसे पाने के लिए प्रयत्नशील बनो । अपनी आत्मा का यही स्वरूप है ।

कर्म के आवरण को हटाकर अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का प्रयत्न करो, यही मेरी इच्छा है ।

बहिरातम तजी अन्तर आतम, रूप थई थिर भाव, सुज्ञानि ।
परमातम नुं हो आतम भाववुं, आतम अरपण-दाव, सुज्ञानि ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

तजी=छोड़कर । **अन्तर आतम रूप=**अन्तरात्म अवस्था । **थई=**होकर । **थिर-भाव=**स्थिर भाव । **आतम-अरपण=**आत्मा का समर्पण । **दाव=**खेल ।

सामान्य अर्थ

परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण का सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाते हुए आनन्दघनजी कहते हैं कि–हे विज्ञजनो ! बहिरात्म भाव का त्यागकर आत्म स्वरूप में स्थिर रहकर अपनी ही आत्मा के परमात्म-स्वरूप का चिन्तन करो, यही आत्मसमर्पण का राजमार्ग है ।

विवेचन

भक्त हृदय की एक ही चाह है–परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण की । समर्पण की बात कहने में जितनी सरल है, करने में उतनी ही कठिन है ।

क्या आप परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण करना चाहते हैं ? हाँ । क्या आप आत्मसमर्पण की विधि से परिचित हैं ? नहीं । तो आपकी इस समस्या को स्पष्ट कर देते हैं आनन्दघनजी महाराजा । वे कहते हैं कि–हे मतिमान् पुरुषो ! परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण के लिए बहिरात्म-भाव का त्याग कर दो । देह में जो आत्म-बुद्धि है, उसका त्याग सर्वप्रथम जरूरी है, क्योंकि उसके त्याग के बिना आत्म-समर्पण शक्य नहीं है ।

देह के ममत्व में जो फँसा हुआ है, वह परमात्मा से प्रेम कैसे कर सकता है ? अतः सर्व प्रथम देहात्म-भाव का विसर्जन करो । देहात्म-भाव के विसर्जन के बाद अतरात्म-भाव का सर्जन करो ।

``मैं आत्मा हूँ'', ``मैं शरीर से भिन्न हूँ'', ``कर्म का कर्त्ता और कर्म फल का भोक्ता मैं स्वयं हूँ ।'' इत्यादि भावनाओं से अन्तरात्म भाव में स्थिर बनो । जब अन्तरात्म भाव में स्थिरता आ जाय तो फिर अपनी ही आत्मा के परमात्म-भाव का विचार करो । `मैं शुद्ध, हूँ ।' `मैं बुद्ध हूं ।' `मैं अनन्त ज्ञानी हूँ ।' मैं अक्षय सुख का भोक्ता हूँ ।'

परमात्मा के शुद्ध स्वरूप के चिंतन में एकाकार बन जाना यही तो परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण है ।

आतम अरपण वस्तु विचारता, भरम टले मति-दोष, सुज्ञानि ।
परम पदारथ संपत्ति संपजे, आनन्दघन रस पोष, सुज्ञानि।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

भरम=भ्रम । **टले=**नाश होवे । **मति-दोष=**बुद्धि का दोष । **परम पदारथ=**परम पदार्थ । **संपजे=**प्राप्ति होती है ।

सामान्य अर्थ

आत्म-समर्पण के रहस्य का विचार करने से बुद्धि का भ्रमात्मक अज्ञान दोष नष्ट हो जाता है और आनन्द के समूह से परिपूर्ण परमपद मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

विवेचन

`समर्पण से सिद्धि' यह सनातन सत्य है । परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण करने से क्या फायदा होगा ? इस कथन का उत्तर दे रहे हैं आनन्दघनजी महाराजा । वे कहते हैं कि परमात्मा के चरणों में आत्म-समर्पण के विचार मात्र से ही बुद्धि का अज्ञान दोष दूर होने लगता है । सिंह की गर्जना सुनकर कायर हिरणों का समूह कैसे दिख सकता है ? बस ! इसी प्रकार प्रभु के चरणों में आत्म-समर्पण के लिए जब आत्मा निर्णय कर लेती है, त्योंही बुद्धि की मलिनता दूर होने लगती है । बुद्धि निर्मल बनने से वह सत्प्रवृत्ति की प्रेरक बनती है । मानव-बुद्धि ही मानव के पतन और उत्थान का कारण है ।

यदि बुद्धि निर्मल होती है तो वह आत्म-विकास में सहायक बनती है और यदि बुद्धि मलिन होती है तो वह आत्मा के पतन में सहायक बनती है ।

आप क्या चाहते हैं ? आत्मा का उत्थान या पतन ? यदि उत्थान चाहते हैं तो बुद्धि को निर्मल करने के लिए प्रभु-चरणों में आत्म-समर्पण के लिए तैयार हो जाओ—Be ready to surrender your life at the feet of Lord Jineshwar. इस समर्पण से प्राप्त होगी परमानन्द की अनुभूति ।

छठा स्तवन

पूर्व भूमिका

जब योगिराज आनन्दघनजी महाराज ने यह जान लिया कि ``मेरी आत्मा तो परमात्मा के समान है'' तो उनके मन में यह संदेह पैदा हुआ कि–``परमात्मतुल्य मेरी आत्मा होने पर भी परमात्मा और मेरे बीच में अन्तर क्यों है ?'' उस अन्तर की शोध में वे निकल पड़े और उन्हें उस अन्तर का सद्‌बोध हो गया । फिर उन्होंने उस अन्तर के कारण और प्रभु-मिलन की व्यथा को `प्रभु-स्तवना' का रूप दे दिया और प्रभु के बीच के अन्तर को जानकर प्रभु से ही उस अन्तर को तोड़ने के लिए प्रार्थना करने लगे ।

भक्त हृदय आनन्दघनजी ने आत्म-गुणों का विकास किया और उसके फलस्वरूप उन्हें परमात्म-मिलन की कला हाथ लग गई । क्या आप भी परमात्म-मिलन के लिए उत्सुक बने हैं ? तो उस अन्तर का कारण और उस अन्तर को दूर करने का उपाय आनन्दघनजी ने हमें बता दिया है । अच्छा ! तो अब डूब जाँय इस स्तवन के रंग-राग में ।

(राग : मारू तथा सिंधुः चांदलिया संदेशो कहिजे म्हारा कंत ने रे)

पद्मप्रभ जिन ! तुज मुज आंतरु रे, किम भांजे भगवंत ।
करम विपाके हो कारण जोइने रे, कोइ कहे मतिवंत ।।
।। पद्मप्रभ०...1।।

पयई ठिई अणुभाग पएस थी रे, मूल उत्तर बहु भेद ।
घाती अघाती हो बंधोदय दीरणा रे, सत्ता करम विच्छेद ।।
।। पद्मप्रभ०...2।।

कनकोपलवत् पयडी पुरुष तणी रे, जोड़ि अनादि स्वभाव ।
अन्य संयोगी जह लगि आतमा रे, 'संसारी' कहेवाय ।।
।। पद्मप्रभ०...3।।

कारण जोगे हो बांधे बंधने रे, कारण मुगति मुकाय ।
आस्त्रव संवर नाम अनुक्रमे रे, हेयोपादेय सुणाय ।।
।। पद्मप्रभ०...4।।

युंजन करणे हो अंतर तुज पड्यो रे, गुण करणे करी भंग ।
ग्रंथ उक्ते करी पंडित जन कह्यो रे, अंतर भंग-सुअंग ।।
।। पद्मप्रभ०...5।।

तुज मुज अंतर, अंतर भांजशे रे, वाजशे मंगल तूर ।
जीव-सरोवर अतिशय वाधशे रे, आनंदघन रस पूर ।।
।। पद्मप्रभ०...6।।

पद्मप्रभ जिन ! तुज मुज आंतरु रे, किम भांजे भगवंत ।
कर्म विपाके हो कारण जोइने रे, कोइ कहे मतिवंत ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पद्मप्रभ=छठे तीर्थंकर परमात्मा-पद्मप्रभ स्वामी अथवा कमल के समान कान्ति वाले । **तुज=**आपके । **मुज=**मेरे । **आंतरु=**अंतर । **भांजे=**टूटेगा । **कर्म विपाके=**कर्मों के फल भोगने से । कर्म विपाक नाम के कर्म-ग्रंथ में उसका कारण देख कर । **कोइ=**कोई । **मतिवंत=**बुद्धिशाली ।

सामान्य अर्थ

हे पद्मप्रभ जिनेश्वर देव ! आपके और मेरे बीच जो अन्तर है, वह किस प्रकार दूर होगा ? कोई बुद्धिमान पुरुष कर्मफल को जानकर ऐसा कहते हैं कि यह जो अन्तर है, वह कर्म के कारण है ।

विवेचन

प्रभु-प्रेम के पुण्य प्रभाव से जब आत्मा की बहिरात्म-दशा टल जाती है और आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब संसार और संसार के सुखों के प्रति उसका राग घटने लगता है और परमात्म-दशा के प्रति राग बढ़ने लगता है ।

अन्तरात्म-दशा पाने के बाद परमात्मा से मिलन के लिए आत्मा अत्यन्त उत्कंठित हो जाती है । जिस प्रकार एक नवविवाहिता स्त्री अपने पति के वियोग में अत्यन्त दु:ख का अनुभव करती है और पति के शीघ्र-आगमन की सतत प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार अन्तरात्म-दशा की प्राप्ति के बाद आत्मा में परमात्मा से मिलने की उत्सुकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है, परमात्मा से मिलने की उत्सुकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है, परमात्म मिलन के अभाव में वह एक व्यथा का अनुभव करती है । उस व्यथा की अभिव्यक्ति उसके लिए कठिन हो जाती है और अन्त में परमात्मा के चरणों में ही जाकर अपनी व्यथा को अभिव्यक्त करती हुई वह कहती है कि–

हे पद्म के समान कान्ति वाले पद्मप्रभ स्वामी ! आपके और मेरे बीच

रहा हुआ यह अन्तर कब दूर होगा ? हे प्रभो ! मैं तो आपके साथ एकमेक होना चाहता हूँ और आप मुझसे बहुत दूर (सात राजलोक का अंतर) हैं। यह दूरी कैसे समाप्त होगी ?

(इस प्रकार प्रभु से प्रार्थना करते हुए आनन्दघनजी महाराज को बुद्धिमान पुरुषों का कथन याद आ जाता है और वे कहते हैं)–

हे परमात्मन् ! अपनी बुद्धि से अन्वय-व्यतिरेक से कर्म के फल को जानकर ज्ञानीजन कहते है कि आपसे मेरी जो दूरी है उसका मुख्य कारण कर्म है। इस कर्म को अन्य लोग प्रकृति अथवा माया भी कहते हैं। जब तक मेरी आत्मा पर से यह कर्म का आवरण नहीं हटेगा तक तक यह अन्तर दूर नहीं हो पायेगा।

पयई ठिई अणुभाग पअेस थी रे, मूल उत्तर बहु-भेद।
घाती अघाती हो बंधोदय उदीरणा रे, सत्ता-करम विच्छेद ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पयई=प्रकृति, कर्म का स्वभाव। **ठिई=**स्थिति, काल-मर्यादा। **अणुभाग=**रस, शुभाशुभता और तीव्र-मन्दता। **पअेस=**प्रदेश, कर्माणुओं का समूह। **मूल=**मुख्य। **उत्तर=**उत्तर भेद। **बहुभेद=**अनेक भेदवाला। **घाती=**आत्मा के मूल गुणों का घात करनेवाले चार घाती कर्म। **अघाती=**घाती सिवाय के चार अघाती कर्म। **बंध=**आत्मा के साथ कर्म का मिलना। **उदय=**कर्म का फल देना। **उदीरणा=**देरी से उदय में आने वाले कर्म को जल्दी उदय में लाना। **सत्ता=**अनुदय अवस्था में कर्म की आत्मा में विद्यमानता। **करम-विच्छेद=**कर्म का क्षय।

सामान्य अर्थ

कर्म के प्रकृति-स्थिति-रस और प्रदेश की अपेक्षा, मूल भेद और उत्तर भेद की अपेक्षा, घाती और अघाती की अपेक्षा, बंध-उदय-उदीरणा और सत्ता की अपेक्षा से जितने भेद हैं, उन सब भेदों का नाश करना चाहिये।

विवेचन

आनन्दघनजी के स्तवनों की एक विरल विशेषता यह है कि

उन्होंने अपने स्तवनों में मोक्ष-मार्ग का क्रमशः और यथार्थ वर्णन कर दिया है । आत्मा और परमात्मा के बीच रहने वाली भेद-रेखा 'कर्म' को बतलाकर, उन्होंने इस कर्म के अपेक्षाकृत भिन्न भिन्न भेद भी इस गाथा में बतला दिए हैं । उन पर हम क्रमशः विचार करेंगे ।

बंध की अपेक्षा कर्म के चार भेद :–

(1) प्रकृति बंध :– जीव के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलों में आत्मा के गुणों को रोकने का स्वभाव प्रकट होना प्रकृति बंध कहलाता है ।

उदाहरण :– यदि कोई व्यक्ति किसी जीव को पीड़ा पहुंचाता है तो उस समय वह व्यक्ति जिस कर्म का बंध करता है, उस कर्म में आत्मा के अव्याबाध सुख गुण को रोकने का स्वभाव भी प्रकट हो जाता है ।

(2) स्थिति बंध :– आत्मा के साथ कर्म के जुड़े रहने का काल निश्चित होना, वह स्थिति बंध कहलाता है ।

(3) अनुभाग/रस बंध :– जीव के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलों में कषायों की तरतमता के अनुसार शुद्ध, अशुद्ध, तीव्र, मन्द, मन्दतर, फल देने की शक्ति को 'रस बंध' कहते हैं ।

(4) प्रदेश बंध :– जीव के साथ न्यून-अधिक परमाणु वाले कर्म दल का सम्बन्ध होना, प्रदेश बंध कहलाता है ।

दृष्टांत :– मोदक के दृष्टांत से उपर्युक्त चारों बातें स्पष्ट हो जायेंगी ।

(1) जैसे सूंठ का एक लड्डू है । उसका स्वभाव वायु का नाश करने का है, उसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव ज्ञान को आच्छादित करने का होता है, यह उसका प्रकृति बंध हो गया ।

(2) जैसे सूंठ का वह लड्डू 20 दिन तक अच्छा रहता है, फिर बिगड़ जाता है । उसी प्रकार किसी कर्म का अमुक समय तक आत्मा के साथ रहने का निर्णय होता है, फिर छूट जाने का होता है–यह स्थिति बंध हो गया ।

(3) जैसे कोई लड्डू मधुर होता है तो कोई मधुरतम होता है । शक्कर की तरतमता से मधुरता घटती-बढ़ती है, उसी प्रकार कषायों की

तरतमता से कर्म-फल में न्यूनाधिकता का होना रसबंध कहलाता है ।

(4) कोई लड्डू 100 ग्राम का है तो कोई 250 ग्राम का उसी प्रकार बंधसमय कर्म दलों की न्यूनाधिकता का होना प्रदेश बंध कहलाता है ।

कर्म के दो भेद :– कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उसके उत्तर भेद एक सौ अट्ठावन (158) हैं ।

मूल प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियों की संख्या
1. ज्ञानावरणीय	5
2. दर्शनावरणीय	9
3. वेदनीय	2
4. मोहनीय	28
5. आयुष्य	4
6. नाम	103
7. गोत्र	2
8. अन्तराय	5
	158

टिप्पणी :– विशेष जिज्ञासुओं को 'उत्तर प्रकृति' आदि की विस्तृत जानकारी कर्म-ग्रंथादि से मिल सकेगी ।

कर्म के दो भेद :–

(1) घाती कर्म :– आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म घाती कर्म कहलाते हैं । ये चार है:– 1) ज्ञानावरणीय, 2) दर्शनावरणीय, 3) मोहनीय और 4) अन्तराय । ये कर्म आत्मा के मूल गुण–अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व-वीतरागता और अनन्तवीर्य गुणों का घात करते हैं ।

2) अघाती कर्म :– घाती सिवाय के शेष चार कर्म अघाती कहलाते हैं । ये भी चार हैं–1) वेदनीय 2) आयुष्य 3) नाम 4) गोत्र ।

कर्म की अन्य चार विवक्षाएँ :–

1) बंध :– आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह कर्म का

एकमेक हो जाना `बंध' कहलाता है । यह बंध भी अपेक्षा से चार प्रकार का होता है–

(क) स्पृष्ट कर्म बंध :– जिस कर्म का बंध सिर्फ योग से होता है वह स्पृष्ट कर्म बंध है । उदाहरण–सुइयों के ढेर में सुइयों का परस्पर स्पर्श होना ।

(ख) बद्ध कर्म बंध :– कर्म का आत्मा के साथ सामान्य स्पर्श, जो `इरियावहिय-प्रतिक्रमण' से दूर हो जाय । उदाहरण धागे में पिरोई गई सुइयों का परस्पर स्पर्श ।

(ग) निधत्त कर्म बंध :– कर्मों का आत्मा के साथ विशेष स्पर्श होना । उदाहरण जंग लगी हुई सुइयों का परस्पर संयोग ।

(घ) निकाचित कर्म बंध :– आत्मा के साथ कर्म का एकमेक हो जाना, अत्यन्त गाढ़ संयोग । उदाहरण-सुइयों को भट्टी में तपाकर, उनका रस बनाकर एकमेक कर देना ।

(2) उदय :– आत्मा से बंधे हुए कर्म की स्थिति का जब परिपाक हो जाता है, तो वह कर्म अपना फल देता है । कर्म का विपाक यही उदय कहलाता है ।

(3) उदीरणा :– बंधे हुए कर्म देरी से उदय में आने वाले हों तो उस कर्म को प्रयत्न विशेष करके शीघ्र उदय में लाकर क्षय कर देना–उदीरणा कहलाता है ।

(4) सत्ता :– आत्मा के साथ जब कर्म का बंध होता है, तो वह अमुक समय के बाद ही उदय में आता है । बंध और उदय उदीरणा के बीच के काल को सत्ता कहते हैं ।

इस प्रकार कर्म के स्वरूप को समझकर कर्म-विच्छेद के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये ।

कनकोपलवत् पयडी पुरुष तणी रे, जोड़ि अनादि स्वभाव ।
अन्य-संयोगी जह लगि आतमा रे, `संसारी' कहेवाय ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कनकोपलवत्=सुवर्ण और पत्थर के मिश्रण की तरह ।

पयडी=प्रकृति/कर्म । **पुरुष=**आत्मा । **जोड़ि=**युगल । **अनादि=**आदि रहित । **स्वभाव=**स्वभाव से । **अन्य संयोगी=**दूसरे के साथ जुड़ा हुआ ।

सामान्य अर्थ

खान में रहे हुए सोने और मिट्टी के संयोग की भाँति ही आत्मा और कर्म का, प्रकृति और पुरुष का अनादि काल से संयोग है । जब तक आत्मा अन्य जड़ पदार्थों के संयोग में रहती है, तब तक वह आत्मा संसारी आत्मा कहलाती है । कर्म और आत्मा का संयोग ही संसार है ।

विवेचन

परमात्मा और अपनी आत्मा की भिन्नता के भेद का आधार बता देने के बाद कोई प्रश्न करे कि यह भेद कब से है ? तो उसका जवाब योगिराज आनन्दघनजी इस गाथा में दे रहे हैं–

वे कहते हैं कि आत्मा और कर्म का संयोग अनादि काल से है । जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार विश्व की न तो आदि (प्रारम्भ) है और न अंत है । अनादि काल से यह संसार चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा ।

इस अनादि संसार में आत्मा भी अनादि काल से है । अन्य दर्शनकारों की भाँति जैन दर्शन किसी ईश्वर को जगत्कर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता है । जैन दर्शन आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार करता है ।

आत्मा के साथ कर्म का संयोग भी अनादि काल से है । यदि इस संयोग की आदि मानी जाय तो अनेक प्रश्न खडे होते हैं । क्या उस संयोग के पूर्व आत्मा पूर्ण शुद्ध थी ? यदि पूर्ण शुद्ध हो तो उसका बंध कैसे सम्भव होगा ? यदि शुद्धात्मा का भी बंध होता हो तब तो आत्म-शुद्धि के लिए प्रयत्न करना भी निष्फल है । क्योंकि अभी शुद्धि के लिए प्रयत्न होगा और पुनः बंध हो जायेगा । अतः आत्मा और कर्म के अनादि संबंध को स्वीकारना ही युक्तियुक्त है ।

आत्मा और कर्म का यह संयोग, स्वर्ण और मिट्टी के संयोग की भाँति है । जिस प्रकार खान में रहे मिट्टी और स्वर्ण के संबंध की आदि नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म के संयोग की भी आदि नहीं है ।

इस प्रकार आत्मा स्व-रूप को छोड़ कर अन्य रूप (कर्म पुद्गल) का संयोग करती है, उसके संयोग में रहती है, तब तक आत्मा संसारी कहलाती है ।

कारण जोगे हो बांधे बंधने रे, कारण मुगति मुकाय ।
आस्त्रव संवर नाम अनुक्रमे रे, हेयोपादेय सुणाय ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कारण-जोगे=कारण-सामग्री के मिलने से । **बांधे=**कर्म बांधता है । बंधने बंधन रूप । **मुगति=**मुक्ति । **मुकाय=**मुक्त होता है । **आस्त्रव=**कर्म के आने का मार्ग । **संवर=**कर्म को रोकने का उपाय । **हेय=**त्याज्य । **उपादेय=**ग्राह्य । **सुणाय=**सुना जाता है ।

सामान्य अर्थ

कर्मबंध के कारण मिलने से आत्मा कर्म का बंध करती है और कर्मवियोग के कारण मिलने से आत्मा कर्म से छूटती है । कर्मबंध के कारण और कर्म-वियोग के कारणों को शास्त्रीय परिभाषा में आस्त्रव और संवर कहते हैं । इनमें आस्त्रव त्याज्य है और संवर उपादेय-ग्रहण करने योग्य है ।

विवेचन

कारण के बिना कार्य नहीं होता है । गत गाथा में अनादि कर्म संयोग की जो बात कही है उसका कारण यह है कि आत्मा अनादि काल से कर्म-बंध के निमित्तों के सहवास में रही है ।

आत्मा में कर्मबंध का कारण है—आस्त्रव । आस्त्रव के आसेवन से आत्मा कर्मबंध करती है । शास्त्र में मुख्यतया आस्त्रव के 5 भेद बतलाये हैं :—

(1) मिथ्यात्व :— परमात्मा के बताये हुए तत्त्वों पर अविश्वास और गलत तत्त्वों पर विश्वास ।

(2) अविरति :— पाप-त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव ।

(3) कषाय :— क्रोध-मान-माया और लोभ का आसेवन ।

(4) प्रमाद :— मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा की प्रमाद कहते हैं, उसका सेवन करते रहना यानी आत्मा क विभाव दशा में रहना,

आत्मा के स्वरूप को भूल जाना ।

(5) योग :– मन-वचन और काया की प्रवृत्ति । शास्त्र में अन्य अपेक्षा से आस्रव के 42 भेद भी बतलाये हैं । उपर्युक्त आस्रव द्वारों के सेवन से आत्मा में कर्म का आगमन होता है और आत्मा कर्म का बंध करती है ।

आत्मा में आने वाले कर्मों को रोकने का मार्ग संवर कहलाता है । संवर के कुल 57 भेद बतलाये गये हैं ।

(1) 5 समितियों का विशुद्ध पालन ।

(2) 3 गुप्तियों का विशुद्ध पालन ।

(3) 22 परिषहों को सहन करना ।

(4) 10 यति धर्म का आसेवन करना ।

(5) 12 भावनाओं से आत्मा को भावित करना ।

(6) 5 प्रकार के चारित्र का पालन करना ।

इनमें आस्रव-आत्मा को अहितकर होने से त्याज्य है और संवर आत्मा को हितकर होने के कारण ग्राह्य है ।

युंजन करणे हो अंतर तुज पड्यो रे, गुण करणे करी भंग ।
ग्रंथ उक्ते करी पंडित जन कह्यो रे, अंतर भंग सुअंग ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

युंजन करणे=जोड़ने के प्रयत्न से । **गुण करणे=**गुण के विकास रूप प्रयत्न से । **ग्रंथ=**पुस्तक । उक्त ग्रंथ की गाथाओं से । **पंडितजन=**विद्वज्जन । **भंग-सुअंग=**तोड़ने के सुंदर अंग अथवा सुअंग श्रुत अंग ।

सामान्य अर्थ

हे नाथ ! कर्म के साथ हुए योग के कारण ही आप और मुझ में यह अंतर पड़ा है । गुण-करण अर्थात् आत्मगुणों के विकास से इस युंजन करण का नाश हो जायेगा । शास्त्राधार से पण्डितजनों ने मुझे यह कहा है कि आत्म-गुणों के विकास से ही यह अन्तर दूर होनेवाला है ।

विवेचन

अपनी आत्मा का प्रभु से दूर रहने का एक ही कारण है और वह

है-युंजनकरण । युंजन करण अर्थात् आत्मा के साथ कर्मबंध की प्रवृत्ति । अनादि काल से सतत इसी प्रवृत्ति के कारण ही अपनी आत्मा का प्रभु के साथ अन्तर रहा हुआ है । इस अंतर को दूर करने का एक ही सरल उपाय है और वह है आत्म-गुणों का विकास करना ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अपने आत्मिक गुण हैं । इन गुणों का जितने अंश में विकास होता है, उतने अंश में आत्मा निर्मल बनती है तथा प्रभु और अपने बीच का अन्तर समाप्त होने लगता है, परन्तु ज्यों-ज्यों हम मिथ्यात्व आदि का सेवन करते हैं, त्यों-त्यों आत्मा परमात्मा से दूर सुदूर रहती है ।

आत्मगुणों का विकास प्रभु और अपने बीच के अंतर को तोड़ने की सुन्दर चाबी है ।

क्या आपको परमात्मा के बीच का व्यवधान खटकता है ? क्या आप प्रभु से मिलना चाहते हैं ?

तो तोड़ डालो उस दूरी को, जिसका उपाय है—आत्मगुणों का विकास ।

तुज मुज अंतर अंतर भांजशे रे, वाजशे मंगल तूर ।
जीव सरोवर अतिशय वाधशे रे, आनंदघन रस पूर ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अंतर=अंदर का । **अंतर=**दूरी । **भांजशे=**टूटेगा । **वाजशे=**बजेंगे । **मंगल-तूर=**मंगलकारी वाद्य-यंत्र । **जीव-सरोवर=**जीव रूपी तालाब । **अतिशय=**अत्यन्त भरपूर । **वाधशे=**बढ़ेगा । **आनंदघन रस-पूर=**आनंद के भंडार रूप पानी से भरपूर ।

सामान्य अर्थ

हे परमात्मा ! आत्मगुणों के विकास द्वारा आपके और मेरे बीच का अंतर जब दूर हो जायेगा तब मंगल वाद्य-यंत्र बजेंगे और उस समय मेरी आत्मा रूपी सरोवर में परमानन्द के रस की बाढ़ आ जायेगी मेरी आत्मा परमानंद से परिपूर्ण हो जायेगी ।

विवेचन

वीतराग परमात्मा के साथ प्रीति-सम्बन्ध में दृढ़ता लाने के बाद

पूज्य योगिराज आनन्दघनजी महाराज प्रभु से प्रार्थना करते हुए फरमाते हैं कि हे प्रभो ! अब मुझे आत्मविश्वास हो गया है कि आपके ओर मेरे बीच में जो अन्तर बना हुआ है, वह अब धीरे-धीरे दूर हो जाएगा ।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने भी गया है–

ध्यायक ध्येय ध्यान गुण एके, भेद छेद करशुं हुवे टेके ।
खीर नीर पेरे तुमशुं मलशुं, वाचक जस कहे हेजे हलशुं ।।

जब ध्याता, ध्येय और ध्यान में एकता आ जाती है अर्थात् जब ध्याता ध्येय के ध्यान में तदाकार बन जाता है, तब वह परमानन्द का अनुभव करता है अर्थात् उसके आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती है । वह असीमित आनन्द का अनुभव करता है ।

`इलिका-भ्रमर न्याय' से आत्मा जब परमात्मा के ध्यान में लीन बनती है तब वह तदाकार बन जाती है ! कहा भी है–

अरिहंत पद ध्यातो थको, दव्वह गुण पज्जाय रे ।
भेद छेद करी आतमा, अरिहन्त रूपी थाय रे ।।

अरिहन्त के ध्यान में लीन आत्मा अरिहन्त स्वरूप बनती है । आनन्दघनजी महाराज अपने आन्तरिक आनन्द की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं कि जब परमात्मा और मेरे बीच का अन्तर टूट जाएगा तब मंगल के वाद्य यंत्र बज उठेंगे ।

सामान्यतः जब किसी महान् वस्तु की उपलब्धि होती है, तब व्यक्ति के हर्ष का पार नहीं रहता है । परमात्मा और आत्मा के बीच का अन्तर भंग होने पर यह जीवात्मा आनन्द के सरोवर में मस्त बन जाएगा और आनन्द के मेघ की वृद्धि से यह जीवात्मा रूप सरोवर लबालब भर जाएगा । `आनन्दघन' पद के द्वारा पूज्य योगिराज अपना नाम निर्देश भी कर रहे हैं ।

सातवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

इस विराट् विश्व में जब कोई साधक परमात्मा की शोध करता है तो उसे अनेक मिथ्यात्वी देव भी दिखाई पड़ते हैं, जो अपने आपको सच्चे देव कहते हैं अथवा जगत् में ऐसे अनेक पंथ हैं जो मिथ्यादृष्टि तथा रागी को भी देव मान बैठते हैं।

अन्य देव ब्रह्मादि नामों के धारक जरूर हैं, परन्तु तदनुरूप गुणों का अस्तित्व तो हमें वीतराग-परमात्मा में ही दिखाई पड़ता है।

बस ! आनन्दघनजी ने भी लोक में प्रसिद्ध ऐसे सर्व देवों के नाम बतलाकर एक मात्र वीतराग परमात्मा (सुपार्श्वनाथ) में उन नामों की सार्थकता सिद्ध की है। नाम धारण कर लेना एक बात है और उस नाम को सार्थक बनाना दूसरी बात है। परमात्मा में वे नाम सुघटित हैं।

तो चलें, हम भी विविध नामों और गुणों से परमात्मा के स्वरूप को समझकर वीतराग-पंथ के सच्चे सेवक बनने के लिए प्रयत्नशील बनें।

7 श्री सुपार्श्व जिन-स्तवन

(राग : सारंग मल्हार ललना नी-देशी)

श्री सुपार्श्व जिन वंदिये, सुख संपत्तिनो हेतु, ललना !
शांत सुधारस-जलनिधि, भव सागरमां सेतु, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...1।।

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव, ललना !
सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...2।।

शिव शंकर जगदीश्वरु, चिदानन्द भगवान, ललना !
जिन अरिहा तीर्थंकर, ज्योति स्वरूप असमान, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...3।।

अलख निरंजन वच्छलु, सकल जन्तु विसराम, ललना !
अभयदान दाता सदा, पूरण आतम राम, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...4।।

वीतराग मद कल्पना, रति अरति भय-सोग, ललना !
निद्रा तंद्रा दुरंदशा, रहित अबाधित योग, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...5।।

परम पुरुष परमातमा, परमेश्वर परधान, ललना !
परम पदारथ परमेष्ठि, परम देव परमान, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...6।।

विधि विरंचि विश्वंभरु, हृषिकेश जगनाथ, ललना !
अघहर, अघमोचन धणी, मुक्ति परम पद साथ, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...7।।

एम अनेक अभिधा धरे, अनुभव गम्य विचार, ललना !
जे जाणे तेहने करे, आनन्दघन-अवतार, ललना ।।
।। श्री सुपार्श्व०...8।।

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख संपत्ति नो हेतु, ललना !
शांत सुधारस जलनिधि, भव सागरमां सेतु, ललना ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

श्री सुपार्श्व जिन=सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ । **वंदिये=**वन्दन करें । **सुख-संपत्तिनो हेतु=**सुख अर्थात् समाधि, संपत्ति अर्थात् आत्म ऋद्धि का कारण । **शांत=**क्रोधादि कषायों का अभाव । **सुधारस=**अमृत । **जलनिधि=**सागर । **भव=**संसार । **सेतु=**पुल ।

सामान्य अर्थ

सुख और सम्पत्ति के कारणभूत भी सुपार्श्वनाथ भगवन को वन्दन करो । वे शांत-रस के महासागर हैं और संसार-सागर से पार उतरने के लिए पुल के समान हैं ।

विवेचन

दान वही कर सकता है, जिसके पास कुछ सम्पत्ति हो । जो स्वयं निर्धन है, वह दूसरे के दारिद्र्य को कैसे दूर कर सकता है ? अक्षय सुख की शोध में निकले हुए आनन्दघनजी को `अक्षय सुख-भण्डार' सुपार्श्वनाथ प्रभु मिल जाते हैं । अक्षय-सुख-प्राप्ति के स्थल की जानकारी पाने के बाद स्वगृह (आत्म-गृह) में आकर अपनी पत्नी सुमति-ललना को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि–

``हे ललना ! (हे सुमते !) तू अक्षय-सुख चाहती है तो अक्षय-सुख-भण्डार श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु की सेवा कर, उन्हें वन्दन कर, उन्हें नमस्कार कर ।'' दुनिया के सुख तो क्षणिक हैं । उन सुखों की कदाचित् प्राप्ति भी हो जाय तो भी उनसे चिरशांति की प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि वे स्वयं क्षण-जीवी हैं ।

अतः यदि हमें वास्तविक सुख चाहिये, तो शाश्वत सुख के भोक्ता सुपार्श्वनाथ प्रभु की भक्ति करनी चाहिये ।

प्रभु का स्वरूप कैसा है ? तो बतलाते हैं–``वे शांत सुधारस के महासागर हैं ।'' सागर में जल का अखूट भण्डार होता है । कितनी ही गर्मी क्यों न पडे, सागर कभी सूखता नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा भी

शांत रस के महासागर हैं । कोई उन्हें क्रोधित करने के चाहे कितने ही प्रयत्न क्यों न करे, उसके वे सब प्रयत्न निष्फल ही रहते हैं ।

क्या संगम ने वीर-प्रभु को चलायमान करने के लिए कम प्रयत्न किये थे ? क्या गोवालों ने प्रभु के ऊपर भयंकर उपसर्ग नहीं किया था ? लेकिन फिर भी प्रभु की शांतरसमग्नता कैसी ! कोई समुद्र में पत्थर फेंकें तो समुद्र उसे भी निगल लेता है, परन्तु ईंट का जवाब पत्थर से देने की नीयत उसकी नहीं होती । वह तो सबका स्वागत ही करता है ।

बस, ऐसे ही तो प्रभु हैं । अरे ! प्रभु तो स्वयंभूरमण समुद्र से भी अधिक गंभीर हैं, शांत हैं । इसके साथ ही इस संसार से पार उतरने के लिए सेतु समान है । इस संसार में क्रोध-मान-माया आदि की भयंकर नदियां चारों ओर बह रही हैं, उन नदियों को तैर कर पार करना अत्यन्त कठिन है । परमात्मा भव-सागर से तिरने के लिए पुल का काम करते हैं ।

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव, ललना !
सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव, ललना ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

महाभय=बड़े-बड़े भय । **सप्तम=**सातवें । **जिनवर देव=**जिनेश्वर भगवान । **सावधान=**एकाग्रता । **मनसा करी=**मन से करके । **जिन-पद=**जिनेश्वर के चरण । **सेव=**सेवा ।

सामान्य अर्थ

ये सातवें सुपार्श्वनाथ जिनेश्वदेव सात प्रकार के महाभयों को टालने वाले हैं । इसलिए सावधान बनकर और मन की एकाग्रतापूर्वक उन जिनेश्वरदेव के चरण-कमलों की सेवा करो ।

विवेचन

क्या आप संसार में भयभीत हैं ? क्या आपको कोई भय सता रहा है ? तो भय-मुक्ति का उपाय आनन्दघनजी महाराज बता रहे हैं । वे कहते हैं कि सातवें जिनेश्वरदेव की एकाग्र मन से सेवा-भक्ति करो । दुनिया के सात भय निम्नांकित हैं ।

(1) इहलोक भय :– मनुष्य को दूसरे मनुष्य में भय । **(2) परलोक**

भय :– मनुष्य को देव-तिर्यंच आदि का भय । **(3) आदान भय :–** धन की चोरी आदि का भय । **(4) अकस्मात् भय :–** अचानक ही भूकम्प, दुर्घटना आदि का भय । **(5) आजीविका भय :–** गुजारा कैसे चलेगा ? इस प्रकार आजीविका का भय । **(6) अपयश भय :–** लोक में अपकीर्ति आदि हो जाने का भय । **(7) मृत्यु भय :–** मृत्यु हो जाने का भय । परमात्मा हमें इन सात-भयों से मुक्त करते हैं । इसीलिए तो 'शक्त-स्तव' में परमात्मा को 'अभयदयाणं' अभयदाता कहा गया है ।

अध्यात्म-मार्ग में भी अपनी आत्मा को निम्नांकित सात भय सातते रहते हैं–

(1) काम :– इन्द्रियजन्य सुख की लालसा । **(2) क्रोध :–** गुस्सा आ जाना । **(3) मद :–** प्राप्त वस्तु का अभिमान । **(4) हर्ष–**क्षणिक इष्ट वस्तु की प्राप्ति में आनन्द मानना । **(5) राग :–** भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति । **(6) द्वेष :–** प्रतिकूल प्रसंग में घृणा का भाव । **(7) मिथ्यात्व :–** तत्त्व में अश्रद्धा, अतत्त्व में श्रद्धा ।

सातवें सुपार्श्वनाथ जिनेश्वरदेव इन सातों महाभयों को दूर करने वाले हैं । अतः भय-मुक्ति के लिए उन परमात्मा की हमें सेवा-भक्ति एकाग्र मन से करनी चाहिये ।

शिव शंकर जगदीश्वरु, चिदानंद भगवान, ललना !
जिन अरिहा तीर्थंकर, ज्योति स्वरूप असमान, ललना ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

शिव=कल्याणकारी । **शंकर=**शांति करनेवाला । **जगदीश्वरु=**जगत् के ईश्वर । **चिदानंद=**ज्ञानानंदमय । **भगवान=**ऐश्वर्यवान । जिन राग-द्वेष विजेता । **अरिहा=**पूजा योग्य । **अरि=**शत्रु, उनको नाश करनेवाले । तीर्थंकरु तीर्थ की स्थापना करनेवाले । **ज्योति स्वरूप=**तेजोमय । **असमान=**अनन्य ।

सामान्य अर्थ

सातवें जिनेश्वर परमात्मा शिव हैं, शंकर हैं, जगदीश्वर हैं, चिदानंद हैं, अरिहन्त हैं, तीर्थंकर हैं, ज्योति-स्वरूप हैं और बेजोड़ हैं ।

विवेचन

अन्य धार्मिक भी `शिव' आदि नाम को धारण करते हैं, परन्तु वे तो मात्र नाम आदि से ही `शिव' हैं, जबकि सुपार्श्वनाथ प्रभु तो इन नामों के वास्तविक स्वरूप के धारक हैं ।

(1) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'शिव'** हैं, क्योंकि वे सबका कल्याण करने वाले हैं ।

(2) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'शंकर'** हैं, क्योंकि वे सबको सुख और शान्ति के दाता हैं ।

(3) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'जगदीश्वर'** हैं, क्योंकि वे जगत् के स्वामी हैं ।

(4) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'चिदानंद'** हैं, क्योंकि वे अनन्त ज्ञान और अनन्त सुखमय हैं ।

(5) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'भगवान'** हैं, क्योंकि वे अष्ट महाप्रातिहार्य आदि ऐश्वर्यवान हैं ।

(6) सुपार्श्वनाथ **'जिन'** हैं, क्योंकि वे राग-द्वेष के विजेता हैं ।

(7) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'अरिहन्त'** हैं, क्योंकि सर्व अन्तरंग शत्रुओं के नाशक हैं अथवा सर्व से पूज्य हैं ।

(8) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'तीर्थंकर'** हैं, क्योंकि वे तीर्थ (जिन शासन के) स्थापक हैं ।

(9) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'ज्योति स्वरूप'** हैं, क्योंकि वे कर्ममल से सर्वथा मुक्त और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हैं ।

(10) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'बेजोड़'** हैं, क्योंकि उनके समान पुण्य-प्रकृति और किसी की नहीं है ।

अलख निरंजन वच्छलु, सकल जंतु विसराम, ललना !
अभयदान दाता सदा, पूरण आतमराम, ललना ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अलख=अगोचर । **निरंजन**=मल रहित । **वच्छलु**=दयालु । **सकल**

जंतु विसराम=सकल प्राणियों के लिए आश्रय रूप । **अभयदान दाता=**अभय दान देने वाले । **पूरण आतम राम=**संपूर्ण आत्म सुख में मग्न ।

सामान्य अर्थ

सुपार्श्वनाथ प्रभु अलख हैं, निरंजन हैं, वत्सल हैं, सदा अभयदान के दाता हैं, और शुद्धात्म स्वरूप में मग्न रहने वाले हैं ।

विवेचन

सार्थक नामों से परमात्मा के लिए विशेषण दिए गए हैं–

(1) सुपार्श्वनाथ प्रभु **अलख** अर्थात् अलक्ष्य हैं, अगोचर हैं अर्थात् उन्हें बाह्य-चक्षुओं के द्वारा नहीं देखा जा सकता है, उन्हें दिव्य चक्षु से ही देख सकते हैं ।

(2) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'निरंजन'** हैं, क्योंकि उनके ऊपर किसी भी प्रकार के कर्म का अंजन (दाग) नहीं है ।

(3) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'वत्सल'** हैं, क्योंकि वे सर्व जीवों के प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाले हैं ।

(4) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'सकल जन्तु विश्राम'** हैं, क्योंकि सर्व प्राणियों के लिए विश्राम स्वरूप हैं, सभी प्राणी परमात्मा की शरण को स्वीकार कर आनन्द पाते हैं ।

(5) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'अभयदाता'** हैं, क्योंकि सर्व प्राणियों को सर्व भयों से मुक्त करने वाले हैं ।

(6) सुपार्श्वनाथ प्रभु **'आत्मरामी'** हैं, क्योंकि वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप में सदा लीन रहते वाले हैं ।

इस प्रकार आनन्दघनजी महाराज ने परमात्मा के विशेषणों को सार्थक बतलाया है ।

वीतराग मद कल्पना, रति-अरति भय सोग, ललना !
निद्रा तंद्रा दुरंदशा, रहित अबाधित योग, ललना ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वीतराग=रागद्वेष रहित । **मद**=अभिमान । **रति**=आनन्द । **अरति**=प्रतिकूल प्रसंग में द्वेष-उद्वेग । **भय**=डर । **सोग**=शोक । **निद्रा**=नींद । **तन्द्रा**=आलस्य । **दुरंदशा**=दुर्दशा । **अबाधित योग**=स्थिर समाधि वाला ।

सामान्य अर्थ

सुपार्श्वनाथ प्रभु वीतराग हैं । अभिमान, तरंगी-विचार, रति-अरति, भय, शोक, निद्रा, तंद्रा, दुर्दशा आदि से रहित और स्थिर समाधि वाले हैं ।

विवेचन

हे सुपार्श्वप्रभु ! आपके गुणों का क्या वर्णन करूँ ? आप तो वीतराग हो । वीतराग अर्थात् राग और द्वेष के विजेता । राग और द्वेष ये दो ही आत्मा के मूलभूत शत्रु हैं । इन शत्रुओं के कारण ही आत्मा संसार में भटकती है । राग, माया और लोभ कषाय रूप है और द्वेष, क्रोध-मान कषाय रूप है । राग और द्वेष का क्षय ही संसार का क्षय है । सुपार्श्वनाथ प्रभु वीतराग हैं ।

अब कुछ दोषों का वर्णन कर परमात्मा को उन दोषों से मुक्त बतलाते हैं । परमात्मा निम्नलिखित दोषों से मुक्त है–

(1) मद :– अभिमान । अनन्त आत्म ऋद्धि के स्वामी और भोक्ता होने पर भी परमात्मा को लेश भी अभिमान नहीं है ।

(2) कल्पना :– काल्पनिक विचार । परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण किसी पदार्थ के निरूपण में कल्पना का आश्रय नहीं लेते हैं ।

(3) रति :– अर्थात् अनुकूल पदार्थ के भोग में आनन्द पाना रति कहलाता है, परमात्मा रति से रहित हैं ।

(4) अरति :– बाह्य निमित्त मिले या न मिले तो भी बाह्य अभ्यन्तर पदार्थ के विषय में जो अरुचि होती हैं, उसे अरति कहते हैं । परमात्मा अरति से रहित हैं ।

(5) भय :– डर । परमात्मा को किसी भी प्रकार का भय नहीं होने से वे भय रहित हैं ।

(6) शोक :– विरह-वेदना । प्रिय वस्तु के वियोग में दुःखी होना शोक कहलाता है । परमात्मा को किसी वस्तु के प्रति राग नहीं होने से वे शोक रहित होते हैं ।

(7) निद्रा :– नींद । दर्शनावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाने के कारण परमात्मा निद्रा रहित होते हैं ।

(8) तंद्रा :– आलस्य । परमात्मा तंद्रारहित होते हैं ।

(9) दुर्दशा :– बुरी हालत । परमात्मा दुर्दशा से रहित हैं ।

उपर्युक्त दोषों से मुक्त बने हुए परमात्मा अबाधित योग वाले होते हैं ।

परम पुरुष परमात्मा, परमेश्वर परधान, ललना !
परम पदारथ परमेष्ठि, परम देव परमान, ललना ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

परम=श्रेष्ठ । **परमातमा=**श्रेष्ठ आत्मा । **परधान=**प्रधान, मुख्य । **पदारथ=**पदार्थ । **परमेष्ठि=**ऊँचे पद पर विराजमान । **परमदेव=**बड़े देव । **परमान=**प्रमाण, सर्वश्रेष्ठ सम्मान के पात्र ।

सामान्य अर्थ

सुपार्श्वनाथ प्रभु परम पुरुष हैं, परमात्मा हैं, प्रधान पुरुष हैं, परम पदार्थ हैं, परमेष्ठी हैं और परम देव हैं ।

विवेचन

सुपार्श्वनाथ प्रभु परम पुरुष हैं । परम अर्थात् श्रेष्ठ । परमात्मा के समान दुनिया में कोई श्रेष्ठ पुरुष नहीं है, इसलिए `शक्र-स्तव' में परमात्मा को `लोगुत्तमाणं' कहा गया है । सुपार्श्वनाथ प्रभु परमात्मा हैं । परम अर्थात् श्रेष्ठ । सर्व घाती-अघाती कर्मों का क्षय करने के कारण वे परमात्मा हैं । सुपार्श्वनाथ प्रभु परमेश्वर हैं, क्योंकि वे उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान हैं । सुपार्श्वनाथ प्रभु परम पदार्थ हैं । उनके तुल्य जगत् में और कोई पदार्थ नहीं है । अठारह दोषों से रहित होने के कारण सुपार्श्वनाथ प्रभु परमदेव हैं अर्थात् सर्व देवों में प्रधान हैं ।

विधि विरंचि विश्वंभरु, हृषिकेश जगनाथ, ललना !
अघहर अघमोचन धणी, मुक्ति परमपद साथ, ललना ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

विधि=मोक्षमार्ग का विधान । **विरंचि=**ब्रह्मा । **विश्वंभरु=**विश्व को भरने वाला । **हृषिकेश=**इन्द्रियों के स्वामी । **जगनाथ=**जगत् के नाथ । **अघहर=**पाप को हरने वाले । **अघमोचन=**पाप से छुड़ाने वाले । **धणी=**स्वामी ।

सामान्य अर्थ

सुपार्श्वनाथ प्रभु विधाता हैं, ब्रह्मा हैं, विश्वंभर हैं, हृषिकेश हैं, जगन्नाथ हैं, पाप-नाशक हैं, पाप से छुड़ाने वाले हैं और साथ में मोक्ष पद देने वाले हैं ।

विवेचन

परमात्मा मोक्ष मार्ग का विधान करने वाले हैं । परमात्मा ही सच्चे अर्थ में ब्रह्मा हैं, क्योंकि उन्हीं की आज्ञा के अधीन लोक व्यवस्था है । जो कोई भी उनकी आज्ञा का पालन करता है, उसका कल्याण होता है और जो कोई भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसका अकल्याण होता है । इस प्रकार परमात्मा ही सच्चे अर्थ में ब्रह्मा हैं । परमात्मा विश्वम्भर भी हैं—केवली समुद्घात के समय परमात्मा 14 राजलोक-व्यापी हो जाते हैं । इन्द्रियों को वश में करने के कारण परमात्मा हृषिकेश भी हैं । परमात्मा भव्य जीवों के योग-क्षेम कारक होने के कारण जगन्नाथ भी हैं । परमात्मा अपने भव्य उपदेश के द्वारा अन्य जीवों के पापों का नाश करने वाले भी हैं । परनमात्मा भव्य जीवों के स्वामी भी हैं । सुपार्श्वनाथ प्रभु परमपद-मोक्ष के भोक्ता तथा अन्य को भी वह पद प्रदान करने वाले हैं ।

एम अनेक अभिधा धरे, अनुभव गम्य विचार, ललना !
जे जाणे तेहने करे, आनन्दघन-अवतार, ललना ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अभिधा=नाम । **अनुभव गम्य=**अनुभव से जाना जाय । **करे=**हाथ में / करना । **आनन्दघन अवतार=**आनन्दमय मोक्ष में उत्पत्ति ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार परमात्मा अनेक नामों को धारण करनेवाले हैं, इन नामों का अर्थ अनुभव से ही समझ सकते हैं । इन नामों का जिसे तत्त्व-संवेदन ज्ञान प्राप्त होता है, वही आनन्दघन स्वरूप मोक्ष में अवतार पाता है ।

विवेचन

अन्तर के गहन उद्‌गारों से आनन्दघनजी ने प्रभु की स्तवना की है, परन्तु परमात्मा के ये नाम अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं हैं, बल्कि परमात्मा का स्वरूप ही ऐसा है ।

अनन्त ज्ञानादि गुणों के भंडार परमात्मा के गुणों के वर्णन के लिए प्रयत्न करना, यह तो दो भुजाओं से स्वयम्भूरमण समुद्र को तैरने जैसा ही है । परमात्मा के इन गुणों को अनुभव से ही जाना जा सकता है और जो इन गुणों को अनुभव से जानता है, इन गुणों का आत्म-साक्षात्कार करता है, वह अल्प भवों में ही मुक्ति-सुख को प्राप्त करता है ।

आठवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

इस अनादि अनन्त संसार में प्रभु के दर्शन कितने दुर्लभ हैं ? इसका पता हमें इस स्तवन से लग जाता है। अव्यवहार राशि में, अपनी आत्मा ने अनन्त काल व्यतीत किया है। वहाँ आत्मा की चेतना बहुत ही अव्यक्त थी। उसके बाद भी चतुर्गति के भव-भ्रमण में प्रभु का बोध हमें कहाँ प्राप्त हुआ हैं ?

प्रभु-बोध के अभाव में आँखें मिलने पर भी हम प्रभु-दर्शन नहीं कर पाये। इसके बाद क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते जैन कुल में जन्म भी पा लिया, परन्तु श्रद्धा रूपी नेत्रों के अभाव के कारण प्रभु के मात्र बाह्य दर्शन ही कर पाये। अन्तरङ्ग दर्शन तो हुए ही नहीं।

बहुत ही कठिनाई से इस भव में प्रभु के दर्शन हो रहे हैं। हर्ष और आनन्द से हृदय भर आया है। प्रभु के मुखदर्शन के उस आनन्द को आनन्दघनजी इस स्तवन में अभिव्यक्त कर रहे हैं। हृदय में आनन्द समा नहीं रहा है और सतत प्रभु-दर्शन के लिए आँखें घूम रही हैं।

क्या हमें प्रभु-दर्शन की इस दुर्लभता का आभास हुआ है ? यदि नहीं, तो फिर मिला दें स्वर में स्वर, आनन्दघनजी के इस स्तवन में।

8 चन्द्रप्रभ जिन-स्तवन

(राग : केदारो, गौडी कुमरी रोवै आक्रन्द करे,
मुने कोइ मुकावे-ए देशी)

देखण दे रे सखि ! मुने देखण दे, चन्द्रप्रभ मुखचंद, सखि० ।
उपशम रसनो कंद, सखि०, गत कलि-मल-दुखदंद,
।। सखि०...1।।

सुहुम निगोदे न देखियो, सखि०, बादर अतिहि विशेष, सखि०।
पुढवी आउ न लेखियो, सखि०, तेउ, वाउ न लेस,
।। सखि०...2।।

वनस्पति अति-घण-दिहा, सखि०, दीठो नहि देदार, सखि०।
बि-ति-चउरिंदि, जललीहा, सखि०, गत सन्नि पण धार,
।। सखि०...3।।

सुर-तिरि-निरय-निवासमां, सखि०, मनुज अनारज साथ, सखि०।
अपज्जत्ता प्रतिभासमां सखि०, चतुर न चढ़ियो हाथ,
।। सखि०...4।।

इम अनेक थल, जाणीए, सखि०,
दरिसण विण जिण-देव, सखि०।
आगम थी मति जाणीए, सखि०, कीजे निरमल सेव,
।। सखि०...5।।

निरमल साधु-भगति लही, सखि०, योग-अवंचक होय, सखि०।
क्रिया-अवंचक तिम सही, सखि०, फल-अवंचक जोय,
।। सखि०...6।।

प्रेरक अवसर जिनवरु, सखि०, मोहनीय क्षय जाय, सखि० ।
कामित पूरण सुरतरु, सखि०, आनन्दघन प्रभु-पाय,
।। सखि०...7।।

देखण दे रे सखि ! मुने देखिण दे, चन्द्रप्रभ मुखचंद, सखि० ।
उपशम रसनो कंद, सखि०,
गत कलि-मल-दुखदंद, सखि०।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

देखण दे=मुझे देखने दे । **सखि**=हे सखि ! हे मित्र ! **चन्द्रप्रभ**=आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ स्वामी । **मुख चन्द्र**=मुख रूपी चन्द्रमा । **उपशम-रस**=शांत रस । **कंद**=मूल । **गत**=चला गया है । **कलिमल**=पाप रूपी मल । **दंद**=द्वन्द्व / राग-द्वेष ।

सामान्य अर्थ

सम्यग्दृष्टि जीवात्मा अपनी प्रिय सखी सुमति को कहती है कि हे सखि ! चन्द्रमा के समान प्रभावाले आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवान का मुख-मंडल मुझे देखने दे । ये परमात्मा उपशम रस के कंद है और पाप रूपी मल तथा दु:ख-द्वन्द्व से रहित हैं ।

विवेचन

यह मानव-मन का स्वभाव है कि जब कोई वस्तु उसे दीर्घ काल की प्रतीक्षा, इच्छा और प्रयत्न के बाद मिलती है तो उसे उससे एक विशिष्ट ही आनन्द प्राप्त होता है । उस आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए उसके पास योग्य शब्द भी नहीं होते हैं ।

बस ! चिरकाल की प्रतीक्षा के बाद योगिराज आनन्दघनजी को परमात्मा के दर्शन हो रहे हैं, अत: उनकी आत्मा अपनी सुमति सखी को कहती है कि–हे सखि ! चन्द्रमण्डल के समान कांतिवाले चन्द्रप्रभ परमात्मा का मुख मुझे देखने दे ।

दुनिया में अनेक रागी और द्वेषी देव हैं । उनमें से कई राग-ग्रस्त हैं तो कई द्वेष-ग्रस्त । एक वीतराग-परमात्मा ही इस राग-द्वेष के द्वन्द्व से रहित हैं । राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होने के कारण प्रभु का मुख-मण्डल उपशम-रस का कंद है ।

सर्व कर्मों से मुक्त होने के कारण परमात्मा सर्वथा पाप रहित है । परमात्मा दु:ख के द्वन्द्व से भी सर्वथा मुक्त है । ऐसे परमात्मा के दर्शन

के लिए हे सखि ! मेरा मन अत्यंन्त लालायित हो रहा है, अतः किसी भी प्रकार की बाधा मत कर और मुझे उस परमात्मा के मुख-मण्डल को देखने दे ।

सुहुम निगोदे न देखियो, सखि०, बादर अतिहि विशेष, सखि०।
पुढवी आउ न लेखियो, सखि०, तेउ, वाउ न लेस ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सुहुम निगोदे=सूक्ष्म निगोद में । **न देखियो**=प्रभु का मुख नहीं देखा । **बादर**=बादर-निगोद । **अतिहि**=अत्यन्त । **विशेष**=ज्यादा । **पुढवी**=पृथ्वीकाय । **आउ**=अप्काय । **न लेखियो**=नहीं जाना । **तेउ**=अग्नि । **वाउ**=पवन । **लेस**=थोड़ा भी ।

सामान्य अर्थ

सूक्ष्म निगोद में तथा बादर निगोद में भी प्रभु का मुख देखा नहीं है । पृथ्वीकाय-अप्काय, तेउकाय और वायुकाय में भी मैंने लेश भी परमात्मा का मुख-मण्डल नहीं देखा है ।

विवेचन

प्रभु-दर्शन की अति-उत्सुकता को देखकर किसी ने आनन्दघनजी को पूछ ही लिया कि आपको प्रभु-दर्शन की इतनी उत्सुकता क्यों है ?

इसके उत्तर में आनन्दघनजी प्रभु-दर्शन की चिर प्रतीक्षा की व्यथा को व्यक्त कर रहे हैं । ``आज तक मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए । मेरा भूतकाल कैसी-कैसी दुर्दशा में व्यतीत हुआ है'' इसका स्पष्ट चित्रण इस गाथा और आगे की गाथा में वे कर रहे हैं ।

वे कहते हैं कि ``सूक्ष्म निगोद पर्याय में प्रभु के दर्शन नहीं किये, बादर निगोद में भी प्रभु-दर्शन नहीं हुए ।'' यह निगोद पर्याय क्या है ? अनन्त काल तक आत्मा के लिए रहने के दो ही स्थान हैं–निगोद और मोक्ष ।

निगोद पर्याय आत्मा की निम्नतम दशा है, जहाँ आत्मा का एक मात्र शरीर ही होता है और वह शरीर भी प्रत्येक जीवात्मा का अलग-अलग न होकर अनन्त जीवों का एक ही होता है । यह निगोद भी दो

प्रकार की है—अदृश्यमान औक दृश्यमान ।

अदृश्यमान निगोद चौदह राज लोक के प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षेत्र में ठसाठस भरी हुई है । सुई के अग्र भाग जितना भी स्थान ऐसा नहीं है, जिस क्षेत्र में सूक्ष्म निगोद रही हुई न हो । इस सूक्ष्म निगोद में व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं ।

आज भी अनन्तानन्त जीव ऐसे हैं, जो अनन्तकाल से सूक्ष्म निगोद में ही रहे हुए हैं और अनन्तकाल तक वहीं रहेंगे । सूक्ष्म निगोद से अभी तक बाहर नहीं निकले हुए जीवों को अव्यवहार राशि के जीव कहते हैं और जो सूक्ष्म निगोद में से एक बार भी बाहर निकल चुके हैं, उन्हें व्यवहार राशि के जीव कहते हैं । अपनी आत्मा भी अनन्तकाल तक अव्यवहार-राशि और सूक्ष्म निगोद में रही हुई थी ।

दृश्यमान निगोद अर्थात् बादर निगोद । इस निगोद के जीवों के शरीर समुदाय को आँखों से देख सकते हैं । तालाब में आई हुई काई आदि बादर-निगोद के जीव हैं । आत्मा के विकास क्रम में बादर-निगोद के बाद आत्मा पृथ्वीकाय आदि अवस्था को प्राप्त करती है । पृथ्वीकाय, अप्काय तेउकाय में भी चक्षुरिन्द्रिय का सर्वथा अभाव होने से प्रभु-दर्शन कैसे संभवित है ? प्रभु-दर्शन के लिए तो चाहिये बाह्य और अन्तरङ्ग उभय चक्षु ।

वनस्पति अति-घण-दिहा, सखि०, दीठो नहीं देदार, सखि०।
बि-ति-चउरिंदि, जललीहा, सखि०,
गत सन्नि पण धार, सखि० ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वनस्पति=वृक्ष आदि । **अति=**अत्यन्त । **घण दिहा=**बहुत दिनों तक । **दीठो नहिं=**नहीं देखा । **देदार=**मुखमंडल (कमल) । **बि=**दो (दो इन्द्रिय वाले भव में) । **ति=**तीन (तीन इन्द्रिय वाले भव में) । **चउरिन्द्रिय=**चतुरिन्द्रिय भव में । **जललीहा=**जलरेखा के समान । **गति सन्नि=**असंज्ञी । **पण=**पंचेन्द्रिय अवस्था में । **धार=**ऐसा जाने ।

सामान्य अर्थ

वनस्पतिकाय में मैंने बहुत सा काल व्यतीत किया और वहाँ भी प्रभु के दर्शन नहीं हुए। तत्पश्चात् बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय में भी प्रभु-दर्शन नहीं हुए। (चतुरिन्द्रिय अवस्था में आँख तो मिली किन्तु मन के अभाव के कारण वास्तविक प्रभु-दर्शन नहीं हुए।) मेरी असंज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था भी बेकार गई।

विवेचन

आत्मा के विकास क्रम में जब आत्मा व्यवहारराशि में आती है, तो प्रथम पृथ्वीकाय आदि को प्राप्त कर फिर बादर वनस्पतिकाय को प्राप्त करती है और वहाँ भी बहुत सा काल व्यतीत होता है।

तत्पश्चात् नदी-पाषाण न्याय से भटकती हुई आत्मा बेइन्द्रिय गति को प्राप्त करती है। बेइन्द्रिय अर्थात् दो इन्द्रिय (स्पर्शन और रसना) वाले जीव, जैसे-कृमि आदि।

फिर जीव तेइन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करता है, जहाँ पूर्व से एक नासिका इन्द्रिय अधिक होती है। जैसे-चींटी, मांकड आदि। फिर आत्मा चउरिन्द्रिय अर्थात् चार इन्द्रिय वाली अवस्था को प्राप्त करती है, जिसमें पूर्व की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय अधिक होती है। जैसे-बिच्छू, भ्रमर आदि। यहाँ चर्म चक्षु होने पर भी ज्ञान के अभाव में प्रभु-दर्शन शक्य नहीं है।

चतुरिन्द्रिय अवस्था में जीवात्मा को बाह्य चक्षु की प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु जब तक आँख के साथ मन की प्राप्ति न हो तब तक परमात्मा के वास्तविक दर्शन संभव नहीं है। अतः चतुरिन्द्रिय अवस्था में चक्षु की प्राप्ति भी जलरेखा के समान निष्फल ही गई। कोई व्यक्ति नदी के जल में रेखा खींचने का प्रयत्न करे तो उसका वह प्रयत्न निष्फल ही जाता है, उस श्रम का उसे कोई फल नहीं मिलता है, बस ! इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय अवस्था में मुझे नेत्र तो मिल गए किन्तु मन के अभाव के कारण वे नेत्र भी निष्फल गए।

फिर क्रमशः जीवात्मा को असंज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होती है, परन्तु संज्ञा-बोध (मन) के अभाव के कारण यहाँ भी प्रभुदर्शन शक्य नहीं

हो पाता है, क्योंकि ज्ञान-बोध के लिए प्रभुदर्शन के स्वरूप को कैसे समझा जा सकता है ।

सुर-तिरि-निरय-निवासमां, सखि०, मनुज अनारज साथ, सखि०।
अपज्जत्ता प्रतिभासमां सखि०, चतुर न चढ़ियो हाथ, सखि०।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सुर=देवलोक । **तिरि**=तिर्यंच में । **निरय**=नरक में । **मनुज**=मनुष्य में । **अनारज साथ**=अनार्यों के साथ में । **अपज्जत्ता**=अपर्याप्त अवस्था में । **प्रतिभास**=विवेकरहित । **चतुर**=ऐसे प्रभु । **न चढ़ियो**=चढ़ा नहीं । **हाथ**=मेरे हाथ ।

सामान्य अर्थ

देवलोक में, तिर्यंच योनि में, नरक-निवास में भी प्रभु के दर्शन नहीं हुए और मनुष्य योनि में भी अनार्य देश और अनार्य की संगति से प्रभु दर्शन नहीं हो पाये तो प्रतिभास रूप अपर्याप्त अवस्था में तो प्रभु के दर्शन कहाँ से होवे ?

विवेचन

देवगति में विषयान्धता तथा मिथ्यादृष्टिपना होने के कारण बाह्य चर्म चक्षु होने पर भी प्रभु के दर्शन नहीं हो पाये । तिर्यंच गति में विवेक और बुद्धि के अभाव के कारण प्रभु-दर्शन न कर सका । नरक गति में अत्यन्त भयंकर वेदना के कारण प्रभु दर्शन नहीं कर पाया ।

देवलोक का विलासपूर्ण सुख, तिर्यंच की भूख और नरक का तीव्र दु:ख, ये तीनों आत्मा के शुभ अध्यवसाय में बाधक बनते हैं । उसके बाद कहीं मनुष्य का जन्म भी पा लिया-बाह्य चक्षु भी मिले, परन्तु हे परमात्मन् ! अनार्य देश और अनार्य मित्रों की संगति के कारण आपके दर्शन नहीं कर पाया ।

महान् पुण्य के उदय से जीवात्मा को पंचेन्द्रिय अवस्था की प्राप्ति होती है । पंचेन्द्रिय के भी दो भेद हैं:– पर्याप्त और अपर्याप्त । जो जीव स्व योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर मरते हैं, वे पर्याप्त कहलाते हैं और जो

जीव पर्याप्तियों की समाप्ति के पूर्व ही मर जाते हैं, वे अपर्याप्त कहलाते हैं ।

अपर्याप्त अवस्था में तो मन आदि की प्राप्ति न होने से परमात्म-दर्शन संभव ही नहीं है । पर्याप्त अवस्था में भी यदि जीव सुख में आसक्त बन जाय, अनार्य के संग में पड़ जाय तो भी प्रभु-दर्शन नहीं कर सकता है ।

`अपज्जत्ता प्रतिभास' का दूसरा अर्थ किया है विवेकरहित अवस्था । पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होने के बावजूद भी जब तक विवेक दृष्टि न मिले तब तक प्राप्त सामग्री भी निरर्थक ही है । विवेक रहित अवस्था में परमात्म स्वरूप का बोध या दर्शन संभव नहीं है ।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि इस अनन्त भवसागर में परमात्म-दर्शन कितना दुर्लभ है ? क्या इस दुर्लभता का अभी तक हमें आभास हुआ है ? जिसे इस दुर्लभता का ख्याल आ जाय, उसके जीवन में प्रमाद टिक नहीं सकता ।

इम अनेक थल जाणीए, सखि०,
दरिसण विण जिण-देव, सखि० ।
आगम थी मति जाणीए, सखि०,
कीजे निरमल सेव, सखि० ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

इम=इस प्रकार । **अनेक**=बहुत । **थल**=स्थान । **जाणीए**=जानो । **दरिसण**=दर्शन । **विण**=बिना । **जिणदेव**=जिनेश्वरदेव । **आगम थी**=शास्त्रों से । **निरमल**=शुद्ध ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार अनेक स्थल, प्रभु-दर्शन के बिना ही व्यतीत हुए हैं । अब जिनागम से बुद्धि को निर्मल कर चित्त की शुद्धि कर निष्काम भाव से प्रभु की सेवा करो ।

विवेचन

सुबह का भूल शाम को घर लौट जाय, तो भी वह भूला नहीं कहलाता है, इस युक्ति के अनुसार प्रभु-दर्शन के बिना अपना अनन्त

काल व्यतीत हुआ । किसी भव में प्रभु-दर्शन हुए भी तो मात्र चर्म-चक्षुओं से, हृदय के नेत्रों से नहीं ।

वास्तव में, भावपूर्वक प्रभु दर्शन ही आत्मा को लाभकारी बन सकता है । हे आत्मन् ! अब भी जागृत बन । बीती बात के लिए पछताना व्यर्थ है, उससे भी सबक लेकर आगे सावधान बन जा । फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रभु की सेवा किस प्रकार की जाय ?

इसका प्रत्युत्तर देते हुए पूज्य योगिराज आनन्दघनजी महाराज फरमा रहे हैं कि जिनागम के अनुसार परमात्मदर्शन व पूजन की विधि को समझने का प्रयत्न करना चाहिये । यदि आगम के अनुसार परमात्म-दर्शन-पूजन का अभ्यास किया जाय तो भव्यात्मा अवश्य प्रभु-दर्शन से लाभान्वित हो सकती है ।

निरमल साधु-भगति लही, सखि०,
योग-अवंचक होय, सखि० ।
क्रिया-अवंचक तिम सही, सखि०,
फल-अवंचक जोय, सखि० ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

निरमल=निर्मल । **भगति**=भक्ति । **लही**=प्राप्त करके । **योग अवंचक**=योग की सफलता । **तिम**=उस प्रकार ।

सामान्य अर्थ

निष्काम साधु-भक्ति से अवंचक-योग (कुटिलता रहित) की प्राप्ति होती है, उस अवंचक योग का फल भी अवंचक होता है ।

विवेचन

जब आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन को पाने के लिए योग्य बनती है, तो उसे योग, क्रिया और फल इन तीनों प्रकार की अवंचकता की प्राप्ति होती है, अर्थात् वह आत्मा ऐसे ही योग की प्रवृत्ति करती है, जो उसके लिए फलदायी बनती है ।

जब तक आत्मा में सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की योग्यता प्रकट नहीं होती

है, तब तक उसकी धर्म क्रिया आडंबर रूप भी हो सकती है । 'मुँह में राम, बगल में छुरी' जैसी हालत उन आत्माओं की होती है, जो बगुला भगत की भाँति अन्य व्यक्तियों को ठगने के लिए धर्म का आडंबर करते हैं । इस प्रकार की धर्म-क्रियाएं वास्तविक फल देने में समर्थ नहीं बनती हैं । लेकिन जब आत्मा में क्रमशः सम्यग्दर्शन प्राप्ति की योग्यता प्रकट होती है, तो उसके पूर्व निर्मल साधु-भक्ति प्राप्त होती है । निष्काम भाव से की गई साधु सेवा-योग अवंचकता को प्राप्त कराती है ।

साधुसेवा के फलस्वरूप क्रिया-अवंचकता प्राप्त होती है । 'योगदृष्टि समुच्चय' में कहा गया है कि 'ऐसे महात्माओं की सेवाभक्ति आदि क्रियाएँ महा पापों का विनाश करती है, यह क्रियावंचक योगावस्था है ।'

योग-अवंचक :– मोक्षमार्ग के साधक पूज्य गुरु भगवन्त का योग होना-योगवंचक कहलाता है । ऐसे सद्गुरुओं का योग ही भव्यात्मा को मोक्ष दिलाने में समर्थ है । जिनके हृदय में अभी तक संसार-सुख का तीव्र राग ही भरा हुआ है, और जो संसार का सुख पाने के लिए त्याग-तप की साधना करते हैं, उनका योग आत्मा के लिए हितकर नहीं बन सकता है बल्कि आत्मा को ठगने वाला ही होता है ।

क्रिया अवंचक :– मोक्षमार्ग के साधक सद्गुरु के वचनानुसार विधिपूर्वक अनुष्ठानादि का आचरण करना क्रिया-अवंचक योग कहलाता है । ऐसी क्रियाएँ जो आत्मा को मोक्ष दिलाने में समर्थ हैं–क्रिया अवंचक कहलाती हैं ।

फल अवंचक :– एवंभूत नय के अनुसार यथार्थ क्रिया करने से उस क्रिया का सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है, क्रिया के सम्पूर्ण फल की प्राप्ति को फल अवंचक योग कहते हैं ।

प्रेरक अवसर जिनवरु, सखि०, मोहनीय क्षय जाय, सखि० ।
कामित पूरण सुरतरु, सखि०, आनन्दघन प्रभु-पाय, सखि०॥7॥

कठिन शब्दों के अर्थ

अवसर=उचित समय । **जिनवरु=**जिनेश्वर देव । **कामितपूरण=** इच्छा को पूर्ण करने वाले । **आनन्दघन=**आनन्द से भरपूर ।

सामान्य अर्थ

ऐसा अवसर जब प्राप्त होगा, तब हे सखि ! जिनेश्वदेव प्रेरणा करेंगे, और मोहनीय कर्म का क्षय हो जायेगा। आनन्द के समूह रूप प्रभु के चरण कमल भक्तों की इच्छाओं को पूर्ण करने में कल्पवृक्ष समान है।

विवेचन

अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रगट कराने के लिए चन्द्रप्रभ भगवान प्रेरक बने हुए हैं। यदि प्रेरक ही न हों तो प्रेरणा किससे मिले ? प्रभु अपने स्वरूप के दर्शन कराकर, उस स्वरूप की प्राप्ति के लिए हमें जागृत कर रहे हैं। भगवान की भक्ति तो मोक्ष की दूती है। भगवान की भक्ति से भक्त का मोहनीय कर्म क्षय हो जाता है।

मोहनीय कर्म का जोर तभी तक रहता है, जब तक हम भगवान् की उपेक्षा कर संसार से प्रेम करते हैं। प्रभु से प्रीति होने के साथ मोह का जोर घटता जाता है। अन्त में, मोह के क्षय होने पर अन्य कर्म स्वतः ही कमजोर बन जाते हैं और आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर सकती है। अपनी इन सब इच्छाओं को पूर्ण करने में प्रभु कल्पवृक्ष के समान हैं। जरूरत है मात्र उनकी भक्ति की।

नवम स्तवन

पूर्व भूमिका

मोक्षमार्ग में होने वाले आत्मा के विकासक्रम को आनन्दघनजी महाराज ने इस चौबीसी में बहुत ही अच्छी तरह से गूंथा है ।

आत्मा के क्रमिक विकास के अनुसार क्रमशः प्रत्येक स्तवन में मोक्षमार्ग बतलाया गया है । इन स्तवनों के गहनतम अध्ययन से हमें मोक्ष मार्ग की झाँकी स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाती है और इस मार्ग में अपनी स्थिति कहाँ है ? इसका भी पता लग जाता है ।

प्रस्तुत स्तवन तक आते-आते आनन्दघनजी महाराजा ने प्रभु-दर्शन की तीव्र उत्सुकता बतला दी है । गत स्तवन में प्रभु-दर्शन की बात कही थी, इस स्तवन में प्रभु-पूजन की चर्चा है ।

प्रभु-पूजा क्यों करनी चाहिये ? इसका स्पष्ट ख्याल इस स्तवन से हो जाता है । प्रभुजी की द्रव्य और भाव पूजा से प्रभु-आज्ञा का पालन होता है और प्रभु-आज्ञा-पालन से चित्त प्रसन्न रहता है, यह चित्त की प्रसन्नता हमें मोक्षसुख का आस्वादन कराती है ।

मोक्ष-मार्ग की प्राथमिक भूमिका में रहे हुए जीवों के लिए प्रभुजी की द्रव्य-भाव पूजा अत्यन्त अनिवार्य है । आदि धार्मिक अवस्था में भी `प्रभु के प्रति हार्दिक सद्भावना' अनिवार्य मानी गई है । देवाधिदेव वीतराग परमात्मा हम पर चारों निक्षेपों से उपकार करते हैं । उनका हम पर जो उपकार है, उसका किन शब्दों में वर्णन करें ? वह तो अवर्णनीय है । ऐसे अनन्तोपकारी परमात्मा की पूजा-भक्ति करना यह अपना अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है । इस स्तवन में बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रभु-पूजा के स्वरूप का वर्णन किया है ।

तो चलें ! हम भी प्रभु पूजा के स्वरूप को समझ कर उसको आत्मसात् करने के लिए प्रयत्नशील बनें –

9 सुविधिनाथ जिन-स्तवन

(राग : केदारो-इस धन्नो घणनै परचावै-ए देशी)

सुविधि जिणेसर पाय नमी ने, शुभ करणी एम कीजे रे ।
अति घणो उलट अंगे धरी ने, प्रह उठी ने पूजी जे रे ।।
सुविधि०...1।।

द्रव्य भाव शुचि भाव धरी ने, हरखि देहरे जइए रे ।
दह तिग पण अहिगम साचवतां, एक मना धुरि थइए रे ।।
सुविधि०...2।।

कुसुम अक्षत वर वास सुगंधी, धूप दीप मन–साखी रे ।
अंग पूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख आगम–भाखी रे ।।
सुविधि०...3।।

एहनुं फल दोय भेद सुणीजे, अनन्तर ने परम्पर रे ।
आणा पालण चित्त प्रसन्नी, मुगति सुगति सुर मंदिर रे।।
सुविधि०...4।।

फुल अक्षत वर धूप पइवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे ।
अंग-अग्र पूजा मली अडविध, भावे भविक शुभ गति वरी रे ।।
सुविधि०...5।।

सत्तर भेद एकवीस प्रकारे, अट्ठोत्तर सत भेदे रे ।
भाव पूजा बहुविध निरधारी, दोहग दुरगति छेदे रे।।
सुविधि०...6।।

तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपशम खीण सयोगी रे ।
चउहा पूजा इम उत्तराझयणे, भाखी केवलभोगी रे।।
सुविधि०...7।।

इम पूजा बहुभेद सुणी ने, सुखदायक शुभ करणी रे ।
भविक जीव करशे ते लहेशे, आनन्दघन पद धरणी रे।।
सुविधि०...8।।

सुविधि जिणेसर पाय नमी ने, शुभ करणी एम कीजे रे ।
अति घणो उलट अंगे धरी ने, प्रह उठी ने पूजी जे रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सुविधि=नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ भगवान अथवा अच्छी विधि से । **पाय=**पैर । **नमी ने=**नमस्कार करके । **शुभ-करणी=**शुभ क्रिया । **एम=**इस तरह । **कीजे=**करनी चाहिये । **अति घणो उलट=**अत्यन्त हर्ष । **अंगे=**शरीर में । **धरी ने=**धारण करके । **प्रह=**प्रभात में । **उठी=**उठकर ।

सामान्य अर्थ

श्री सुविधिनाथ भगवान के चरण-कमलों में नमस्कार करके आगे कही हुई विधि से शुभ कार्य करना चाहिये । अंग में अदम्य उत्साह के साथ प्रातःकाल में उठकर प्रभु की विविध प्रकार से पूजा करनी चाहिये ।

विवेचन

आत्मा की अनन्तकाल की इस लम्बी यात्रा में बड़ी कठिनाई से इस भव में वीतराग परमात्मा का योग हमें प्राप्त हुआ है । ऐसे वीतराग देव की प्राप्ति के बाद भक्त प्रभु की पूजा किये बिना कैसे रह सकता है ?

प्रातःकाल में उठने के साथ ही भक्त को प्रभु याद आते हैं । उठने के साथ अत्यन्त भक्तिपूर्ण भाव से सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करना चाहिये । सुविधिनाथ प्रभु के चरण-कमलों में नमस्कार करना चाहिये । फिर उसके बाद आगे कही हुई विधि से प्रभु-पूजा के लिए तैयार होना चाहिये । प्रभु की पूजा के लिए हृदय में अत्यन्त भावोल्लास होना चाहिये ।

`अति घणो...धरी ने' पंक्ति हमें भावना की अभिवृद्धि के लिए प्रेरणा देती है । क्रिया से कर्म का बंध होता है और भावोल्लास से उसका अनुबंध पड़ता है । भावोल्लासपूर्वक शुभ क्रिया करने से उस क्रिया की फल देने की शक्ति कई गुणी बढ़ जाती है । शुभ क्रिया करते हुए भी हृदय में भावोल्लास न हो तो वह क्रिया अधिक फलदायी नहीं बनती है ।

अतः आनन्दघनजी म. कहते हैं कि परमात्म-पूजन के पूर्व हृदय को शुभ भाव से भर देना चाहिये ।

द्रव्य भाव शुचि भाव धरी ने, हरखि देहरे जइए रे ।
दह तिग पण अहिगम साचवतां, एक मना धुरि थइए रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

द्रव्य=बाह्य पदार्थ । **भाव**=अन्दर से, भावपूर्वक । **शुचि**=पवित्र । **भाव**=संयोग । **धरी ने**=धारण करके । **हरखि**=हर्षपूर्वक । **देहरे**=मंदिर । **जइए**=जायें । **दह**=दश । **तिग**=त्रिक । **पण**=पाँच । **अहिगम**=अभिगम । **साचवतां**=ध्यान रखते हुए । **एकमना**=एकाग्र होकर । **धुरि**=प्रारम्भ में । **थइए**=हो ।

सामान्य अर्थ

द्रव्य और भाव से पवित्र बनकर हर्षित मन से प्रभु के मंदिर मे जाना चाहिये और वहाँ दस त्रिक तथा पाँच अधिगम का मन की एकाग्रता पूर्वक पालन करना चाहिये ।

विवेचन

परमात्म-दर्शन अथवा पूजन के लिए मंदिर में जाना, यह कोई सामान्य काम नहीं है । राजा, मंत्री आदि से मुलाकात करने के लिए व्यक्ति कैसे जाता है ? तो फिर मंदिर में तो त्रिलोक के नाथ वीतराग परमात्मा के दर्शन के लिए जाना है, अतः उसके लिए पूर्ण तैयारी चाहिये और इसके साथ ही विधि का पालन भी चाहिये ।

इस गाथा में प्रभु-पूजन की संक्षिप्त विधि बतला देते हैं:–

विधि :– (अ) द्रव्य शुद्धि :– प्रभु दर्शन-पूजन के लिए जाते समय द्रव्य शुद्धि अनिवार्य है । द्रव्यशुद्धि से तात्पर्य शरीरशुद्धि से है । द्रव्य की शुद्धि, भाव-शुद्धि में कारण है । पूजा करने के पूर्व अन्य विवक्षा से भी सात प्रकार की शुद्धियों का विधान है–

(1) अंग शुद्धि :– पूजा के लिए सर्वप्रथम शरीर की शुद्धि अनिवार्य है । इसके लिए पानी को छानकर, अल्प जल से शरीरशुद्धि (स्नान) करनी चाहिये । सरोवर, नदी अथवा हौज में कूद कर स्नान नहीं करना चाहिये ।

(2) वस्त्र शुद्धि :– पूजा के वस्त्र स्वच्छ व सुन्दर होने चाहिये। पूजा के वस्त्र पहन कर मल-मूत्र आदि नहीं करना चाहिये। पूजा में सीले हुए वस्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(3) मन शुद्धि :– पूजा करते समय मन में से अशुभ विचारों का त्याग करना चाहिये और शुभ विचारों से मन को भावित करना चाहिये।

(4) भूमि शुद्धि :– मन्दिर में जाने के बाद वहाँ कचरा आदि हो तो उसे दूर करना चाहिये।

(5) उपकरण शुद्धि :– पूजा में उपयोगी सामग्री कीमती और शुद्ध होनी चाहिये। पुष्प-धूप सुगंधित होने चाहिये। चावल नैवेद्य व फल भी अच्छे होने चाहिये। परमात्म-पूजा स्व द्रव्य से करनी चाहिये।

(6) द्रव्य शुद्धि :– न्याय व नीति से उपार्जित द्रव्य से परमात्मा की पूजा करनी चाहिये।

(7) विधि शुद्धि :– परमात्मा की पूजा विधिपूर्वक करनी चाहिये। विधिपालन से प्रभु-पूजा अत्यन्त फलदायी बनती है।

(ब) भाव शुद्धि :– भावशुद्धि अर्थात् मन-शुद्धि अथवा आत्मा के परिणामों की शुद्धि। द्रव्य की शुद्धि होने पर भी यदि भाव-शुद्धि नहीं है, तो वह द्रव्य-शुद्धि भी निरर्थक है। अतः प्रभु-पूजा के लिए जाने के पूर्व हृदय में काम-क्रोधादि के भावों को दूर करना चाहिये। सर्व जीवों के साथ हृदय में मैत्री धारण करनी चाहिये और परमात्मा के प्रति हृदय में अपूर्व भक्तिभाव पैदा करना चाहिये।

(3) दस-त्रिक-पालन :– जिन-मन्दिर में प्रवेश से लगाकर निर्गमन तक की विधि को दस-त्रिक के द्वारा आसानी से समझ सकते हैं। त्रिक अर्थात् तीन का समूह। ये 10 त्रिक निम्नलिखित हैं–

(क) निसीही त्रिक–(1) प्रभु-मन्दिर में प्रवेश करते समय, (2) मूल गर्भद्वार में प्रवेश करते समय तथा (3) द्रव्यपूजा की समाप्ति के बाद, इस प्रकार क्रमशः तीन बार निसीही कहना चाहिये। निसीही अर्थात् निषेध।

प्रथम निसीही द्वारा सांसारिक प्रवृत्ति का त्याग। द्वितीय निसीही द्वारा मन्दिर सम्बन्धी अन्य कार्यों का निषेध। तृतीय निसीही द्वारा द्रव्य-पूजा के विचारों का भी निषेध।

(ख) प्रणामत्रिक :– प्रभु को दूर से देखते ही (1) अंजलि-बद्ध नमस्कार (प्रणाम) करना चाहिये, (2) गर्भ-द्वार के पास प्रभुदर्शन समय अर्धावनत होकर नमस्कार करना चाहिये तथा (3) चैत्यवन्दन करते समय पंचांग प्रणिपात पूर्वक नमस्कार करना चाहिये ।

(ग) प्रदक्षिणा त्रिक :– सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रयी की प्राप्ति के लिए जिनमन्दिर में अपने बायें हाथ की ओर से तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये ।

(घ) पूजा त्रिक :– प्रभुजी की तीन प्रकार से पूजा करनी चाहिये । (1) अंग पूजा :– साक्षात् प्रभु के अंग पर होने वाली पूजा । (2) अग्र पूजा :– प्रभु के सामने अक्षत आदि धरकर की जानेवाली पूजा । (3) भाव पूजा :– प्रभु की स्तवना गुण-गान रूप पूजा ।

(च) अवस्था चिंतन त्रिक :– प्रभुजी की पिंडस्थ-पदस्थ और रूपातीत अवस्था त्रय का चिंतन करना चाहिये । (1) पिंडस्थ :– छद्मस्थ अवस्था का चिंतन । प्रभु के जन्म, राज्य और श्रमण अवस्था का चिंतन । (2) पदस्थ :– प्रभु की केवली अवस्था का चिंतन । (3) रूपातीत :– प्रभु की सिद्धावस्था का चिंतन ।

(छ) त्रिदिशि त्याग त्रिक :– चैत्यवन्दन आदि करते समय दायें-बायें तथा पीछे देखने का त्याग करना चाहिये । अपनी दृष्टि प्रभु सम्मुख होनी चाहिये ।

(ज) प्रमार्जन त्रिक :– चैत्यवन्दन करने के पूर्व तीन बार उत्तरासंग से भूमि का प्रमार्जन करना चाहिये ।

(झ) आलंबन त्रिक :– चैत्यवन्दन करते समय योगमुद्रा, मुक्ता शुक्ति मुद्रा और जिनमुद्रा का बराबर पालन करना चाहिये ।

(ट) प्रणिधान त्रिक :– चैत्यवन्दन करते समय मन-वचन तथा काया की एकाग्रता होनी चाहिये ।

पाँच अभिगम :– जिन-मन्दिर में इन पाँच अभिगमों का (विनय का) पूर्णतया पालन करना चाहिये–(1) सचित्त वस्तु का त्याग । (2) अचित्त वस्तु का अत्याग अथवा ग्रहण । (3) मन की एकाग्रता । (4) अखंडित

उत्तरासन । (5) प्रभु दर्शन के साथ अंजलिबद्ध नमस्कार । अथवा

यदि राजा हो तो (1) तलवार (2) छत्र (3) जूते (4) मुकुट तथा (5) चामर का त्याग कर मन्दिर में प्रवेश करे । इस प्रकार 10 त्रिक और 5 अभिगम का पालन करने से विनय गुण की पुष्टि होती है ।

कुसुम अक्षत वर वास सुगंधी, धूप दीप मन–साखी रे ।
अंग पूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख आगम–भाखी रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कुसुम=पुष्प । **अक्षत**=चावल । **वर**=श्रेष्ठ । **सुगंधी**=अच्छी गंध वाले । **मन-साखी**=मन की साक्षी से । **अंगपूजा**=अंग को स्पर्श कर की गई पूजा । **पण**=पाँच । **इम**=इस तरह । **गुरुमुख**=गुरु के मुख से । **आगम भाखी**=आगम में कही गई ।

सामान्य अर्थ

पुष्प, चावल, उत्तम वासक्षेप, सुगंधी-धूप तथा दीपक-यह पांच प्रकार की अंग पूजा, जिसे गुरुमुख से सुना है और जो आगम में कही गई हैं (ये पूजाएँ) मन की साक्षी अर्थात् एकाग्र चित्त से करनी चाहिये ।

विवेचन

इस गाथा में शास्त्र में निर्दिष्ट और गुरुमुख से सुनी हुई प्रभुजी की पाँच प्रकार की पूजा का वर्णन किया गया है । सापेक्ष दृष्टि से इन पाँच प्रकार की पूजाओं में धूप व दीप पूजा अग्रपूजा होने पर भी उन्हें अंगपूजा में समाविष्ट किया गया है, क्योंकि धूप की सुगंध और दीप के प्रकाश का स्पर्श प्रभुजी को होता ही है ।

प्रस्तुत गाथा में `मन साखी रे' पद हमें बहुत कुछ प्रेरणा देता है । मन लगाकर की गई प्रभु पूजा ही वास्तविक फलदायिनी बनती है । परमात्मा की पूजा करते हुए भी मन अन्यत्र भटक रहा हो तो वह पूजा विशेष लाभदायक नहीं बनती है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

'माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख मांहि ।
मनुआ तो दस दिशि फरे, यह तो सुमिरन नांहि ।

मन की एकाग्रता पूर्वक परमात्म-दर्शन, पूजन, वन्दन-स्मरण आदि से अत्यधिक लाभ होता है। अतः प्रभु भक्ति में मन की साक्षी अर्थात् मन की एकाग्रता अनिवार्य है।

एहनुं फल दोय भेद सुणीजे, अनन्तर ने परम्पर रे।
आणा पालण चित्त प्रसन्नी, मुगति सुगति सुर मंदिर रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

एहनुं=इसका। **दोय भेद**=दो भेद। **सुणीजे**=सुनो। **अनन्तर**=तुरन्त। **परम्पर**=अंतिम। **आणा-पालण**=आज्ञापालन। **सुरमंदिर**=देवगति।

सामान्य अर्थ

जिनपूजा का फल दो प्रकार का कहा गया है–(1) अनंतर फल अर्थात् तात्कालिक फल। (2) परंपर फल-अन्तिम फल। जिन-पूजा करने से तुरन्त चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह प्रभु-पूजा का अनंतर फल है। प्रभु-पूजा से सद्गति, देवलोक की प्राप्ति और अंत में मोक्ष की भी प्राप्ति होती है–यह प्रभु पूजा का परंपर फल है।

विवेचन

आनन्दघनजी महाराजा प्रभुपूजा का बहुत अधिक महत्त्व बतलाते हैं, अतः उनको कोई पूछ लेता है कि आप प्रभु-पूजा का इतना माहात्म्य तो बतला रहे हैं, परन्तु इसका फल क्या है ? आनन्दघनजी उसका जवाब देते हुए कहते हैं–'प्रभु पूजा के दो फल हैं।'

(1) अनंतर फल :– अनंतर अर्थात् तात्कालिक फल। प्रभु-पूजा करने से सर्वप्रथम प्रभु की आज्ञा का पालन होता है। प्रभु-आज्ञापालन यह सबसे बड़ी साधना है। प्रभुपूजा करते समय भक्त प्रभु की अनेकविध आज्ञाओं का पालन करता है और उस आज्ञा के परिणाम स्वरूप उसे तत्काल चित्त की प्रसन्नता का अनुभव होता है।

चित्त की प्रसन्नता यह आत्मा के लिए आनन्ददायी बात है। पहले स्तवन में भी प्रभु-पूजन के फल को बतलाते हुए आनन्दघनजी ने कहा था–

'चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्युं रे'

(2) परंपर फल :– प्रत्येक शुभ धर्मानुष्ठान का अंतिम परंपर फल मोक्ष है, क्योंकि मोक्षफल ही सर्वोत्कृष्ट फल है। परमात्मा के बतलाये गये छोटे से छोटे अनुष्ठान में भी मोक्ष देने का सामर्थ्य रहा हुआ है, तो फिर प्रभु-पूजा से मोक्ष मिले, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

प्रभुपूजा करनेवाले को जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह सद्गति अर्थात् मनुष्य गति और देवलोक को ही प्राप्त करता है। प्रभु के भक्त की दुर्गति रुक जाती है, उसे दुर्गति के कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। क्या आप दुर्गति से बचना चाहते हैं ? तो परमात्मा की द्रव्य-भाव पूजा में लीन बन जाना चाहिये।

फुल अक्षत वर धूप पइवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे।
अंग-अग्र पूजा मली अडविध, भावे भविक शुभ गति वरी रे।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पइवो=प्रदीप। **अडविध=**आठ प्रकार। **भविक=**भव्य प्राणी। **वरी=**वरता है।

सामान्य अर्थ

पुष्प, चावल, श्रेष्ठ धूप, दीपक, केशर-चन्दन आदि सुगंधित पदार्थ नैवेद्य, फल तथा जल से भरा कलश–इस सामग्री से अंग और अग्र स्वरूप अष्ट प्रकारी पूजा है। जो भव्य प्राणी भाव-भक्तिपूर्वक ये पूजाएँ करता है, वह अवश्य सद्गति को प्राप्त करता है।

विवेचन

इस गाथा में अष्ट प्रकारी पूजा का वर्णन किया गया है, जिसे दो भागों में बाँट सकते हैं–

(1) अंग पूजा :– (1) जल पूजा। (2) सुगंधित केसर चन्दन से पूजा तथा (3) पुष्प पूजा–ये तीन पूजाएँ अंग पूजा कहलाती हैं, क्योंकि इन पूजाओं में प्रभु के देह का स्पर्श होता है।

(2) अग्र पूजा :– (1) धूप पूजा। (2) दीप पूजा। (3) अक्षत पूजा। (4) नैवेद्य पूजा तथा (5) फल पूजा का समावेश अग्र पूजा में होता

है । क्योंकि प्रभु के सामने रहकर ये पूजाएँ की जाती हैं । भावपूर्वक ये पूजाएँ करने से आत्मा अवश्य सद्गति को प्राप्त करती है ।

सत्तर भेद एकवीस प्रकारे, अट्ठोत्तर सत भेदे रे ।
भाव पूजा बहुविध निरधारी, दोहग दुरगति छेदे रे ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सत्तर भेदे=सत्रह भेद । **अठोत्तर सत**=एक सौ आठ । **बहुविध**=बहुत प्रकार वाली । **निरधारी**=निर्धारण । **दोहग**=दुर्भाग्य । **दुरगति**=दुर्गति ।

सामान्य अर्थ

प्रभु की द्रव्य पूजा सत्रह भेदी, इक्कीस-भेदी तथा एक सौ आठ भेद वाली है । इसके साथ भाव पूजा भी अनेक प्रकार की है । ये सब पूजाएँ दुःख और दुर्गति का छेद करनेवाली हैं ।

विवेचन

शास्त्र में पूजा के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं–

पूजा के सत्रह प्रकार :– (1) अभिषेक पूजा (2) विलेपन पूजा (3) वस्त्र पूजा (4) वास पूजा (5) पुष्प पूजा (6) पुष्पमाला पूजा (7) पुष्प-श्रृंगार पूजा (8) सुगंधित चूर्ण पूजा (9) ध्वज पूजा (10) आभूषण पूजा (11) पुष्पगृह पूजा (12) पुष्पवर्षण पूजा (13) अष्ट मांगलिक पूजा (14) धूपदीप पूजा (15) गीत पूजा (16) नृत्य पूजा (17) सर्व वाद्य पूजा ।

पूजा के इक्कीस प्रकार :– (1) जल पूजा (2) वस्त्र पूजा (3) चन्दन पूजा (4) पुष्प पूजा (5) वास पूजा (6) बरास पूजा (7) पुष्प माला (8) अष्ट मांगलिक (9) दीपक पूजा (10) धूप पूजा (11) अक्षत पूजा (12) ध्वज पूजा (13) चामर पूजा (14) छत्र पूजा (15) मुकुट पूजा (16) दर्पण पूजा (17) नैवेद्य पूजा (18) पुष्प पूजा (19) गीत पूजा (20) नाटक पूजा (21) वाजिंत्र पूजा ।

इस प्रकार शास्त्रों में 99 प्रकारी पूजा, चौंसठ प्रकारी पूजा और एक सौ आठ प्रकारी पूजा का भी वर्णन है ।

भाव पूजा :– भाव पूजा भी अनेक प्रकार की है । चैत्यवन्दन, देववंदन, स्तवन, स्तुति पाठ, मंत्र-जाप, प्रभु-नाम-स्मरण आदि प्रभु की

भाव पूजा कहलाते हैं। भक्ति और भावपूर्वक परमात्मा की द्रव्य-भाव पूजा करने से दुःख और दुर्गति का नाश हो जाता है। आत्मा दुःख मुक्त होकर परमानंद की अनुभूति करती है और दुर्गति से मुक्त बनकर सद्गतिगामी और मोक्षगामी बनती है।

तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपशम खीण सयोगी रे।
चउहा पूजा इम उत्तराझयणे, भाखी केवलभोगी रे ॥7॥

कठिन शब्दों के अर्थ

तुरिय=चौथा। **पडिवत्ती=**प्रतिपत्ति। **खीण=**क्षीण। **सयोगी=**योग सहित। **चउहा=**चार प्रकार वाली। **उत्तराझयणे=**उत्तराध्ययन में। **केवलभोगी=**केवलज्ञानी ने।

सामान्य अर्थ

उपशांत मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली गुणस्थानक (क्रमशः 11, 12 तथा 13 वाँ गुणस्थानक) यह गुणस्थानकों की प्राप्ति रूप प्रतिपत्ति पूजा का चौथा प्रकार है। केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी के स्वामी केवली भगवन्तों ने उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार पूजा के चार प्रकार बतलाये हैं।

विवेचन

प्रतिपत्ति पूजा अर्थात् आप्त पुरुषों की आज्ञा का अखंडित पालन। पूजा के जो चार प्रकार बतलाये गये हैं—(1) अंग (2) अग्र (3) भाव और (4) प्रतिपत्ति, इनमें क्रमशः आगे-आगे की पूजा का अधिकाधिक महत्त्व है। देशविरति गुणस्थानक में ये चारों प्रकार की पूजाएँ होती हैं, फिर भी प्रथम दो की प्रबलता होती है। सराग सर्व विरति आदि गुणस्थानकों में भाव तथा प्रतिपत्ति पूजा होती है, लेकिन भाव (स्तवनादि) की प्रबलता अधिक होती है, जबकि उपशांत-मोह-क्षीणमोह तथा सयोगी केवली गुणस्थानक में प्रतिपत्ति पूजा की ही प्रबलता होती है।

क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ जीवों के लिए भी जब प्रतिपत्ति पूजा पर बल दिया है, तो अपने लिए तो प्रभु-पूजा को कितनी अधिक आवश्यकता है ? इसका सहज ख्याल आ जाता है। निर्मल व पवित्र बनने के लिए

पवित्र का संग तथा उसका आश्रय अनिवार्य है । यदि अपनी आत्मा को निर्मल बनाना हो तो प्रभु पूजा का आश्रय अवश्य लेना ही पडेगा ।

इम पूजा बहुभेद सुणी ने, सुखदायक शुभ करणी रे ।
भविक जीव करशे ते लहेशे, आनन्दघन पद धरणी रे ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

इम=इस प्रकार । **सुणी ने=**सुनकर । **शुभ करणी=**शुभ क्रिया । **लहेशे=**प्राप्त करेगा । **धरणी=**पृथ्वी ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार प्रभु-पूजा के बहुत से भेद-प्रभेदों को जानकर, जो भव्य प्राणी इस शुभ-कार्य को करेगा, वह अवश्य आनन्द के समूह रूप मोक्षपद को प्राप्त करेगा ।

विवेचन

इस संसार में आत्मा चारों ओर सुख के लिए भटक रही है, परन्तु इसे कहीं भी सुख नहीं मिल पा रहा है और मिल भी कैसे सकता है ? क्योंकि दुनिया के पदार्थ स्वयं नाशवंत और क्षणिक हैं । यदि शाश्वत सुख चाहिये तो उसका एक ही मार्ग है–प्रभु के चरणकमलों की सेवा करो । जो सेवा करेगा उसे मेवा मिलेगा ही ।

जो स्वयं दरिद्र है, वह दूसरे के दारिद्र्य को कैसे दूर कर सकता है ? दूसरे के दारिद्र्य-निवारण के लिए सर्व प्रथम स्व का दारिद्र्य-निवारण अनिवार्य है ।

जिसके पास धन और औदार्य है, वही धन का दान कर सकता है । परमात्मा ने आनन्द के समूह रूप मोक्ष पद प्राप्त किया है, अतः वे ही अक्षय आनन्द का दान करने में समर्थ हैं । जो भव्यात्मा भावपूर्वक परमात्मा की पूजा करता है वह अवश्य ही आनन्द के समूह रूप मोक्षपद को प्राप्त करता है । `आनन्दघन' पद द्वारा कर्त्ता ने अपना नाम भी सूचित किया है ।

दसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

जैनदर्शन अर्थात् अनेकांत दर्शन–स्याद्वाद दर्शन। प्रस्तुत स्तवन में स्याद्वाद की झाँकी प्रस्तुत की गई है। परस्पर विरोधी लगने वाली त्रिभंगियाँ भी प्रभु में किस प्रकार घटती हैं, इसका स्पष्ट-चित्रण इस स्तवन में किया गया है।

स्याद्वाद के ज्ञान बिना जैनदर्शन का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है। वक्ता द्वारा कही गई बात का अपना एक विशेष दृष्टिकोण होता है, उस दृष्टिकोण को स्वीकारना यह सत्य को स्वीकारना है। जैनदर्शन प्रत्येक कथन को सापेक्ष दृष्टि से सत्य मानता है।

प्रस्तुत स्तवन के भावों की गहराई में उतरने से हमें अवश्य ही स्याद्वाद के दर्शन होते हैं। इस स्याद्वाद-दर्शन को समझकर सभी आत्म कल्याण के पथ पर आगे बढ़ें, इसी शुभेच्छा के साथ–

10 शीतलनाथ जिन-स्तवन

(राग : धन्या श्री गौड़ी-गुणह विसाला मांगलिक माला-ए देशी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ।।
।। शीतल०...1।।

सर्व जन्तु हितकरणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे ।
हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे ।।
।। शीतल०...2।।

पर दुःख छेदन इच्छा करुणा, तीक्षण पर दुःख रीझे रे ।
उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामे केम सीझे रे ।।
।। शीतल०...3।।

अभयदान तिम लक्षण करुणा, तीक्षणता गुण भावे रे ।
प्रेरण विण कृत उदासीनता, इम विरोध मति नावे रे ।।
।। शीतल०...4।।

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन प्रभुता, निग्रंथता संयोगे रे ।
योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगी उपयोगे रे ।।
।। शीतल०...5।।

इत्यादिक बहु भंग त्रिभंगी, चमतकार चित देती रे ।
अचरिजकारी चित्र–विचित्रा, आनन्दघन पद लेती रे ।।
।। शीतल०...6।।

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥1॥

कठिन शब्दों के अर्थ

शीतल=शीतलनाथ नाम के दसवें तीर्थंकर। **जिनपति=**जिनेश्वर देव। **ललित=**मनोहर। **त्रिभंगी=**तीन प्रकार वाली। **विविध=**भिन्न-भिन्न। **भंगी=**भंग। **मन=**चित्त। **मोहे=**मोहित करना। **तीक्षणता=**कर्कशता। **उदासीनता=**अलिप्तता। **सोहे=**शोभती है।

सामान्य अर्थ

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ भगवान की त्रिभंगी अत्यन्त लालित्यपूर्ण है। उनकी विविध भंगियाएँ सबके मन को मोह लेती हैं। शीतलनाथ प्रभु में करुणा भी है, तीक्ष्णता भी है और उदासीनता भी है, ये तीनों विरोधाभासी गुण प्रभु में शोभ रहे हैं।

विवेचन

गत स्तवन में प्रभु-पूजा की विस्तृत विधि का सुन्दर वर्णन किया था। अब इस स्तवन में आनन्दघनजी महाराज परमात्मा के स्याद्वाद-दर्शन की झाँकी प्रस्तुत कर रहे हैं।

विश्व में सबसे अनूठा है जैनदर्शन। `स्याद्वाद' विश्व को जैनदर्शन की सबसे बड़ी देन है। स्याद्वाद का अर्थ होता है स्याद् पद से अंकित बात। वक्ता जब कभी कोई बात कहता है, तो उसकी अपनी एक अपेक्षा होती है, दृष्टिकोण होता है।

स्याद्वाद के स्वीकार के साथ हम अनेक वादों से मुक्त बन सकते हैं। दुनिया में जितने भी वाद पैदा होते हैं, उनमें मुख्य कारण सामने वाले के दृष्टिकोण को नहीं समझना ही है। स्याद्वाद हमें दूसरे के विचारों को समझने के लिए अवकाश देता है और समाधान की भूमिका पर लाकर खड़ा करता है।

इस स्तवन में आनन्दघनजी महाराज परमात्मा में विरोधाभासी गुणों की घटना स्याद्वाद दृष्टिकोण से कर रहे हैं। वे कहते हैं—परमात्मा

करुणानिधि है । परमात्मा अत्यन्त तीक्ष्ण है । परमात्मा अत्यन्त उदासीन है ।

ये तीनों गुण उपलक (स्थूल) दृष्टि से परस्पर विरोधी लगते हैं । जो करुण है, वह कठोर कैसे हो सकता है ? जो करुण और कठोर है, वह उदासीन कैसे रह सकता है ? क्या आप इन विरोधाभासों का स्पष्टीकरण चाहते हैं ? तो आगे पढ़िये । वे इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं ।

सर्व जन्तु हितकरणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे ।
हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सर्व जन्तु=सभी प्राणी । **हितकरणी=**हितकारी । **कर्मविदारण=**कर्म को फाड़ने में । **तीक्षण=**तीक्ष्ण । **हानादान=**त्याग और ग्रहण । **वीक्षण=**देखना ।

सामान्य अर्थ

(क) प्रभुजी में सर्व प्राणियों का हित करने वाली करुणा है । (ख) प्रभुजी में सर्व कर्मों का नाश करने वाली तीक्ष्णता है । (ग) प्रभुजी में त्याग और ग्रहण के अपरिणाम वाली तटस्थता-उदासीनता देखने को मिलती है ।

विवेचन

मेरे शीतलनाथ प्रभु अत्यन्त शीतल हैं, अत्यन्त कोमल हैं, अत्यन्त करुण हैं, क्योंकि जगत् के सर्व प्राणियों के हित रूप करुणा की लहरें उनके कोमल हृदयसागर में उछल रही हैं ।

करुणा के महासागर हैं शीतलनाथ प्रभु ! अपने पूर्व के तीसरे भव में जब उन्होंने विश्व के समस्त प्राणियों को मोह के जाल में फँसे हुए देखा, नरक और निगोद के जीवों की दु:ख भरी आहटें सुनीं, विश्व के समस्त प्राणियों को भयाकुल देखा, तब उनका हृदय करुणा से भर आया । उनके हृदय-सागर में करुणा की लहरें उछलने लगीं और जगत् के सर्व जीवों को सर्व दु:खों से मुक्त बनाने की अत्यन्त शुभ भावना से उन्होंने अपने हृदय को भावित किया और बीस स्थानक की आराधना कर

दृढ़ संकल्प किया कि–``यदि मुझे शक्ति मिले तो मैं सर्व प्राणियों को सर्व दुःखों से मुक्त कर दूँ ।''

बस ! इसी उत्कट भावना में से ही तो वे तीर्थंकर नाम कर्म को उपार्जित करते हैं और भव्य जीवों को भव-सागर तरने के लिए तीर्थ रूपी जहाज का निर्माण करते हैं । अपार करुणा और वात्सल्य की साक्षात् मूर्ति हैं शीतलनाथ प्रभु ।

क्या प्रभु में मात्र करुणा ही हैं ?

नहीं । नहीं । प्रभु तो करवत की धार के समान अत्यन्त तीक्ष्ण भी हैं ।

आत्मा का अन्तरंग शत्रु कर्म है, जब तक कर्म का नाश नहीं होवे, तब तक आत्मा अपने सुख को कैसे प्राप्त कर सकती है ? शत्रु जीवित हो और हस्तक्षेप करता हो तो एक शूरवीर को कैसे नींद आ सकती है ? वह तो एक क्षण भी प्रमाद नहीं करेगा । शत्रु का नाश किये बिना वह नींद कैसे ले सकता है ? बस ! उसी प्रकार परमात्मा ने तब तक चैन की सांस नहीं ली, जब तक उन्होंने अपने शत्रुओं का नाश नहीं किया ।

क्या शत्रु का नाश बिना कठोरता के हो सकता है ? नहीं ! नहीं !! प्रभु उन शत्रुओं का नाश करने के लिए अत्यन्त कठोर बने थे । इस प्रकार कर्म-शत्रुओं का नाश करने में प्रभु अत्यन्त तीक्ष्ण भी थे ।

कोमल व कठोर होते हुए भी प्रभु उदासीन थे । किसी ने प्रभु पर उपसर्ग किये, किसी ने प्रभु की भक्ति की । प्रभु तो दोनों अवस्थाओं में मध्यस्थ रहे । न भक्त पर राग किया और न बुरा करने वाले पर द्वेष । राग से किसी पदार्थ को पाने की इच्छा नहीं है । द्वेष से किसी पदार्थ को छोड़ने की इच्छा नहीं है । हर प्रसंग में मध्यस्थ रहने वाले प्रभु की उदासीनता निराली है ।

पर दुःख छेदन इच्छा करुणा, तीक्षण पर दुःख रीझे रे ।
उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामे केम सीझे रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

रीझे=खुश होना । **एक ठामे**=एक स्थान पर । **केम**=किस तरह । **सीझे**=सिद्ध होना ।

सामान्य अर्थ

पर-दु:ख का नाश करने की इच्छा करुणा है । दूसरे के दु:ख को देखकर खुश होना–तीक्ष्णता है और इन दोनों भावों में मध्यस्थ रहना उदासीनता है ये तीनों परस्पर विरोधी स्वभाववाले हैं । विरोधी होने पर भी वे एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं ? यही सबसे बड़ा प्रश्न है ।

विवेचन

राग और द्वेष से आत्मा कर्म का बंध करती है और उस कर्म के उदय से फिर दु:खी होती है । स्व से भिन्न अन्य आत्मा को दु:खी देखकर उसके दु:ख निवारण की इच्छा करना `करुणा' कहलाती है । दु:खी पर करुणा करना, परमात्मा की आज्ञा है । पूज्यपाद हरिभद्रसूरीश्वरजी म. ने **'षोडशक'** में कहा है-**'परदु:खविनाशिनी तथा करुणा'** दूसरे के दु:ख को नाश करने की भावना करुणा कहलाती है ।

कर्म के उदय से जब स्वयं पर दु:ख आवे, तब उस पीड़ा से खुश होना तीक्ष्णता कहलाती है । दु:ख आने पर यह विचार करे कि **'यह पीड़ा तो देह को हो रही है, मुझे नहीं, क्योंकि मैं तो उससे भिन्न अजर अमर आत्मा हूँ ।'** देह के छेदन-भेदन में यह विचार करे कि **'यह तो पुद्गल का नाश हो रहा है–मेरी आत्मा का नहीं ।'** इस प्रकार स्व दु:ख के प्रति कठोर बनना तीक्ष्णता है ।

सुख और दु:ख में, शत्रु और मित्र में, स्वर्ण और पाषाण में, अनुकूलता और प्रतिकूलता में तटस्थ रहना, मध्यस्थता कहलाती है । परमात्मा में इन तीनों गुणों का वास है । उनमें करुणा है, तीक्ष्णता है और मध्यस्थता भी है । स्थूल दृष्टि से परस्पर विरोधी दिखाई देनेवाले इन तीनों गुणों का वास परमात्मा में कैसे संभव है ? इसका समाधान आगे किया गया है ।

अभयदान तिम लक्षण करुणा, तीक्षणता गुण भावे रे ।
प्रेरण विण कृत उदासीनता, इम विरोध मति नावे रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

तिम=उस प्रकार । **प्रेरण**=प्रेरणा, संकल्प । **विण**=बिना । **कृत**=क्रिया । **नावे रे**=नहीं आती है ।

सामान्य अर्थ

गत गाथा में जो शङ्का की गई थी, उसका समाधान आनन्दघनजी इस गाथा में कर रहे हैं–(क) अनादि काल से संसारी जीव कर्म शत्रुओं से संत्रस्त हैं । जन्म-रोग-शोक आदि से भयभीत हैं । परमात्मा अपनी देशना के द्वारा भव्य प्राणियों को भय से मुक्त करते हैं, यह उनकी करुणा है । (ख) परमात्मा स्वयं के कर्म शत्रुओं का नाश करने में अत्यन्त तीक्ष्ण भी हैं । (ग) यह कोमलता और कठोरता बिना किसी की प्रेरणा से परमात्मा में सहज रूप से है । यह परमात्मा की उदासीनता है ।

विवेचन

निरन्तर छह माह तक भगवान महावीर पर भयंकर से भयंकर उपसर्ग करने वाले संगमदेव का दृश्य आपको याद है ? उसने भगवान महावीर देव के ऊपर । कितनी कठोरता और निर्दयतापूर्वक घोर उपसर्ग किये थे । एक क्षण भी विश्राम लिये बिना वह कठोर बनता जा रहा था । अपनी दुष्टता की सीमा को वह पार कर चुका था, लेकिन अन्त में जब हार कर वह जाने लगा तो भगवान महावीर की आँखों में आँसू आ गये थे । आपको पता है, वे आँसू क्यों आये थे ? अपार करुणा के स्वामी महावीर प्रभु ने विचार किया, **'अहो ! प्राणी मात्र को संसार से मुक्त करने की भावना वाले मुझे पाकर भी दुःख की बात है कि यह आत्मा संसार सागर में डूब जाएगी ।'**

कितनी करुणा थी प्रभु महावीर में ! और नेमिनाथ प्रभु का वह दृश्य याद है न कि जब उन्होंने पशुओं के करुण क्रन्दन को सुनकर उन्हें बन्धन-मुक्त करा दिया था और स्वयं ने विवाह का त्याग कर दिया था ।

तीर्थंकर परमात्मा भव्य जीवों को धर्मदेशना देते हैं ।

उसमें भी उनकी भाव-करुणा ही तो है, इसी कारण से तो **'शक्रस्तव'** में उन्हें अभयदाता कहा गया है ।

परमात्मा कष्टों व परीषहों को सहने में अत्यन्त ही कठोर थे । वे अन्य के प्रति फूल से भी अधिक कोमल और स्वयं के प्रति वज्र से भी अधिक कठोर थे ।

दूसरों के दुःख को दूर करने में वे अत्यन्त करुण थे, इसीलिए तो वीर प्रभु ने शीतलेश्या छोड़कर तेजोलेश्या से नष्ट होते गोशालक का रक्षण किया था और स्वयं पर तेजोलेश्या छोड़ने पर भी गोशालक के प्रति उनके हृदय में लेश भी रोष नहीं था ।

जो व्यक्ति स्वयं के प्रति कठोर नहीं है, वह दूसरों के प्रति कोमल नहीं बन सकता । कर्मशत्रुओं से लड़ने के लिए तो वर्षों तक प्रभु ने भयंकर संग्राम खेला था । क्रोधादि कषाय तो उनसे दूर-सुदूर ही भागते थे । यह तीक्षणता हमें भी कर्म शत्रुओं से लड़ने के लिए प्रेरणा देती है ।

कोमलता तथा कठोरता के साथ प्रभु में उदासीनता भी उत्कृष्ट कोटि की है । उन्हें न किसी से राग है और न किसी से द्वेष । उन्हें न कोई परिस्थिति इष्ट है और न कोई अनिष्ट । वे तो राग-द्वेष से रहित हैं, संकल्प–विकल्प से रहित हैं । हर परिस्थिति और संयोग में वे मध्यस्थता–तटस्थता–उदासीनता की साक्षात् मूर्ति हैं ।

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन प्रभुता, निग्रंथता संयोगे रे ।
योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगी उपयोगे रे ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

शक्ति व्यक्ति=सामर्थ्य का प्रगटीकरण । **त्रिभुवन-प्रभुता**=त्रिभुवन का स्वामित्व । **निर्ग्रंथता**=ग्रंथि रहितपना । **योगी**=योगवाला । **भोगी**=भोग करनेवाला । **वक्ता**=बोलनेवाला । **मौनी**=मौन रहने वाला । **अनुपयोगी**=उपयोग रहित ।

सामान्य अर्थ

इस गाथा में परमात्मा की अन्य त्रिभंगियाँ बतलाई है :–

(अ) (1) शक्ति (2) व्यक्ति (3) शक्ति-व्यक्ति रहित ।

(आ) (1) त्रिभुवन प्रभुता (2) निर्ग्रथता (3) त्रिभुवन प्रभुता और निर्ग्रथता रहित ।

(इ) (1) योगी (2) भोगी (3) योग-भोग रहित ।

(ई) (1) वक्ता (2) मौनी (3) वक्तृत्व तथा मौन रहित ।

(उ) (1) उपयोगवंत (2) अनुपयोगवंत (3) उपयोग-अनुपयोग रहित ।

विवेचन

इस गाथा में प्रभु की विविध त्रि-भंगियाँ बतलाई गई हैं, जो सामान्यतः विरोधपूर्ण लगने पर भी प्रभु में एक साथ घट जाती हैं ।

पहली त्रिभंगी :– शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति रहितपना, यह पहली त्रिभगी है ।

परमात्मा अनन्त शक्ति के स्वामी हैं । अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय हो जाने से प्रभु अनन्त वीर्य गुण से युक्त हैं । जन्म के साथ ही प्रभु का सामर्थ्य विशिष्ट होता है । इसी कारण तो प्रभु महावीर ने जन्म-समय ही मेरु पर्वत को चलायमान कर दिया था । इस प्रकार प्रभु अनन्त शक्तिमय हैं । अनन्त शक्ति के स्वामी होने पर भी प्रभु को अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करना पड़ता है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है । आकाश में स्थित सूर्य क्या अपने प्रकाश को प्रकट करना चाहता है ? नहीं । फिर भी उसकी अभिव्यक्ति हो ही जाती है ।

परमात्मा का दिव्य तेज तो कोटि सूर्यों के तेज से भी अधिक है । फिर उसे प्रदर्शित करने की आवश्यकता ही क्या, वह तो स्वयं प्रदर्शित हो जाता है । प्रदर्शन तो उन्हें चाहिये जो स्वयं कमजोर हों । अधिक विज्ञापन उसी का होता है, जिसकी किस्म हल्की हो । परमात्मा अपनी अभिव्यक्ति कराना नहीं चाहते हैं, लेकिन तीर्थंकर नाम कर्म की पुण्य प्रकृति उन्हें अभिव्यक्त करा ही देती है ।

परमात्मा शक्ति और व्यक्ति रूप होने पर भी उन दोनों से रहित भी हैं । निरंजन और निराकार अवस्था यह प्रभु की शक्ति-व्यक्ति रहित अवस्था है । इस प्रकार प्रभु में पहली त्रिभंगी घटती है ।

दूसरी त्रिभंगी :– परमात्मा त्रिभुवन प्रभु, निर्ग्रंथ तथा उन दोनों से रहित भी हैं । अष्ट प्रातिहार्य और चौंतीस अतिशयों से सुभोभित प्रभु हमें

त्रिभुवन प्रभुता को भोगनेवाले लगते हैं। देव-मनुष्य और तिर्यंच सभी उनकी सेवा करते हैं। इस प्रकार प्रभु त्रिभुवन प्रभु हैं।

त्रिभुवन प्रभु होने पर भी प्रभु निर्ग्रंथ हैं। नौ बाह्य और चौदह अभ्यन्तर ग्रंथियों से परमात्मा रहित हैं। असीम बाह्य भौतिक समृद्धि के भोक्ता होने पर भी प्रभु के हृदय में उसके प्रति लेश भी राग नहीं है। इस प्रकार प्रभु निर्ग्रंथ भी हैं। प्रभु के हृदय में त्रिभुवन-पूज्य बनने की इच्छा भी नहीं है और न वे निर्ग्रंथ के बाह्य चिह्नों को धारण करते हैं, इस प्रकार प्रभु इन दोनों से रहित भी हैं।

तीसरी त्रिभंगी :– परमात्मा योगी, भोगी और इन दोनों से रहित भी हैं। मन-वचन तथा काया को अपने वश में रखने से तथा तेरहवें गुणस्थानक में सयोगी अवस्था होने से प्रभु योगी हैं। आत्मा के स्वरूप में लीन होने से प्रभु भोगी भी हैं। सर्व कर्म का क्षय होने पर चौदहवें गुणस्थानक में प्रभु अयोगी हो जाते हैं और मोक्ष में बाह्य वैभव के भोक्ता न होने से भोगी भी नहीं है।

चौथी त्रिभंगी :– परमात्मा वक्ता, मौनी और दोनों से रहित भी हैं। परमात्मा दिव्य समवसरण में बैठकर धर्म की देशना देते हैं, अतः वक्ता हैं।

परमात्मा पापास्त्रव सम्बन्धी वचन न कहने से तथा मुनि भाव को धारण करने के कारण मौनी भी हैं। पूर्व में हुए अनन्त तीर्थंकरों की कही गई बात को ही कहने के कारण प्रभु का अवक्तृत्व भी है और धर्मदेशना देने के कारण प्रभु का वक्तृत्व भी है।

पाँचवीं त्रिभंगी :– परमात्मा उपयोगी-अनुपयागी और उन दोनों से रहित भी हैं। परमात्मा सदैव दर्शन तथा ज्ञान के उपयोगमय होने से उपयोगवंत है। किसी वस्तु को जानने के लिए छद्मस्थ की तरह उन्हें उपयोग नहीं देना पड़ता है, अतः वे अनुपयोगी हैं।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद किसी वस्तु को देखने के लिए उपयोग देने की आवश्यकता नहीं रहती है। योगनिरोध के बाद तो

उपयोग-अनुपयोग का कोई प्रयोजन ही नहीं है, अतः प्रभु इन दोनों से भिन्न भी हैं ।

इस प्रकार अनन्त गुणों के स्वामी परमात्मा में अनेक त्रिभंगियाँ घट सकती हैं । प्रभु के स्वरूप-चिन्तन से आत्मा आह्लादित होती है ।

इत्यादिक बहु भंग त्रिभंगी, चमतकार चित देती रे ।
अचरिजकारी चित्र–विचित्रा, आनन्दघन पद लेती रे ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

बहुभंग=बहुत से भेद । **चमतकार=**चमत्कार । **चित=**चित्त में । **देती रे=**देती है । **अचरिजकारी=**आश्चर्यकारी । **लेती रे=**ले आती है ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार की अनेक त्रिभंगियाँ प्रभु में घटती हैं, जो चित्त में चमत्कार और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली हैं । जिन आत्माओं में से आश्चर्यकारी त्रिभंगियाँ होती हैं, उन्हें ये मोक्षपद प्रदान करती हैं ।

विवेचन

प्रभु अनन्त गुण के स्वामी हैं । आनन्दघनजी महाराजा हमें प्रभु के उन गुणों की त्रिभंगियों का आस्वादन कराते हैं । प्रभु की इन गुण प्रदर्शक त्रिभंगियों का विचार व चिन्तन करने से चित्त में आनन्द उत्पन्न होता है । प्रभु की ये त्रिभंगियाँ चित्र विचित्र हैं और आनन्द देने वाली हैं ।

जिन-जिन आत्माओं में ये त्रिभंगियाँ पायी जाती हैं, वे अवश्य ही मोक्ष पद के भोक्ता बनते हैं अर्थात् चित्र-विचित्र प्रकार की आश्चर्यकारी त्रिभंगियाँ आनन्द के समूह रूप मोक्ष पद को लाने वाली हैं अथवा स्तवनकार अपने सांकेतिक नाम निर्देश द्वारा कहते हैं कि ये त्रिभंगी वाली आत्माएं परम आनन्द पद को प्राप्त करती हैं ।

ग्यारहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप का चित्रण प्रस्तुत किया है पूज्य आनन्दघनजी महाराज ने प्रस्तुत स्तवन में ।

आनन्दघनजी महाराज योगी होने के साथ-साथ स्पष्ट वक्ता भी हैं । अज्ञानजन्य दुष्प्रवृत्तियों की साधनापूर्वक अध्यात्म का बाह्य आडम्बर करने वाले दम्भी व्यक्तियों का उन्होंने पर्दाफाश कर दिया है ।

नयवाद का ज्ञाता ही अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप को जान सकता है । अतः अध्यात्म को समझने के लिए नयवाद का ज्ञान अनिवार्य है । `अध्यात्म-शास्त्र' के लेबल वाले सभी शास्त्र अध्यात्म-साधक ही होवें, ऐसा अनिवार्य नहीं है । अतः नयवाद का आश्रय लेकर अध्यात्म के सेवन में प्रयत्नशील बनना चाहिये ।

आनन्दघनजी का प्रत्येक स्तवन तत्त्वज्ञान से भरपूर है । तत्त्वज्ञ ही उनके स्तवनों के रहस्यों को जानने में समर्थ है । अत्यन्त ही अर्थगंभीर यह स्तवन है । अतः हम भी इसके वास्तविक अर्थ-रहस्य को समझने में प्रयत्नशील बनें ।

11 श्रेयांसनाथ जिन-स्तवन

(राग : गौड़ी प्रभाती)

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे ।
अध्यात्म-मत पूरण पामी, सहज सुगति-गति गामी रे ।।
।। श्री श्रेयांस०...1।।

सयल संसारी इन्द्रिय-रामी, मुनिगण आतमरामी रे ।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे ।।
।। श्री श्रेयांस०...2।।

निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहिए रे ।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहिए रे ।।
।। श्री श्रेयांस०...3।।

नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे ।
भाव अध्यातम निज गुण साधे, तो तेहशुं रढ मंडो रे ।।
।। श्री श्रेयांस०...4।।

शब्द अध्यातम अर्थ-सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे ।
शब्द अध्यातम भजना जानो, हान-ग्रहण मत धरजो रे ।।
।। श्री श्रेयांस०...5।।

अध्यातम जे वस्तु विचारे, बीजा जाण लबासी रे ।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मत वासी रे ।।
।। श्री श्रेयांस०...6।।

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे ।
अध्यात्म-मत पूरण पामी, सहज सुगति-गति गामी रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

श्री श्रेयांस=श्रेयांसनाथ, ग्यारहवें तीर्थंकर । **अंतरजामी=**अन्तर्यामी । **आतमरामी=**आत्म-स्वरूप में रमण करने वाले । **नामी=**नाम वाले । **अध्यातम=**अध्यात्म । **पुरण=**सम्पूर्ण । **सहज=**बिना कष्ट के । **मुगति गति=**मोक्ष गति । **गामी=**जाने वाले ।

सामान्य अर्थ

हे श्रेयांस प्रभो ! आप अन्तर्यामी हो, आत्मा में रमण करने वाले हो । अध्यात्म के स्वरूप को पूर्णतया प्राप्त कर आप सहज भाव से मोक्ष में पहुँचे हुए हो ।

विवेचन

जब आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रकाश जागृत हो उठता है और मिथ्यात्व रूपी अन्धकार पलायन कर जाता है, तब आत्मा में प्रभु के वास्तविक (निश्चय नयात्मक) स्वरूप को समझने की शक्ति प्रकट होती है । प्रभु के स्वरूप को स्याद्वादी ही समझ सकता है । जिसे स्याद्वाद का ज्ञान नहीं, वह प्रभु के स्वरूप को कैसे समझ सकेगा ? इसलिए स्तवनकार आनन्दघनजी महाराजा ने गत स्तवन में ही स्याद्वाद की झांकी प्रस्तुत कर दी, अब वे प्रभु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन करा रहे हैं ।

वे कहते हैं कि—मेरे प्रभु श्रेयांसनाथ अन्तर्यामी हैं अर्थात् वे अपने मन की बात को भी जान सकते हैं । ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय हो जाने से प्रभु में केवलज्ञान और केवलदर्शन का प्रदीप प्रकट हो जाता है, जिसके द्वारा वे जगत् में रहे हुए सर्व पदार्थों को और उनकी सर्व पर्यायों को साक्षात् हस्तामलकवत् जान लेते हैं ।

इसके साथ ही प्रभु आत्मारामी नामवाले भी हैं अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप (आत्मगुणों) में लीन रहने वाले हैं । आत्मा का कोई नाम नहीं है । नाम तो जड़ वस्तु का होता है, परन्तु हमारे श्रेयांसनाथ प्रभु का

दूसरा नाम भी है, वे हमेशा आत्मस्वरूप में ही लीन रहते हैं, अतः आतमरामी उनका नाम हैं, जो सार्थक ही है। प्रभु ने अध्यात्म की सर्वोच्च भूमिकाओं को प्राप्त किया है। सहज आत्ममग्नता से प्रभु ने बहुत ही सरलता से मोक्ष प्राप्त किया है।

सयल संसारी इन्द्रिय-रामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे ॥2॥

कठिन शब्दों के अर्थ

सयल=सकल। **इन्द्रियरामी=**इन्द्रिय-सुख में रमण करने वाले। **निःकामी=**निष्कामी, कामना रहित।

सामान्य अर्थ

इस संसार में सभी प्राणी इन्द्रिय-सुखों में लीन बने हुए हैं। आत्मिक सुख में रमणता करनेवाले केवल मुनि-गण ही हैं। मुख्यतया जो आत्मा में लीन बने हुए हैं, वे ही निष्काम योगी हो सकते हैं।

विवेचन

इस संसार में चारों ओर मोह का एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ है, मात्र कुछ मुनिवर इस मोह के साम्राज्य से बाहर हैं। जो मोह के आधीन है, वह मोह की आज्ञानुसार ही चलेगा। मोह की आज्ञा है– **''इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है, अतः उसे पानेके लिए प्रयत्नशील बनो और सदा उसी में लीन बने रहो।''**

संसार के लगभग समस्त प्राणी मोह की इस आज्ञा के आधीन बने हुए हैं। जाने कोई जादू न हुआ हो, इस प्रकार सभी प्राणी उसकी इस आज्ञा को स्वीकारे हुए हैं, और इन्द्रिय सुख को चाह रहे हैं, उसके लिए प्रयत्नशील बने हुए हैं, प्राप्त हुए इन्द्रिय-सुख में लीन बने हुए हैं, उसके संरक्षण में सदा जागरूक हैं। यह है संसारी जीव की हालत। वह इन्द्रिय-सुख में ही लीन है, मस्त है। जबकि मोह का। विरोधी जो धर्म है, उसकी यह आज्ञा है कि–

बिभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च कांङ्क्षति ।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं, स्फोरय स्फारपौरुषम् ।।

``यदि आपको संसार से भय लगा है और मोक्ष पाने की तीव्र इच्छा है तो इन्द्रियों पर विजय पाने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थवान बनो ।'' संसार और मोक्ष दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं । दोनों के छोर भिन्न-भिन्न हैं । दोनों की दिशाएँ भिन्न हैं । संसार अपना घर नहीं है । यहाँ आत्मा को मोह के पराधीन रहना पड़ता है ।

क्या आप सच्ची स्वतंत्रता चाहते हैं ? यदि हाँ, तो इन्द्रिय आरामी न होकर आत्मारामी बनो । आत्म-गुणों में मस्त बनो । आत्मा के स्वरूप-चिन्तन में लीन बने रहो । एक मात्र आत्मारामी मुनि ही निष्काम योगी बन सकते हैं और वे योगी ही मोक्ष के अधिकारी बनते हैं ।

निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहिए रे ।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहिए रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

निज स्वरूप=आत्मस्वरूप । **जे=**जो । **किरिया=**क्रिया । **साधे=**सिद्ध करे । **लहिए=**जाने । **चउ गति=**चार गति रूप संसार ।

सामान्य अर्थ

जिस क्रिया को करने से अपने स्वरूप का लाभ होता है, उस क्रिया को अध्यात्म कहते है और जिस क्रिया को करने से आत्मा चतुर्गति रूप संसार में भटकती है, उसे अध्यात्म नहीं कहते ।

विवेचन

पूर्व महापुरुषों ने अनुष्ठान के जो पाँच प्रकार बतलाये हैं–(1) विष (2) गर (3) अननुष्ठान (4) तद्हेतु और (5) अमृत अनुष्ठान, ये पाँचों कहलाने में तो अनुष्ठान हैं परंतु प्रथम दो तो संसारवर्द्धक हैं और तीसरा निष्फल है, जबकि शेष दो अनुष्ठान मोक्ष-साधक हैं ।

स्तवनकार ने अनुष्ठान अथवा धार्मिक क्रिया के दो भेद किये हैं–(1) अध्यात्म तथा (2) अनध्यात्म । जिस क्रिया को करने से संसार घटे, मोक्ष का राग बढ़े और आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो–उसे अध्यात्म

कहते हैं तथा जिस अनुष्ठान को करने के बावजूद भी संसार सुरक्षित रहे, लेश भी संसार का राग घटे नहीं-ऐसी क्रिया को स्तवनकार ने अनध्यात्म की संज्ञा दी है ।

जरा, हम भी आत्म-निरीक्षण करें । जीवन में हो रही धर्म-साधनाओं का परीक्षण करें । संसार के प्रति हमारा राग घट रहा है अथवा बढ़ रहा है ? मोक्ष के प्रति अभिरुचि बढ़ रही है अथवा घट रही है ?

यदि संसार का राग घट रहा हो और मोक्ष का राग बढ़ रहा हो, तब तो अपनी धार्मिक क्रिया अध्यात्म-क्रिया कहला सकती है, परन्तु दशा यदि इससे विपरीत है तो समझो कि सर्प को दुग्धपान की भाँति इन क्रियाओं के दम्भ से हम अपनी आत्मा की दुर्गति ही कर रहे हैं ।

नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे ।
भाव अध्यातम निज गुण साधे, तो तेहशुं रढ मंडो रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ठवण=स्थापना । **छंडो=**त्याग करो । **निज गुण=**आत्मगुण । **रढ=**प्रीति । **मंडो=**लगे रहो ।

सामान्य अर्थ

वस्तु के चार निक्षेपों की तरह अध्यात्म के भी चार निक्षेप हैं । इनमें से नाम, स्थापना और द्रव्य अध्यात्म का त्याग कर देना चाहिये और आत्मगुणों का साधक जो भाव-अध्यात्म है, उसमें लीन हो जाना चाहिये ।

विवेचन

किसी भी वस्तु के स्पष्ट स्वरूप को समझने के लिए जैन-दर्शन में नय और निक्षेप की बात कही गई है । नय और निक्षेप के गहनतम विचार से वस्तु का स्पष्ट स्वरूप हमें समझ में आता है । यहाँ भी अध्यात्म की बात चल रही है, तो आनन्दघनजी महाराज उसके चार निक्षेप बतला रहे हैं—नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म और भाव अध्यात्म ।

चार प्रकार के अध्यात्म बतलाने के साथ ही उनके हेय उपादेय का भी वे दिग्दर्शन करा रहे हैं । वे कहते हैं कि जिससे आत्मरमणता की प्राप्ति होती है, उस भाव अध्यात्म का आसेवन करो । उसके चिन्तन-मनन में डूब जाओ ।

इसके अलावा जो नामादि अध्यात्म आत्मरमणता में सहायक बनते हों, उनका आदर करो और जो मात्र दिखावा रूप हैं, ऐसे नाम-स्थापना और द्रव्य अध्यात्म का त्याग कर दो । वास्तव में, तो भाव-अध्यात्म ही कीमती है । द्रव्य की सफलता भाव पर आधारित है ।

यदि द्रव्य क्रिया आपके शुभ-भाव में सहायक बनती है, तब तो उसकी सफलता है, अन्यथा वह क्रिया मात्र कायकष्ट ही है । अतः यदि आत्म-स्वरूप को पाना चाहते हो तो भाव अध्यात्म में लीन बन जाओ । वास्तव में, भाव निक्षेप ही कार्य साधक है । मात्र नाम, स्थापना और द्रव्य से कार्यसिद्धि संभव नहीं है, अतः अध्यात्म साधना में भी भाव-अध्यात्म का ही आश्रय करना चाहिये क्योंकि उसी से मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है, शेष निरर्थक ही हैं ।

शब्द अध्यातम अर्थ-सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे ।
शब्द अध्यातम भजना जानो, हान-ग्रहण मत धरजो रे ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

निर्विकल्प=विकल्प रहित । **भजना=**विकल्प । **हान=**त्याग करना । **धरजो=**धारण करो ।

सामान्य अर्थ

अध्यात्म के ग्रंथ रूप शब्द अध्यात्म में से उनके अर्थों को सुनकर निर्विकल्प दशा का आदर करो । उसके सिवाय अध्यात्मशास्त्र के बोध का कोई अर्थ नहीं है । अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) में अपनी बुद्धि को लगाना चाहिये ।

विवेचन

भाव अध्यात्म की साधना निर्विकल्प दशा पाने के लिए है । शास्त्र तो हमें मार्गदर्शन दे सकते हैं । वास्तव में, अनुभव ज्ञान से ही तो

निर्विकल्प दशा प्राप्त की जा सकती है। निर्विकल्प दशा प्राप्त हो जाने के बाद आत्मा के लिए, फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता है।

शब्द नय की अपेक्षा अध्यात्म का अर्थ निर्विकल्प दशा का आदर करना है, क्योंकि वह निश्चय नय का ही भेद है। निश्चय नय का अध्यात्म प्राप्त हो जाने के बाद निर्विकल्प दशा प्राप्त होती है।

उपर्युक्त अर्थ के सिवाय इस गाथा का दूसरा अर्थ भी है—सर्व शास्त्रों में शब्द अध्यात्म होवे ही, ऐसा निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकते हैं। शब्दशास्त्र में अध्यात्म की भजना है। किसी में अध्यात्म हो भी और किसी में नहीं भी हो। अथवा—

इस दुनिया में **'अहं ब्रह्मास्मि'** अथवा **'सोऽहं'** का ध्यान करने वाले भी अपने आपको अध्यात्मी मानते हैं और अपना प्रचार करते हैं। पूज्य आनन्दघनजी म. कहते हैं कि इस प्रकार अध्यात्म के शब्दाडम्बर में मत फंसो बल्कि अध्यात्म के स्वरूप की वास्तविकता को पहिचान कर उसको आत्मसात् करने के लिए प्रयत्नशील बनो। मात्र `अध्यात्म' शब्द सुनकर उसमें मोहित नहीं होना चाहिये।

अध्यातम जे वस्तु विचारे, बीजा जाण लबासी रे।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मत वासी रे।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

जाण=जाने। **लबासी=**बकवासी। **वस्तुगते=**यथार्थ रूप में। **वासी रे=**वासित हुए।

सामान्य अर्थ

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले अध्यात्मी हैं और दूसरे तो मात्र लबाड़-वाचाल ही हैं। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को बताने वाले आनन्द के समूह रूप आत्मा के मत में रहने वाले हैं।

विवेचन

अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति है—आत्मनि इति अध्यात्म। आत्मा के विषय में रमण करना—अध्यात्म कहलाता है और इस अध्यात्म के साधक

अध्यात्मी कहलाते हैं । आनन्दघनजी महाराज ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में अध्यात्मी के स्वरूप को बतला कर हमें सावधान भी किया है ।

क्या हम आत्मा के स्वरूप में लीन रहते हैं ? यदि हाँ, तब तो अध्यात्मी कहला सकते हैं और यदि नहीं, तो फिर मात्र वाचाल ही हैं । वीतराग परमात्मा की प्रत्येक आज्ञा का समुचित पालन करना–अध्यात्म कहलाता है ।

प्रभु की आज्ञा का भंग करते हुए–`अध्यात्मी' कहलाना कोरा दम्भ ही है । दम्भी व्यक्ति की क्रिया मात्र आडम्बर रूप होती है, वह फलसाधक नहीं बन पाती है । जो आत्म तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसमें तल्लीन रहता है, वह आनन्दघन-आत्मानन्द के मत में वास करनेवाला है । ऐसी आत्मा अल्प भवों में ही मुक्ति को प्राप्त करती है ।

बारहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

स्याद्वाद के स्वरूप को समझकर आत्मा जब स्व-स्वरूप के चिन्तन में लीन होती है तो उसे अपनी तीन अवस्थाओं की झाँकी मिलती है । (1) ज्ञान चेतना (2) कर्म चेतना (3) कर्मफल चेतना । इन तीनों के स्पष्ट स्वरूप का निर्देश स्तवनकार ने इस स्तवन में किया है ।

ज्ञान चेतना आत्मा की शुद्ध दशा है, स्वभाव दशा है । **कर्म** और **कर्मफल चेतना** आत्मा की विभाव दशा है । इसका त्याग कर हमें ज्ञान-चेतना को पाने का पुरुषार्थ करना है ।

इन तीन चेतनाओं के स्वरूप का वर्णन करने के बाद आनन्दघनजी ने `श्रमण' शब्द की व्याख्या की है । जो आत्मज्ञानी है, वह श्रमण है और जो आत्मज्ञानी नहीं है—वह द्रव्यलिंगी है ।

जरा, हम भी आत्म-निरीक्षण कर देखें कि हम सच्चे साधु-श्रमण बने हैं या नहीं ? यदि नहीं बने हों तो उसके लिए तुरन्त जागृत होकर प्रयत्नशील बन जाना चाहिये ।

वासुपूज्य जिन-स्तवन

(राग : गौड़ी तथा परजीयो)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परिणामी रे ।
निराकार साकार सचेतन, करम करमफल कामी रे ।।
।। वासुपूज्य०...1।।

निराकार अभेद-संग्राहक, भेद-ग्राहक साकारो रे ।
दर्शन ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे ।।
।। वासुपूज्य०...2।।

कर्त्ता परिणामी परिणामो, कर्म जे जीवे करिये रे ।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नय अनुसरिये रे ।।
।। वासुपूज्य०...3।।

दुःख सुख रूप करमफल जाणो, निश्चय एक आनन्दो रे ।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे ।।
।। वासुपूज्य०...4।।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करम फल भावी रे ।
ज्ञान करम फल चेतन कहिये, लेजो तेह मनावी रे ।।
।। वासुपूज्य०...5।।

आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे ।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मत संगी रे ।।
।। वासुपूज्य०...6।।

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परिणामी रे ।
निराकार साकार सचेतन, करम करमफल कामी रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वासुपूज्य=बारहवें तीर्थंकर–वासुपूज्य स्वामी । **त्रिभुवन=**तीन भुवन, ऊर्ध्व लोक-मध्य लोक और अधोलोक । **घननामी=**बहुत से नाम वाले । **परिणामी=**परिणमनशील अथवा श्रेष्ठ नाम वाला । **निराकार=**आकार रहित । **साकार=**आकार सहित । **सचेतन=**चेतना युक्त । **करम=**कर्म । **कामी=**चाहने वाले ।

सामान्य अर्थ

इन्द्र आदि से पूज्य ऐसे तीन भुवन के स्वामी श्री वासुपूज्य जिनेश्वर देव रूप आत्मा घननामी अर्थात् नित्य तथा परिणामी-परिणमनशील अथवा श्रेष्ठ नाम वाला है । ये प्रभु निराकार चेतना और साकार चेतना वाले चेतनावंत भी हैं । कर्म के कर्त्ता और उन कर्मों के फल को भोगने वाले भी हैं।

विवेचन

ज्यों-ज्यों आत्मा परमात्मा के निकट पहुँचती है, त्यों-त्यों उसे परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध होता जाता है । सापेक्ष नय और निक्षेप की दृष्टि से परमात्मा तथा अपनी आत्मा का स्वरूप क्या हो सकता है ? उसकी स्पष्ट झाँकी इस गाथा में हमें देखने को मिलती है ।

वासुपूज्य स्वामी इन्द्रों से भी पूजित हैं और वे त्रिभुवन के स्वामी हैं । स्वरूप की दृष्टि से आत्मा को दो भागों में भी बाँट सकते हैं–(1) निराकार चेतना स्वरूप और (2) साकार चेतना स्वरूप । निराकार चेतना अर्थात् दर्शनोपयोग जगत् के स्वरूप को सामान्य रूप से देखना । साकार चेतना अर्थात् जगत् के स्वरूप को विशेष रूप से देखना । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद परमात्मा क्रमशः ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में रहते हैं । इस प्रकार परमात्मा निराकार व साकार उभय चेतना रूप हैं ।

अन्य दृष्टि से आत्मा के तीन भेद भी बतलाये गये हैं– (1) ज्ञान

चेतना (2) कर्म चेतना । (3) कर्मफल चेतना । साकार तथा निराकार (ज्ञान तथा दर्शन) उपयोग स्वरूप आत्मा ज्ञान–चेतना कहलाती है । कर्म के आचरण के समय आत्मा `कर्म-चेतना' तथा कर्म-फल को भोगते समय आत्मा `कर्म-फल चेतना' कहलाती है । इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा ।

निराकार अभेद-संग्राहक, भेद-ग्राहक साकारो रे ।
दर्शन ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अभेद-संग्राहक=अभेदग्राही । **भेद-ग्राहक=**भेद दृष्टि से देखना । **दुभेद=**दो भेद । **वस्तुग्रहण=**वस्तु का ग्रहण । **व्यापार=**प्रवृत्ति ।

सामान्य अर्थ

निराकार दर्शनोपयोग (पदार्थ का सामान्य धर्म) यह अभेद को ग्रहण करने वाला है तथा साकार ज्ञानोपयोग भेद को ग्रहण करनेवाला है । इस प्रकार दर्शन और ज्ञान रूप दो भेद वाली चेतना से वस्तु के स्वरूप को जानने की प्रवृत्ति होती है ।

विवेचन

इस गाथा में आत्मा की `ज्ञानचेतना' का सुन्दर वर्णन किया गया है । प्रत्येक वस्तु का बोध हमें दो द्रष्टियों से होता है–(1) अभेद दृष्टि से और (2) भेद दृष्टि से ।

अभेद दृष्टि निराकार उपयोग रूप है, जिसे सामान्य दर्शन भी कह सकते हैं । भेद दृष्टि यह साकार उपयोग रूप है, जिसे विशेष ज्ञान भी कह सकते हैं ।

जब हम वस्तु को देखते हैं, तो हमें सर्व प्रथम `सामान्य दर्शन' (कुछ है) होता है, फिर धीरे-धीरे उसका स्पष्ट ज्ञान होता है । किसी भी वस्तु का बोध हमें क्रमशः होता है । पहले वस्तु के सामान्य धर्म का बोध होता है और फिर वस्तु के विशेष धर्मों का ।

सामान्य का बोध हुए बिना विशेष का बोध सम्भव नहीं है । सामान्य

और विशेष का बोध एक दूसरे से इस प्रकार जुडे हुए हैं कि आगे-आगे के बोध में पूर्व-पूर्व का बोध सामान्य बन जाता है। दर्शन और ज्ञान के भेद से ही आत्मा की `ज्ञान-चेतना' को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (1) दर्शन और (2) ज्ञान स्वरूप चेतना।

दर्शन में वस्तु का सामान्य बोध है। उसमें वस्तु का पूर्ण निश्चय नहीं होता है, जबकि ज्ञान वस्तु अथवा पदार्थ के विशेष बोध स्वरूप है, जिसमें वस्तु के आकार तथा स्वरूप आदि के विषय में एक प्रकार का निर्णय होता है।

कर्त्ता परिणामी परिणामो, कर्म जे जीवे करिये रे।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नय अनुसरिये रे ॥3॥

कठिन शब्दों के अर्थ

कर्त्ता=कर्म को करने वाला। **परिणामी=**परिणमनशील। **करिये=**करता है। **नयवादे=**नयवाद की दृष्टि से। **नियते=**निश्चयपूर्वक।

सामान्य अर्थ

परिणामों में परिणमन करने के कारण जीव अपने कर्म का कर्त्ता है। नयवाद की अपेक्षा से इस कर्म-कर्तृत्व के एक नहीं, अनेक भेद हैं। उस कर्म रूप परिणाम का कर्त्ता जो आत्मा है उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण नयवाद से करना चाहिये।

विवेचन

व्यवहार नय से आत्मा परिणामी द्रव्य है। परिणामी अर्थात् जिसकी पर्यायों में क्रमशः परिवर्तन होता रहे। परिणमनशील जो द्रव्य होता है, वह हमेशा अपनी पर्यायों का कर्त्ता होता है।

सम्पूर्ण विश्व में कार्मण वर्गणा के परमाणु भरे हुए हैं। आत्मा अपने राग-द्वेष के परिणामों से उन कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करती है। राग और द्वेष आत्मा के भाव कर्म हैं और ग्रहण की गई कार्मण-वर्गणा यह द्रव्य कर्म है।

इस प्रकार आत्मा अपने कर्म की कर्ता होने के कारण `कर्म-चेतना'

भी कहलाती है । कर्मचेतना यह आत्मा की विभाव दशा है, क्योंकि कर्म यह आत्मा का निज स्वरूप नहीं है । इस कर्मचेतना के कारण ही आत्मा भिन्न-भिन्न पर्यायों को प्राप्त करती है, कभी वह देव रूप होती है, तो कभी पशु रूप, तो कभी मनुष्य रूप, तो कभी नारक रूप ।

इस प्रकार शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा एक होने पर भी अपनी पर्यायों की दृष्टि से अनेक स्वरूपी भी है । यह भी आत्मा की विभाव दशा ही है ।

यहाँ आनन्दघनजी महाराज हमें प्रेरणा दे रहे हैं कि इस विभाव दशा रूप कर्मचेतना का त्याग करना होगा, अतः उसके त्याग के लिए निश्चय नयात्मक आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिंतन, मनन, अध्ययन और परिशीलन करना चाहिये ।

आत्मा के स्वरूप का चिंतन नय सापेक्ष दृष्टि से करना चाहिये । प्रत्येक नय एक सापेक्ष सत्य है । हर नय अपने-अपने दृष्टिबिन्दु से सत्य है । आत्मा के स्वरूप का चिन्तन भी विविध नयों के अवलंबन से करना चाहिये । व्यवहार नय, निश्चय नय, ज्ञान नय, क्रिया नय आदि सभी दृष्टिबिन्दुओं से आत्मा के स्वरूप का चिन्तन-मनन करने पर हमें आत्म समाधि प्राप्त होती है ।

दुःख सुख रूप करमफल जाणो, निश्चय एक आनन्दो रे ।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

करमफल=कर्म का फल । **चूके=**चूक जाना । **जिनचंदो=**जिनेश्वर भगवान ।

सामान्य अर्थ

सुख और दुःख दोनों कर्म के फल रूप हैं, निश्चय नय से आत्मा केवल आनन्द रूप है । केवलज्ञानियों में चन्द्रमा समान वासुपूज्य स्वामी ने कहा है कि आत्मा कभी अपने चैतन्य स्वरूप का त्याग नहीं करती है ।

विवेचन

इस संसार में आत्मा जो कुछ भी सुख और दुःख का अनुभव

करती है, वह वास्तव में उसके द्वारा किये गये कर्म का ही फल है। कर्म के फल स्वरूप ही आत्मा कभी ऊँचे कुल को तो कभी नीचे कुल को, कभी राजा अवस्था को तो कभी रंक अवस्था को प्राप्त करती है। दुःख पाप के फल रूप हैं।

इस संसार में आत्मा पुण्य-कर्म के फलस्वरूप भौतिक वैभव, शारीरिक बल, रूप, सौंदर्य, यश तथा कीर्ति आदि प्राप्त करती है। संसार के समस्त सुख और दुःख कर्मफल रूप हैं। लेकिन ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप नहीं है। कर्म के फल को भोगते समय आत्मा **'कर्मफल चेतना'** कहलाती है। यह भी आत्मा की विभाव दशा है।

निश्चय नय से तो आत्मा **'आनन्द'** रूप ही है। आत्मा कभी चैतन्य स्वरूप का त्याग नहीं करती है। चेतना आत्मा का मुख्य गुण है।

आत्मा के 'आनन्दमय' स्वरूप का दर्शन कराकर आनन्दघनजी महाराजा हमें इस स्वरूप में लीन बनने के लिए प्रेरणा कर रहे हैं। आत्मा का आनन्द ही शाश्वत है। दुनिया का आनन्द क्षणिक है। क्षणिक का त्याग कर शाश्वत आनन्द की मस्ती को पाने के लिए प्रयत्नशील बनने में ही बुद्धिमत्ता है।

आत्मा अपने सुख-दुःख की कर्त्ता है। यह बात व्यवहार नय से सिद्ध होती है। शुद्ध निश्चय नय से आत्मा न कर्म का कर्त्ता है और न ही भोक्ता। वह तो स्वयं चेतनमय चिदानन्दमय है।

जीवन में व्यवहार और निश्चयनय के समन्वयपूर्वक प्रवृत्ति होनी चाहिए। प्रत्येक नय सापेक्ष दृष्टि से सत्य स्वरूप हैं। अन्य से सर्वथा निरपेक्ष नय दुर्नय बन जाता है और उसकी बात भी असत्य ही मानी जाती है।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करम फल भावी रे।
ज्ञान करम फल चेतन कहिये, लेजो तेह मनावी रे।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कहिये=कहा जाता है। **लेजो=**लेवे। **मनावी=**समझना।

सामान्य अर्थ

आत्मा का स्वभाव परिणमनशील है। ज्ञान रूप में परिणमनशील आत्मा `ज्ञान चेतना' कहलाती है। कर्म रूप में परिणमनशील आत्मा `कर्म चेतना' कहलाती है और कर्म के फल में परिणमनशील आत्मा `कर्मफल-चेतना' कहलाती है। इस बात को सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिये।

विवेचन

अपनी आत्मा परिणमनशील है। संसारी अवस्था में इसकी पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन की अपेक्षा से आत्मा के तीन भेद बतलाये गये हैं–(1) ज्ञानचेतना (2) कर्मचेतना और (3) कर्मफलचेतना।

किसी भी वस्तु के स्वरूप को जानना–बोध कहलाता है। वस्तु-स्वरूप का ज्ञान करते समय आत्मा का उपयोग तदाकार बन जाता है। घट ज्ञान के उपयोग में रही आत्मा का उपयोग घट रूप हो जाता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप का चिन्तन मनन आदि `ज्ञान चेतना' कहलाती है। जब आत्मा राग-द्वेष करती है, तब शुभ अथवा अशुभ कर्म का बंध करती है। शुभ-अशुभ कर्म के उपार्जन के समय आत्मा **`कर्म चेतना'** कहलाती है।

जब आत्मा कर्म के फल को भोगती है, कर्म के उदय के कारण सुख-दुःख का संवेदन करती है तो आत्मा **`कर्मफल चेतना'** कहलाती है। आत्मा परिणामी स्वभाववाली है, अतः वह जिस समय जिस प्रकार के अध्यवसाय में रहती है, उस समय तद्रूप परिणत हो जाती है।

चेतना आत्मा का लक्षण है और अपने चैतन्य गुण के कारण आत्मा अन्य पदार्थों से भिन्न सिद्ध होती है। कर्म के सुख-दुःख का अनुभव चेतन आत्मा को ही होता है, अचेतन रूप जड़ को नहीं। चेतन और अचेतन (जड़) के इस भेद को बराबर समझ लेना चाहिये।

आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मत संगी रे ॥6॥

कठिन शब्दों के अर्थ

आतमज्ञानी=आत्मज्ञानी । **श्रमण=**साधु । **बीजा=**दूसरे । **कहावे=**कहे जाते हैं । **संगी=**साथी ।

सामान्य अर्थ

आत्मा के ज्ञान में लीन रहने वाला ही श्रमण कहलाता है, इसके सिवाय तो सब द्रव्यलिंगी हैं । वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले ही आनन्दघन मत के संगी कहलाते हैं ।

विवेचन

आनन्दघनजी महाराज ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में साधु के स्वरूप का इस गाथा में चित्रण प्रस्तुत किया है । दुनिया में अपने आपको साधु-श्रमण कहलाने वाले तो बहुत हैं, परन्तु आनन्दघनजी कहते हैं कि श्रमण तो वे ही हैं, जो आत्मा के स्वरूप को जानते हैं ।

जिसे आत्मस्वरूप की चिन्ता नहीं है और जो मात्र लोक रंजन के लिए ही अनेकविध आडम्बर करता है, वह साधु वेषधारी होने पर भी **'द्रव्यलिंगी'** ही है । वह यथार्थ साधु नहीं है, जो आत्मा में मस्त नहीं है ।

सच्ची श्रमणता वेष में नहीं किन्तु आत्मस्वरूप की लीनता में है । यह नहीं समझ लें कि 'साधु वेष' निरर्थक है । उन्होंने उन नकली वेषधारियों के ऊपर सीधा आक्रमण किया है जो साधुवेष को लज्जित कर रहे हैं ।

साधुवेष तो पवित्र है और शुभ भाव का निमित्त है । परन्तु जो इस वेष को पाने पर भी इसके विपरीत प्रवृत्ति करते हैं, वे तो इस वेष की विडम्बना ही कर रहे हैं । आत्मा के स्वरूप में लीन रहने वाले ही सच्चे साधु हैं और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने राले ही आनन्द के समूह रूप मोक्षपद के संगी बन सकते हैं ।

आत्मज्ञानी ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं । ऐसे आत्मज्ञानी साधु ही मोक्ष की साधना में अग्रसर बनते हैं । शास्त्र में कहा है–**'समयाए समणो होइ'** समता से मुनि श्रमण कहलाता है । आत्मज्ञानी श्रमण ही आनन्दस्वरूप मोक्ष के संगी बनने की क्षमता रखते हैं ।

तेरहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

योगिराज आनन्दघनजी महाराज इस स्तवन में अपने अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। जीवन में आज तक जो आनन्द नहीं पाया था, उस आनन्द का अमीपान आज आनन्दघनजी कर रहे हैं।

कोई पूछता है उनको–योगिराज ! आज आपको इतना आनन्द कैसे है ? वे उत्तर देते हैं इस स्तवन की कड़ियों में। जिसके प्रत्येक शब्द में आनन्द का स्त्रोत बह रहा है। जिसके प्रत्येक कथन में प्रभु-शासन की खुमारी प्रकट हो रही है और अंत में मात्र प्रभु-दर्शन का सातत्य तथा प्रभु-चरण-कमल की सेवा की ही याचना कर रहे हैं।

देख लो, उनके आनन्द के वे शब्द **'मारा सिद्धया वांछित काज, विमल जिन दीठां लोयण आज'।** क्या प्रभु-दर्शन में हमें इतना उत्साह और उल्लास प्रकट होता है ? इतना भी यदि सीख जायें इस स्तवन के भावों को समझकर, तो बेड़ा पार समझो।

13 विमल जिन-स्तवन

(राग : मल्हार-इडर आंबा आवली रे, इडर दाडिम दाख-ए देशी)

दुःख दोहग दूरे, टल्यां रे, सुख संपद शुं भेंट ।
धींग धणी माथे कियो रे, कुण गंजे नरखेट ?
विमल जिन दीठां लोयण आज, मारा सिद्ध्यां वांछित काज।।
।। विमल जिन०...1।।

चरण कमल कमला वसे रे, निर्मल थिर-पद देख ।
समल-अथिर-पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख ।।
।। विमल जिन०...2।।

मुज मन तुज पद-पंकजे रे, लीनो गुण मकरंद ।
रंक गणे मंदर-धरा रे, इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र ।।
।। विमल जिन०...3।।

साहिब समरथ तुं धणी रे, पाम्यो परम उदार ।
मन विसरामी वालहो रे, आतम चो आधार ।।
।। विमल जिन०...4।।

दरिसण दीठे जिन तणूं रे, संशय न रहे वेध ।
दिनकर-कर-भर पसरतां रे, अन्धकार प्रतिषेध ।।
।। विमल जिन०...5।।

अमिय भरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय ।
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय ।।
।। विमल जिन०...6।।

एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिन देव !
कृपा करी मुज दीजिए रे, आनन्दघन-पद सेव ।।
।। विमल जिन०...7।।

दु:ख दोहग दूरे, टल्या रे, सुख संपद शुं भेंट ।
धींग धणी माथे कियो रे, कुण गंजे नरखेट ?
विमल जिन दीठां लोयण आज,
मारा सिद्धयां वांछित काज ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

दु:ख दोहग=दु:ख और दुर्भाग्य । **दूरे**=दूर (होवे) । **टल्या**=चले गये । **सुख संपद शुं**=सुख और संपत्ति से । **धींग**=बड़ा । **धणी**=स्वामी । **कुण**=कौन । **गंजे**=वश में होना । **नर-खेट**=सामान्य जन । **विमलजिन**=विमलनाथ भगवान । **दीठां**=देखे । **लोयण**=आँखों से । **आज**=आज । **सिद्धयां**=सिद्ध हुए । **वांछित काज**=इच्छित कार्य ।

सामान्य अर्थ

साक्षात् प्रभु-दर्शन के आनन्द की अभिव्यक्ति करते हुए आनन्दघनजी कह रहे हैं कि विमलनाथ प्रभु के साक्षात् दर्शन से मेरे समस्त मनोरथ आज पूर्ण हो गये हैं । दु:ख और दुर्भाग्य दूर चले गये हैं और सुख तथा संपत्ति से मेरी भेंट हो गई है । ऐसे सामर्थ्यवान स्वामी जब मेरे मस्तक पर हैं, तब अन्य शत्रु मुझे कैसे परास्त कर सकते हैं ? कभी नहीं ।

विवेचन

भयंकर दर्द से कराह रहे व्यक्ति को कुशल वैद्य मिल जाय, समुद्र में डूबते हुए को काष्ठ का यान मिल जाय, भयंकर गर्मी से संतप्त व्यक्ति को कल्पवृक्ष की छाया मिल जाय, तो उसे कितना आनन्द होता है ? बस ! उसी प्रकार लम्बे समय से जो आत्मा प्रभुदर्शन के लिए अत्यन्त उत्सुक बनी हुई है, उस आत्मा को प्रभुदर्शन के समय अपार आनन्द की अनुभूति होती है ।

जिसके गृहांगण में कल्पवृक्ष आ जाय, फिर क्या उसका दारिद्र्य रह सकता है ? नहीं । फिर तो उसके समस्त मनोवांछित पूर्ण हो जाते हैं । एक जड़ चिंतामणि भी हमारे आनन्द का कारण बन सकता है, तो साक्षात् प्रभु-दर्शन में कितना आनन्द आता होगा ! प्रभु तो कल्पवृक्ष,

कामधेनु तथा चिंतामणि रत्न से भी बढ़कर हैं, उनके दर्शन के बाद दुःख दारिद्र्य और दुर्भाग्य कैसे टिक सकते हैं ?

ज्योंही भक्त ने प्रभु के दर्शन कर लिये, त्योंही दुःख और दारिद्र्य अत्यन्त भयभीत बनकर उससे दूर-सुदूर भाग जाते हैं। प्रभु तो विमल-निर्मल-मलरहित हैं। प्रभु का मुख-मण्डल कितना निर्मल और पवित्र है ! ऐसे विमलनाथ प्रभु के दर्शन के बाद चतुर्गति के भ्रमण का दुःख दूर हो जाता है। अज्ञानता और दुर्भाग्य दूर भाग जाते हैं तथा आत्मा को शांति और रत्नत्रयी रूप संपत्ति की प्राप्ति होती है। जिस पर राजा की पूर्ण कृपादृष्टि हो, उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है।

अरे ! कदाचित् राजा की कृपादृष्टि होने पर भी नुकसान होने की संभावना है, परन्तु ये विमलनाथ प्रभु तो त्रिभुवन के स्वामी हैं, यदि त्रिलोक के स्वामी की कृपादृष्टि अपने पर हो तो अपना कोई क्या बिगाड़ सकता है ?

मैंने तो अब विमलनाथ प्रभु को अपना स्वामी बना दिया है, अतः अब मैं निर्भय बन चुका हूँ। मेरे आज समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं। आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं है। मेरे समस्त दुःख दूर हो चुके हैं और मुझे सुख-संपत्ति की प्राप्ति हुई है।

परमात्म-भक्ति का परम्पर फल तो मोक्ष है किन्तु जब तक भक्तात्मा संसार में रहती है, तब भी उसे अलौकिक सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। परमात्म-भक्ति व समर्पण के फलस्वरूप अशुभ कर्म की प्रकृतियाँ शुभ में बदल जाती हैं। जिसने अपने सिर पर (हृदय में) परमात्मा को विराजमान किया है, उसे इस संसार में भय भी किस बात का ? वह आत्मा तो पूर्ण निर्भय बन जाती है।

चरण कमल कमला वसे रे, निर्मल थिर-पद देख ।
समल-अथिर-पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चरणकमल=कमल जैसे पैर अथवा चरण रूपी कमल। **कमला=**पानी के मैल तुल्य लक्ष्मी। **वैसे=**रहने आई है। **निर्मल=**मलरहित।

थिर पद=स्थायी पद । **समल=**मल सहित । **अथिर पद=**नाशवंत स्थान । **परिहरे=**त्याग करता है । **पंक=**कीचड़ । **पामर=**बेचारा। **पेख=**देखकर ।

सामान्य अर्थ

हे विमलनाथ प्रभो ! आपके निर्मल और स्थिर चरण कमलों को देखकर लक्ष्मीदेवी ने मलिन, क्षणिक और कीचड़ में उत्पन्न हुए कमल को तुच्छ समझकर छोड़ दिया है और वह आपके चरणों में बस गई है ।

विवेचन

ज्योंही परमात्मा घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, त्योंही एक चमत्कार का सर्जन होता है । तत्काल तीर्थंकर नामकर्म उदय में आता है और उसके फलस्वरूप करोड़ों देवता प्रभु-सेवा में उपस्थित रहते हैं ।

केवलज्ञान के पूर्व प्रभु अनेक उपसर्गों और परीषहों को सहते हैं, भयंकर वन में एकाकी विहार करते हैं, लेकिन केवलज्ञान के साथ ही प्रभु का बाह्य भौतिक वैभव चरम सीमा को पार कर जाता है । रजत, स्वर्ण और रत्नजड़ित समवसरण में स्वर्ण के पादपीठ पर बैठकर प्रभु देशना देते हैं ।

अष्ट महाप्रातिहार्यों से सुशोभित प्रभु ऐसे लगते हैं मानो त्रिलोक के अधिपति बने हों । प्रभु जहाँ-जहाँ भी विहार करते हैं, देवता नव-सुवर्ण कमल की रचना करते हैं, अर्थात् प्रभु सुवर्ण कमल पर चलते हैं ।

प्रभु के बाह्य वैभव को देखकर कवि यहाँ उत्प्रेक्षा करते हैं कि क्या कमल पर आवास करने वाली कमला (लक्ष्मी) ने अपने आवास का त्याग तो नहीं कर दिया है ? उत्तर में यही कहते हैं कि लक्ष्मी ने अपने आवास-कमल का त्याग कर दिया होगा, क्योंकि वह कमल तो कीचड़ में पैदा होता है और नाशवंत होता है, अतः उस कमला ने प्रभु के चरण-कमलों को निर्मल और स्थिर जानकर इनका आश्रय कर लिया है ।

अच्छी वस्तु मिल जाये तो बुरी वस्तु को कौन पकड़े रखेगा ? यदि स्वर्ण मिलता हो तो लोह के भार को कौन उठायेगा ? लक्ष्मी को यदि प्रभु-चरण कमल मिलेंगे तो वह कीचड़ के कमल में कैसे वास करेगी ? प्रभु के चरण कमल तो स्थिर और निर्मल हैं । उनके संग के बाद गन्दगी से कौन भेंटना चाहेगा ?

मुज मन तुज पद-पंकजे रे, लीनो गुण मकरंद ।
रंक गणे मंदर-धरा रे, इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मुज=मेरा । **पद पंकजे=**चरण रूपी कमल में । **लीनो=**लीन हुए हैं । **गुण मकरंद=**गुण रूपी पराग । **रंक=**बिचारा । **गणे=**मानता है । **मंदर-धरा=**मेरु पर्वत । **नागेन्द्र=**असुरकुमार देवों का इन्द्र ।

सामान्य अर्थ

हे विमलनाथ प्रभो ! मेरा मन रूपी भ्रमर आपके चरण-कमलों की सुगंध में लीन बन गया है और आपकी इस सुवास के कारण मुझे सुवर्णमय मेरुपर्वत, इन्द्र, चन्द्र तथा नागेन्द्र भी तुच्छ प्रतीत होते हैं ।

विवेचन

स्वर्ण के पीछे कौन भागेगा ? देव-देवेन्द्र पद के पीछे कौन भागेगा ? जिसको भौतिक सुख की इच्छा होगी, वही न ! लेकिन जिस भक्त के हृदय में परमात्म-स्वरूप का मूल्यांकन हो गया है, वह इन तुच्छ सुखों के पीछे पागल कैसे हो सकता है ! उसकी चाह तो है शाश्वत पद-अमरपद-मोक्षपद को पाने की । वह कैसे खुश हो सकता है क्षणिक-सुखदायी सुवर्ण में !

जिसे परमात्मा के वास्तविक स्वरूप की झांकी हो गई हैं, वह मल-मूत्र से परिपूर्ण मानवीय काया के सुखों में कैसे आनन्द पा सकता है ? अरे ! परमात्म-सुख के आगे तो दिव्य सुख भी तुच्छ मालूम पड़ते हैं ।

परमात्मा के साक्षात् दर्शन हो जाने के बाद भक्त को सारी दुनिया के भोग-विलास, आनन्द भी नाशवन्त लगते हैं । उसे तो आनन्द आता है प्रभु के चरण कमल का मकरंद बनने में । क्या आप जानते हैं कि काष्ठ तो छेदने वाला भ्रमर कमल की पंखुडियों में बन्द हो जाता है और उन कोमल पंखुड़ियों के छेदन में भी समर्थ हो जाता है, उसकी सुगंध में आसक्त बनने के कारण ही तो । बस ! इसी प्रकार भक्त भी प्रभु-कमल का भ्रमर बनकर इस दुनिया को भूल जाता है, दुनिया के अस्तित्व से दूर चला जाता है और परमात्म-ध्यान में लीन-तल्लीन बन जाता है ।

साहिब समरथ तुं धणी रे, पाम्यो परम उदार ।
मन विसरामी वालहो रे, आतम चो आधार ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

साहिब=स्वामी । **समरथ**=समर्थ । **धणी**=मालिक । **पाम्यो**=प्राप्त किया है । **परम उदार**=अत्यन्त उदार । **मन विसरामी**=मन के विश्राम तुल्य । **वालहो**=प्रिय । **आतम चो**=आत्मा का । **आधार**=आलंबन ।

सामान्य अर्थ

हे स्वामिन् ! आप जैसे समर्थ परम उदार मन के विश्राम तुल्य आत्मा के आधार रूप और अत्यन्त प्रेमी-स्नेही को मैं प्राप्त कर सका हूँ, अब मुझे और क्या चाहिये ?

विवेचन

जो अत्यन्त पराक्रमी हों, जो परम उदार हों, जो वात्सल्य की निधि हों, और जो आत्मा के आधार हों, ऐसे स्वामी यदि किसी को प्राप्त हो जायें, तो फिर क्या उसे कोई भय सता सकता है ? क्या उसकी कोई इच्छा अपूर्ण रह सकती है ? क्या उसे आश्रय के लिए कहीं भटकना पड़ सकता है ? नहीं, नहीं ! उसकी समस्याओं का एक ही समाधान है उसके स्वामी ।

विमलनाथ प्रभु का सामर्थ्य तो अपार है । वे चाहें तो मेरु पर्वत को दंड बनाकर जंबूद्वीप को उलटा कर सकते हैं । जन्म के साथ ही मेरु पर्वत को कंपाने वाले प्रभु के सामर्थ्य की क्या कल्पना करें ? वह तो कल्पनातीत है । अरे ! एक आत्मा द्वारा किये हुए कर्म का दूसरी आत्मा में संक्रमण नहीं होता है, यदि होता हो तो प्रभु तो अपनी ध्यानाग्नि में जगत् में रहे हुए सभी जीवों के सभी कर्मों का क्षय करने में समर्थ हैं । अद्‌भुत है सामर्थ्य प्रभु का !

प्रभु की उदारता भी अलौकिक है । दुनिया में उदार व्यक्ति अधिक से अधिक धन, वस्त्र, अनाज, राज्य तथा भौतिक सुख-साधन दे सकता है लेकिन प्रभु की उदारता तो अपरम्पार है । वे तो अपने भक्त को स्व-पद तक देने में उदार हैं ।

प्रभु की जो शरणागति स्वीकारता है, उसके मन में कोई भी दुःख नहीं टिक सकता है । परमात्मा तो अपनी आत्मा के परम आधार हैं । दुनिया में जब कोई शरण देने में समर्थ होता है, तब भी प्रभु शरण देकर हमें एक महान् आलम्बन देते हैं ।

दरिसण दीठे जिन तणूं रे, संशय न रहे वेध ।
दिनकर-कर-भर पसरतां रे, अन्धकार प्रतिषेध ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

दीठे=देखने पर । **जिन तणूं=**जिनेश्वर का । **संशय=**शंका । **वेध=**विघ्न । **दिनकर=**सूर्य । **कर-भर=**किरणों का समूह । **पसरतां=**फैलते हुए । **अन्धकार-प्रतिषेध=**अन्धकार का नाश ।

सामान्य अर्थ

क्या सूर्य की किरणों का प्रकाश फैलने पर अन्धकार टिक सकता है ? नहीं ! उसी प्रकार जिसने प्रभु के दर्शन पा लिये हैं, उसके मन में सन्देह कैसे रह सकता है ?

विवेचन

परमात्मा के साक्षात् दर्शन होना अर्थात् परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचानना ! जिन-दर्शन के दो अर्थ होते हैं—(1) प्रभु के मुख-मण्डल के दर्शन और (2) परमात्मा-प्ररूपित जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप से समझना । जैन दर्शन के बोध से ही जिन (प्रभु) दर्शन संभव है ।

विश्व में अन्धकार कब तक टिक सकता है ? वह अपने अस्तित्व की काली छाया से जगत् को कब तक ग्रस्त कर सकता हैं ? उत्तर है, जब तक सूर्य की किरणें प्रकट नहीं होती हैं । सूर्य की किरणों के खिलने के साथ अन्धकार कहीं पलायन कर जाता है । प्रभु-दर्शन के साथ ही आत्मा में रहा अज्ञान-अन्धकार दूर हो जाता है । अज्ञान के दूर होने से आत्मा में ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है । उससे समस्त अज्ञानजन्य सन्देह विलीन हो जाते हैं ।

मोहान्धकार के कारण जो संसार पहले अत्यन्त मधुर और

आकर्षक लगता था, वही संसार ज्ञान के प्रकाश के साथ अत्यंत कटु और त्याज्य लगता है । जगत् के समीचीन स्वरूप का भान आत्मज्ञान से ही होता है और इसी आत्म-ज्ञान से आत्म-मस्ती प्राप्त होती है ।

परमात्म-दर्शन से आत्मा में रहा हुआ मिथ्यात्व का अंधकार दूर हो जाता है । इस संसार में मिथ्यात्व ही सबसे भयंकर अन्धकार है । उस अन्धकार के जाल में फंसी आत्मा अपने हिताहित की विवेकदृष्टि को खो देती है । प्रभु-दर्शन से आत्मा की विवेक दृष्टि खुलती है और अज्ञानजन्य सभी संदेहों से आत्मा मुक्त बनती है ।

अमिय भरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय ।
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अमिय भरी=अमृत पूर्ण । **मूरति=**मूर्ति । **रची रे=**रचना की है । **उपमा=**तुलना । **न घटे=**घटती नहीं है । **शांत सुधारस=**शांत-अमृत रस । **झीलती=**स्नान करती हुई । **निरखत=**देखते हुए । **तृप्ति=**संतोष । **न होय=**नहीं होता है ।

सामान्य अर्थ

हे विमलनाथ प्रभो ! आपकी यह प्रतिमा अमृतरस से भरपूर है और वह एकान्त शान्त रस में नहा रही है । किसी भी सांसारिक वस्तु से प्रभु प्रतिमा अनुपमेय है और जिसको देखने से तृप्ति नहीं हो रही है ।

विवेचन

एक कामी व्यक्ति एक रूपसुंदरी को किस प्रकार देखता है ? वह उसके रूप को अपने नयनों से किस प्रकार पीता है ? घंटों तक देखने के बाद भी क्या उसे (कामी को) तृप्ति होती है ? नहीं । नहीं । घंटों तक देखने के बाद भी वह प्यासा ही रहता है, उसको तृप्ति होती ही नहीं है ।

बस ! इससे भी जटिल समस्या है प्रभु के भक्त की ! प्रभु की प्रतिमा इस प्रकार के अमृतरस से भरी हुई है और इस प्रकार शांत रस में झूम रही है कि भक्त कहता है कि मुझे तृप्ति ही नहीं हो रही है । मैं

देखता ही रहता हूँ-देखता ही रहता हूँ–फिर भी अपने आपको प्यासा ही अनुभव करता हूँ ।

यह उपमा आलंकारिक भाषा में है । बाकी तो प्रभु-प्रतिमा को देखने के साथ अमृत-पान की तरह भक्त को तृप्ति होती ही है । आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होने पर भी भक्त प्रभु के दर्शन का सातत्य चाहता है और इस सातत्य के अभाव की व्यथा प्रभु के सामने व्यक्त कर रहा है ।

परमात्मा की दिव्य प्रतिमा तो प्रशमरस में निमग्न है, उनके साथ न राग का निमित्त है न द्वेष का । वीतराग-भाव की द्योतक प्रभु-प्रतिमा के दर्शन कर भक्त का हृदय आनन्द से भर जाता है...फिर भी भक्त की पिपासा सदा बनी रहती है ।

एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिन देव !
कृपा करी मुज दीजिए रे, आनन्दघन-पद सेव ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

एक अरज=एक विज्ञप्ति । **सेवक तणी=**सेवक की । **अवधारो=**ध्यान में लो । **जिनदेव=**जिनेश्वर देव । **आनन्दघन पद=**मोक्ष पद । **सेव=**सेवा ।

सामान्य अर्थ

हे जिनेश्वरदेव ! मेरी एक विनती स्वीकार करो । कृपा करके मुझे आनन्द के समूह रूप आपके चरण-कमलों की सेवा प्रदान करो !

विवेचन

``तह वि मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुम्ह चलणाणं''

प्रार्थना-सूत्र की इस गाथा में भक्त की जो अभिव्यक्ति है, इसी बात को आनन्दघनजी महाराजा दोहरा रहे हैं । भक्त-प्रभु भक्ति के फलस्वरूप क्या माँगेगा ? अष्टापद पर रावण की प्रभु–भक्ति से खुश होकर जब धरणेन्द्र उपस्थित हुआ, तब देव के आग्रह करने पर रावण ने क्या मांगा था ? प्रभुभक्ति ही न !

देवपाल की प्रभु-भक्ति से खुश होकर जब देवी चक्रेश्वरी देवपाल को वरदान देने लगी, तब देवपाल ने क्या मांगा ? `मुझे अखण्ड रूप

से प्रभु-सेवा प्राप्त हो ।' हम उसके स्थान पर होते तो क्या मांगते ? योगिराज आनन्दघनजी तो प्रभु चरणकमल के भ्रमर बन चुके हैं, वे कह रहे हैं–हे प्रभो ! मेरी एक विनती सुनो ! सेवक की इस याचना पर ध्यान देकर उसे स्वीकार करो । यह सेवक आपके चरण-कमल की सेवा चाहता है । कृपा कर मेरी इस विनती को आप स्वीकार करो ।

योगिराज अपने सांकेतिक नाम-निर्देश द्वारा प्रभु की ही विशेषता बतला रहे हैं । हे प्रभो ! आप ही आनन्दघन हो ! आनन्द के अक्षय भण्डार हो, अतः हे अक्षय सुख के भण्डार विमलनाथ प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करके अपनी सेवा-भक्ति का अवसर प्रदान कीजिए । आपके चरण-कमल की सेवा से इस भक्त का उद्धार हो जाएगा ।

चौदहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

मोक्षमार्ग की साधना में जितना महत्त्वपूर्ण स्थान ज्ञान का है, उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान क्रिया का भी है। ज्ञान और क्रिया ये दो एक ही रथ के दो पहिये हैं। एक के बिना दूसरा निष्क्रिय और निरर्थक बन जाता है।

बहुत ही सुन्दर व सचोट मार्गदर्शन प्रस्तुत किया है—आनन्दघनजी महाराज ने।

यदि आपका व्यवहार प्रभु-आज्ञा सापेक्ष है और प्रभु-आज्ञा ही आपका जीवन-प्राण है, तब तो आप अवश्य ही मोक्षमार्ग में आगे बढ़ रहे हैं और यदि यह अवस्था नहीं है तो आपकी ये सब क्रियाएँ दुनिया को ठगने वाली हैं, निष्फल हैं।

प्रभु-वचन-सापेक्षता का मोक्षमार्ग में अत्यधिक महत्त्व है। **``प्रभु-आज्ञा का स्वीकार यही सर्वोच्च धर्म है।''** आदि-आदि वाक्यों से प्रभु आज्ञा का माहात्म्य समझ सकते हैं। यह स्तवन हमें आत्म-निरीक्षण के लिए कुछ सोचने व समझने जैसी बातों का निर्देश कर रहा है।

आगे बढ़ने से पूर्व जरा रुकें। सोचें ! आत्म-निरीक्षण करें। क्या हमारी प्रवृत्ति प्रभु-आज्ञानुसार ही हो रही है ?

14 अनन्तनाथ जिन-स्तवन

(राग : रामगिरि, कडवानी देशी)

धार तलवार नी सोहिली दोहिली,
चउदमा जिनतणी चरण सेवा ।
धार पर नाचतां देख बाजीगरा,
सेवना धार पर रहे न देवा ।। ।। धार०...1।।

एक कहे सेविये विविध किरिया करी,
फल अनेकांत लोचन न देखे ।
फल अनेकांत किरिया करी बापडा,
रडवडे चार गति मांहि लेखे ।। ।। धार०...2।।

गच्छ ना भेद बहु नयणे निहालतां,
तत्त्वनी बात करतां न लाजे ।
उदर-भरणादि निज काज करता थकां,
मोह नडिया कलिकाल राजे ।। ।। धार०...3।।

वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो,
वचन सापेक्ष व्यवहार साँचो ।
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल,
सांभली आदरी कांइ राचो ।। ।। धार०...4।।

देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ?
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी,
छार पर लीपणुं तेह जाणो ।। ।। धार०...5।।

पाप नहीं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो,
धर्म नहीं कोइ जग सूत्र सरिखो ।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे,
तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो ।। ।। धार०...6।।

एह उपदेशनो सार संक्षेपथी,
जे नरा चित्त मां नित्य ध्यावे ।
ते नरा दिव्य बहु काल सुख अनुभवी,
नियत आनंदघन-राज पावे ।। ।। धार०...7।।

धार तलवार नी सोहिली दोहिली,
चउदमा जिनतणी चरण सेवा ।
धार पर नाचतां देख बाजीगरा,
सेवना धार पर रहे न देवा ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

धार=धार । **सोहिली=**सरल । **दोहिली=**कठिन । **चरणसेवा=**प्रभु के चरणों की सेवा । **चउदमा=**चौदहवें । **जिन-तणी=**जिनेश्वर की । **बाजीगरा=**नटलोक । **सेवना-धार=**सेवा रूपी धार ।

सामान्य अर्थ

तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलना सुगम है किन्तु चौदहवें जिनेश्वरदेवश्री अनन्तनाथ प्रभु के चरण-कमलों की सेवा अत्यन्त दुष्कर है । तलवार की धार पर नाच करनेवाले तो नट आदि देखे जाते हैं किन्तु प्रभु के फरमाये हुए चारित्र रूप धार पर तो देवता भी टिक नहीं पाते है ।

विवेचन

आत्मज्ञानी महापुरुषों का यह सूत्र है–**``ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः''** ज्ञान और क्रिया से आत्मा का मोक्ष होता है । ज्ञान और क्रिया में से एक की भी जो उपेक्षा करता है, उसका मोक्ष कभी सम्भव नहीं है । ज्ञान रहित क्रिया अन्धे की प्रवृत्ति तुल्य है और क्रिया रहित ज्ञान पंगु तुल्य है ।

अपनी इस चौबीसी के अन्तर्गत मोक्ष-मार्ग का क्रमिक विकास दर्शाने वाले आनन्दघनजी महाराज इस स्तवन में प्रभु-मार्ग पर गमन करने की अनेक कठिनाइयों का वर्णन करते हैं ।

जिस प्रकार भयंकर वन श्रृंखला को पार करने में अनेक बाधाएँ और विघ्न उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग की प्राप्ति होने पर भी प्रमाद, विकथा, मद तथा रागादि शत्रुओं का ऐसा जोर होता है कि वे पथिक को मार्ग-भ्रष्ट कर देते है ।

मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिए शास्त्र के मार्ग-दर्शन की कितनी अधिक आवश्यकता है, इसका बोध हमें इस स्तवन से होता है ।

आनन्दघन महाराज कहते हैं कि तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलना तो फिर भी सरल है, किन्तु प्रभु-आज्ञा के अनुसार जीवन जीना अत्यन्त कठिन है ।

पूर्व स्तवनों में स्याद्वाद आदि के माहात्म्य से ज्ञानयोग की महत्ता समझाई थी, इस स्तवन में क्रियायोग की महत्ता बतलाते हुए उसका पालन कितना दुष्कर है-यह बतला रहे हैं ।

तलवार की धार पर चलना कोई आसान बात नहीं है उसके लिए भी समुचित प्रशिक्षण चाहिये । प्रशिक्षण के अभाव में तलवार पर पैर रखने से पैर ही कट जाता है । कदाचित् प्रशिक्षण के बल से कोई तलवार की धार पर चल भी जाय किन्तु प्रभु-आज्ञा पालन अत्यन्त कठिन है । देवता सुन्दर द्रव्यों से परमात्मा की भक्ति कर सकते हैं परन्तु प्रभु की आज्ञा रूप विरतिधर्म के पालन की शक्ति उनमें नहीं है । विरति-धर्म के पालन में वे असमर्थ हैं । विरति-धर्म की आराधना की शक्ति एक मात्र मनुष्य में ही है परन्तु वह भी सरल कार्य नहीं है, उसके लिए पुरुषार्थ व दृढ मनोबल की आवश्यकता रहती है ।

एक कहे सेविये विविध किरिया करी,
फल अनेकांत लोचन न देखे ।
फल अनेकांत किरिया करी बापडा,
रडवडे चार गति मांहि लेखे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सेविये=सेवे । **किरिया=**क्रिया । **करी=**करके । **अनेकांत=**एकांत नहीं,स्याद्वाद । **लोचन=**आँख । **फल=**परिणाम । **बापड़ा=**बेचारे । **रडवडे=**भटकना । **लेखे=**हिसाब में ।

सामान्य अर्थ

दुनिया में कोई क्रियावादी कहता है कि विविध प्रकार की क्रियाएँ करने से प्रभु-सेवा हो जायेगी परन्तु उन क्रियाओं का फल तो अनेकान्त स्याद्वाद् रूपी नेत्र से देखते नहीं हैं । जिन क्रियाओं का फल अनिश्चित है वैसी क्रियाओं को करके आत्मा चार गति रूप संसार में ही भटकती है ।

विवेचन

मोक्षप्राप्ति के नाम पर दुनिया में अनेक मत-मतान्तर हैं, `सूत्रकृतांग' के अन्तर्गत उनका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है । एकान्त क्रिया को ही मोक्ष का कारण माननेवाले वास्तविक मार्ग से कितने दूर भटके हुए हैं, इसका स्पष्ट चित्रण इस गाथा में प्रस्तुत है ।

दुनिया में एक मत है क्रियावादी, उसकी यह मान्यता है कि मात्र क्रिया करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है । मोक्ष प्राप्ति में क्रिया सहायभूत होने पर भी, अन्य कारणों की उपेक्षा कर जो एक मात्र क्रिया को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, वे भी इस संसार में भटके हुए हैं ।

जो क्रिया एकान्त मोक्ष का कारण नहीं है, उस क्रिया के करने से फल रुप में मोक्ष कैसे मिल भी सकता है ? ज्ञान से निरपेक्ष क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसी क्रिया के करने से आत्मा चतुर्गति रूप संसार में ही भटकती है ।

वही क्रिया सफल है जो साध्य की सिद्धि के अनुरूप हो । जिस क्रिया से साध्य-सिद्धि न हो वह क्रिया तो निष्फल और निरर्थक है । ज्ञान रहित तथा मोक्ष के लक्ष्य रहित क्रियाएँ-जो असदनुष्ठान विष और गरल-अनुष्ठान रूप हैं, उनको करने से आत्मा के संसार की अभिवृद्धि होती है ।

अन्य अर्थ :– `विविध प्रकार की क्रियाएँ करके हम अनन्तनाथ प्रभु की सेवा करें' इस प्रकार कई लोग कहते हैं, किन्तु वे उन क्रियाओं का फल अनेकान्त स्याद्वाद दृष्टि से देखते नहीं हैं । जिस क्रिया का फल अनेकान्त अनिश्चित या व्यभिचारी है, ऐसी क्रिया करने वाले बेचारे चार गति रूप संसार में ही भटकते हैं ।

गच्छना भेद बहु नयणे निहालतां,
तत्त्वनी बात करतां न लाजे ।
उदर-भरणादि निज काज करता थकां,
मोह नडिया कलिकाल राजे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

गच्छना=गच्छ के । **बहु=**ज्यादा । **नयण-निहालतां=**आँख से

देखते । **तत्त्वनी=**आत्मा सम्बन्धी । **न लाजे=**लज्जित नहीं होते हैं । **उदर भरणादि=**पेट पूर्ति । **निज काज=**अपना कार्य । **नडिया=**बाधक, विघ्नरूप बना । **कलिकाल राजे=**कलिकाल राज्य में, समय में ।

सामान्य अर्थ

इस कलिकाल में नजर समक्ष गच्छों के विविध भेद दिखाई देते हैं, जो तत्त्व की बात करते हुए शर्माते नहीं हैं और मात्र उदरपूर्ति का ही काम कर रहे हैं । इस प्रकार कलिकाल के साम्राज्य में राग-द्वेष और मोह जीवों को परेशान कर रहे हैं । इस स्थिति से पता चलता है कि चौदहवें जिनेश्वरदेव की सेवा करना कितना कठिन कार्य है ?

विवेचन

इस भयंकर विषम कलिकाल में परमात्मशासन की सच्ची आराधना करना कितना कठिन कार्य है ? शासन की आराधना में अनेकविध बाधाएं हैं, निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए धर्म के नाम पर आज कितने ही मत-मतान्तर निकल पड़े हैं । कई लोग जिनशासन प्ररूपित तत्त्वज्ञान की उपेक्षा कर स्वमति कल्पना से ही तत्त्वों के भेद-प्रभेद बता रहे हैं ।

कइयों ने बाह्य संसार का त्याग तो कर दिया है, किन्तु वे भी मान-सम्मान और खान-पान के रंग-राग में फँसे हुए हैं और दूसरों को भी फँसा रहे हैं ।

मोह की यह कैसी विडम्बना है कि संसार का त्याग करने वाले भी संसार के रंग-राग में फँसे हुए हैं । संसार-त्यागी भी संसार के पोषक ! ऐसे वेषधारी तो मोक्षमार्ग की विडम्बना ही करते हैं और अपनी क्रियाओं के द्वारा स्वयं तो डूबते ही हैं और दूसरों को भी डुबो देते हैं ।

ऐसे तो सदा काल विश्व के जीवों पर मोह का साम्राज्य रहा हुआ है, जिन्हें जिनशासन की प्राप्ति हो जाती है, वे मोह के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं परन्तु कलिकाल में प्रभु-शासन की आराधना अत्यन्त दुर्लभ बन गई है, क्योंकि मोहराजा ने स्थान स्थान पर राग-द्वेष आदि सैनिकों को तैनात कर दिया है । सामान्य जीवात्मा शीघ्र ही उनके (राग-द्वेषादि) चंगुल में फँस जाती है ।

कलिकाल की इस परिस्थिति को देखकर विचार आता है कि हे प्रभो ! इस कलिकाल में आपकी आराधना कितनी दुर्लभ है ? अप्रमत्त भाव में रहा हुआ साधक ही आपकी आराधना कर सकता है, सामान्य आत्मा के लिए तो कदम-कदम पर भय ही छाया हुआ है ।

इस गाथा में योगिराज ने तत्कालीन स्थिति का चित्रण प्रस्तुत किया है । उस समय जिनशासन के सच्चे प्रभावक व आराधकों की अल्पता थी और स्व-स्व गच्छ के मिथ्या राग में फँसे वेषधारियों की बहुलता थी, जिनका एक मात्र उद्देश्य अपने अपने मत का प्रचार कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना था । स्वार्थ के वशीभूत होने से वे 'अहंकार और ममकार' के जाल में फँसे हुए थे और अन्य को भी फँसाने की ही चेष्टा करते थे ।

योगिराज प्रभु से तत्कालीन दुर्दशा का वर्णन कर जिनेश्वरदेव के शासन के प्रति अपना अनुराग प्रगट कर रहे हैं ।

वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो,
वचन सापेक्ष व्यवहार साँचो ।
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल,
सांभली आदरी कांइ राचो ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वचन=प्रभु के वचन । **निरपेक्ष=**अपेक्षा रहित । **व्यवहार=**बाह्य आचरण । **सापेक्ष=**अपेक्षा युक्त । **संसार फल=**संसार का अभिवर्द्धक । **कांइ रांचो=**क्यों आनंद पाते हो ?

सामान्य अर्थ

परमात्मा की आज्ञा से निरपेक्ष व्यवहार झूठा है और परमात्मा की आज्ञा से सापेक्ष व्यवहार सत्य है, क्योंकि प्रभु-आज्ञा से निरपेक्ष व्यवहार का फल संसार की अभिवृद्धि है, इस बात को सुनकर और स्वीकार करके भी वचन निरपेक्ष व्यवहार में क्यों आनन्द पाते हो ?

विवेचन

बहुत ही महत्त्वपूर्ण और समझने योग्य बात कही है आनन्दघनजी

महाराज ने । जैनशासन का निचोड़ प्रस्तुत किया है इस गाथा में ! दुनिया में धर्म के नाम पर जितने भी तप-जप-अनुष्ठान आदि होते हैं, वे यदि प्रभु-आज्ञा से सापेक्ष हैं, प्रभु-आज्ञा के अनुरूप हैं, तब तो वह छोटासा भी तप-जप मोक्ष देने में समर्थ बन सकता है, परन्तु जो व्यवहार प्रभुआज्ञा से निरपेक्ष है ऐसा व्यवहार आत्मा को भयंकर संसार में ही भटकाने वाला होता है ।

प्रमत्त गुणस्थानक तक तो शास्त्र-सापेक्ष क्रिया ही मोक्ष साधक बन सकती है । जो इस अवस्था में शास्त्राज्ञा का उल्लंघन करता है, उसकी आत्मा का अवश्य पतन होता है ।

अतः मुमुक्षु आत्मा का परम कर्तव्य है कि वह अप्रमत्त गुण स्थानक की प्राप्ति के पूर्व तक शास्त्र-आज्ञा को ही महत्त्व दे । आज्ञापूर्वक ही क्रिया-धर्म का आराधन हो । जब आत्मा अप्रमत्त गुणस्थानक को प्राप्त कर क्षपक श्रेणी पर आरोहण करती है, तब उसे शास्त्र-सापेक्षता की आवश्यकता नहीं रहती है, उस समय आत्मा सामर्थ्ययोग के बल से तथा प्रातिभज्ञान की सहायता से, शैलेशी अवस्था आदि को प्राप्त करती है ।

परन्तु जब तक उपर्युक्त अवस्था न आ जाय, तब तक तो अपने जीवन में शास्त्राज्ञा को ही महत्त्व देना चाहिये और उसी के अनुसार जीवन जीने का प्रयत्न करना चाहिये ।

परमात्म-आज्ञा से निरपेक्ष व्यवहार झूठा व्यवहार है । परमात्मा की आज्ञायुक्त व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है । इस बात का श्रवण व आदर करने के बाद भी प्रभुवचन से निरपेक्ष क्रियाधर्म में क्यों आनन्द पाते हो ? कहा भी है, **'योगिनः शास्त्रचक्षुषः'** आत्मकल्याण के इच्छुक योगी (मुमुक्षु) के लिए शास्त्र ही चक्षु समान हैं, उसी की नजर से उसे आगे बढ़ना है । जिनागम प्रभुवचन के संग्रह रूप हैं, अतः उनसे निरपेक्ष क्रिया आत्मा का हित नहीं, बल्कि अहित ही करती है ।

देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ?

शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी,
छार पर लीपणुं तेह जाणो ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

देव=तीर्थंकर परमात्मा । **किम रहे=**कैसे हो ? **श्रद्धान=**श्रद्धा, सम्यग्दर्शन । **आणो=**आज्ञा । **विण=**बिना । **छार पर=**क्षार पर । **लीपणुं=**लिम्पन । **तेह=**वह ।

सामान्य अर्थ

आगम की साक्षी बिना निरपेक्ष वचनों से देव-गुरु और धर्म की शुद्धि-परीक्षा कैसे हो सकती है ? परीक्षा के बिना दृढ़ श्रद्धा (सम्यक्त्व) कैसे हो सकती है ? शुद्ध श्रद्धा के बिना सर्व क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं, वह तो छार पर लिंपन करने के तुल्य व्यर्थ, है ।

विवेचन

इस दुनिया में देव के रूप में अनेक देव प्रसिद्ध हैं अपने आपको गुरु कहलाने वालों की भी कमी नहीं है, धर्म तो इतने दिखाई दे रहे हैं, मानों वृक्ष की डालियाँ ।

अब ऐसी परिस्थिति में शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म की पहिचान करना अत्यन्त कठिन है ।

सुवर्ण की परीक्षा वही कर सकता है, जिसके पास कसौटी है । सूर्य के प्रकाश को वही देख सकता है, जिसके पास आँखें हैं । गति वही कर सकता है, जिसके पास पैर और दृढ़ संकल्प हो ।

बस ! इसी प्रकार शुद्ध देव-गुरु और धर्म की परीक्षा और पहिचान वही कर सकता है, जिसके पास जिनवचनरूप आगम का आधार हो । जिसने प्रभुआज्ञा को ही अपना प्राण मान लिया है, वही व्यक्ति सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है ।

जिनाज्ञा-सापेक्ष व्यवहार के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव नहीं है और सम्यक्त्व के अभाव में की गई सर्व क्रियाएँ छार पर लेप करने के तुल्य निरर्थक ही हैं ।

जिनाज्ञा से निरपेक्ष व्यवहार अशुद्ध व्यवहार है, उससे आत्म-हित संभव नहीं है। अतः जिनाज्ञा के श्रवण-मनन द्वारा सुदेव-सुगुरु और सुधर्म के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। शास्त्र में सुदेव-सुगुरु और सुधर्म के स्पष्ट लक्षण बतलाए हैं, उन्हें जानकर सुदेवादि की पहिचान करनी चाहिये, और उनके प्रतिदृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये। सुदेव-सुगुरु और सुधर्म की श्रद्धा सम्यग्दर्शन स्वरूप है और सम्यग्दर्शन, धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है। वृक्ष का आधार जड़ ही है। जड़ के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन–श्रद्धा के अभाव में आत्मा मोक्षमार्ग में टिक नहीं सकती है। अतः श्रद्धा को प्राणवंत बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

पाप नहीं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो,
धर्म नहीं कोइ जग सूत्र सरिखो।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे,
तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो ॥6॥

कठिन शब्दों के अर्थ

उत्सूत्र=आज्ञाविरुद्ध। **जग=**जगत् में। **सरिखो=** समान। **भविक=**भव्य प्राणी। **किरिया=**क्रिया। **तेहनो=**उसका। **परिखो=**जाने।

सामान्य अर्थ

आगम-विरुद्ध (उत्सूत्र) भाषण करने जैसा दुनिया में कोई बड़ा पाप नहीं है और सूत्र के सन्मान जैसा जगत् में दूसरा कोई धर्म नहीं है। आगमसूत्रानुसार जो भव्य आत्मा क्रिया करती है, उसके चारित्र को शुद्ध समझना चाहिये।

विवेचन

धर्म और अधर्म की स्पष्ट व्याख्या बतला दी है–आनन्दघनजी महाराज ने। आगम के विरुद्ध वचन बोलना–यह सबसे बड़ा पाप है। प्रभुआज्ञा की विराधना यह प्रभु की सबसे बड़ी विराधना है। हिंसादि पापों से भी यह पाप अत्यन्त भयंकर और बढ़कर है।

मरीचि का भव-भ्रमण इसी कारण से तो बढ़ा है। प्रभु के एक वचन में भी सन्देह रखने वाला वास्तव में मिथ्यादृष्टि है। परमात्मा के वचन को स्वीकार करना-प्रभुआज्ञा को सन्मान देना-इसके बराबर दुनिया में कोई बड़ा धर्म नहीं है।

'प्रभु-आज्ञा की स्वीकृति' यही सम्यग्दर्शन है। कोई धर्म की बड़ी-बड़ी बातें और आराधनाएँ करे, परन्तु प्रभु-आज्ञा पर श्रद्धा न हो तो उसकी सब क्रियाएँ निष्फल हैं।

प्रभु-वचन की अश्रद्धा के कारण ही तो साढ़े नौ पूर्व के ज्ञाता का भी ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है, उसका चारित्र भी अचारित्र ही कहलाता है।

सम्यग्दर्शन-प्रभु आज्ञा का सहर्ष स्वीकार-यही तो धर्म का मूल है। इसके आधार पर ही तो मोक्ष की इमारत खड़ी की जाती है। जो आगम-सूत्र के अनुसार अल्पाधिक प्रमाण में भी प्रभु-आज्ञा का पालन करता है, उसका चारित्र शुद्ध कहलाता है।

प्रभु के एक वचन में भी सन्देह रखने वाले का सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं कहलाता है। एक भी जिनवचन पर अश्रद्धा आने पर आत्मा मिथ्यादृष्टि बन जाती है और अपना भव-भ्रमण बढ़ा लेती है। प्रभु महावीर के एक वचन को न मानने के कारण जमाली का सम्यग्दर्शन चला गया, वे मिथ्यादृष्टि हो गए और निह्नव कहलाए।

एह उपदेश नो सार संक्षेपथी,
जे नरा चित्त मां नित्य ध्यावे।
ते नरा दिव्य बहु काल सुख अनुभवी,
नियत आनंदघन-राज पावे ॥7॥

कठिन शब्दों के अर्थ

एह=इस। **उपदेशनो=**उपदेश का। **जे=**जो। **नरा=**मनुष्य। **चित्तमां=**मन में। **दिव्य=**देवलोक सम्बन्धी। **नियत=**निश्चय से। **राज=**राज्य। **पावे=**प्राप्त करता है।

सामान्य अर्थ

जो मनुष्य इस उपदेश के सार का अपने चित्त में नित्य ध्यान करेगा, वह मनुष्य बहुत काल तक दिव्य सुखों का अनुभव करके परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करेगा ।

विवेचन

इस स्तवन में आनन्दघनजी महाराज ने जैनशासन का सार प्रस्तुत किया है । इस सार को समझने के लिए नित्य प्रयत्नशील बनना चाहिये ।

प्रभु-आज्ञा के इस सार का जो व्यक्ति नित्य ध्यान करता है अर्थात् हमेशा प्रभु-आज्ञा और उसके यथाशक्य पालन का ही विचार करता है, वह अल्प भवों में ही मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है ।

परमानन्द की प्राप्ति का कितना सरल और सचोट उपदेश बता दिया है प्रभु-आज्ञा से चिपके रहो । प्रभु-आज्ञा को अपना प्राण समझो ।

प्रभु-आज्ञा ही मेरा जीवन-आधार है । बस ! अपने लिए तो यही मोक्ष पाने का परम आधार बन सकता है । इस कलिकाल में तो अपने लिए यही आराध्य है, साध्य है ।

प्रभु-आज्ञा का स्वीकार तो हमें भविष्य में ऐसे साधन प्रदान कर देगा कि जिसके प्रभाव से मोक्ष अपनी हथेली पर आ खड़ा होगा ।

आपको पता है सम्यग्दृष्टि आत्मा (यदि पूर्व में आयुष्य न बंधा हो तो) हमेशा देव और मनुष्य गति के ही आयुष्य का बंध करती है, नरक और तिर्यंच के द्वार उसके लिए बंद हो जाते हैं और वह अल्प भवों में ही परमानन्द रूप मोक्ष को प्राप्त करती है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा उत्तरोत्तर विकास के पथ पर बढ़ती जाती है, जब तक उसका मोक्ष न हो तब तक वह प्रायः सद्गति को ही प्राप्त करती है और अंत में सदानन्द स्वरूप मोक्ष प्राप्त करती है ।

पन्द्रहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

अप्रमत्त भाव में रहने वाले निश्चय सम्यग्दृष्टि आत्मा ही धर्मनाथ प्रभु की वास्तविक सेवा कर सकते हैं ।

योगिराज आनन्दघनजी इस स्तवन में आत्मा की उस भूमिका का वर्णन कर रहे हैं, जिसे पाने पर आत्मा परमानन्द की अनुभूति करती है ।

दुनिया में धर्म के नाम पर आज अनेक पंथ और सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, परन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने वाले और जीवन में उसका आचरण करने वाले पुरुष विरले ही होते हैं ।

धर्म की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? और प्रभु से प्रीति कैसे जोड़ी जा सकती है ? इसका स्पष्ट वर्णन इस स्तवन में उपलब्ध है ।

अन्त में, योगिराज आनन्दघनजी प्रभु के चरण-कमलों का भ्रमर बनने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं । जरा ! अपनी आत्मा को पूछें । अपनी भी यही इच्छा है न ?

यदि हां ! तो योगिराज के स्वर में स्वर मिलाकर हम भी प्रभु से आत्म-संवेदन प्रस्तुत करें–

15 धर्मनाथ जिन-स्तवन

(राग : गोडी सारंग रशीयानी देशी)

धर्म जिनेश्वर गाउं रंग शुं,
भंग म पडशो हो प्रीत, जिनेश्वर ।
बीजो मन मंदिर आणुं नहीं,
ए अम कुल वट रीत, जिनेश्वर ।। धर्म०1।।

धरम धरम करतो जग सहु फिरे,
धरम न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर ।
धरम-जिनेश्वर चरण ग्रह्यां पछी,
कोई न बांधे हो कर्म, जिनेश्वर ।। धर्म०2।।

प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे,
देखे परम निधान, जिनेश्वर ।
हृदय नयन निहाले जग-धणी,
महिमा मेरु समान, जिनेश्वर ।। धर्म०3।।

दोडत दोडत दोडत दोडियो,
जेती मननी रे दोड, जिनेश्वर ।
प्रेम-प्रतीत विचारो दुकडी,
गुरु-गम ले जो रे जोड, जिनेश्वर ।। धर्म०4।।

एक पखी प्रीति केम परवडे,
उभय मिल्या होय संधि, जिनेश्वर ।
हूँ रागी, हूँ मोहे फंदियो,
तू नीरागी निरबंध, जिनेश्वर ।। धर्म०5।।

परम निधान प्रगट मुख आगले,
जगत् उल्लंघी हो जाय, जिनेश्वर ।
ज्योति विना जुवो जगदीशनी,
अंधो अंध पुलाय, जिनेश्वर ।। धर्म०6।।

निर्मल-गुण मणि रोहण-भूधरा,
मुनि जन मानस हंस, जिनेश्वर ।
धन्य ते नगरी ! धन्य वेला, घडी,
मात ! पिता ! कुल ! वंश !,जिनेश्वर ।। धर्म०7।।

मन मधुकर वर कर जोडी कहे,
पद कज निकट-निवास, जिनेश्वर ।
घननामि ! आनन्दघन ! सांभलो,
ए सेवक-अरदास, जिनेश्वर ।। धर्म०8।।

धर्म जिनेश्वर गाउं रंग शुं, भंग म पडशो हो प्रीत, जिनेश्वर ।
बीजो मन मंदिर आणुं नहीं,
ए अम कुल वट रीत, जिनेश्वर ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

धर्म जिनेश्वर=पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ । **गाउं=**गाता हूँ । **रंग शुं=**प्रेम उल्लास के साथ । **भंग=**विघ्न । **म पडशो=**नहीं पड़े । **प्रीत=**प्रीति में । **बीजो=**दूसरा । **आणुं=**रखता हूँ । **ए=**यह । **अम कुल वट=**हमारे कुल की प्रतिष्ठा ।

सामान्य अर्थ

हे धर्मनाथ जिनेश्वर ! मैं उत्साह के साथ आपके गुणगान करता हूँ । हे प्रभो ! मेरी एक प्रार्थना है कि इस प्रीति में कभी भंग न पड़े । मेरे मनमंदिर में आपके सिवाय और किसी का स्थान नहीं है, यह मेरा कुलधर्म है, आत्म-स्वभाव है ।

विवेचन

अनन्त संसार की इस यात्रा में आत्म-साक्षात्कार अत्यन्त कठिन है । इस आत्म-साक्षात्कार के बाद जीवन में किसी भी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रहती है ।

आनन्दघनजी महाराज इस स्तवन में प्रभु के आत्मसाक्षात्कार का वर्णन करते हैं । वे कहते हैं कि आज की घड़ी मेरे लिए धन्य बन गई है । आज मुझे धर्मनाथ प्रभु के साक्षात् दर्शन हुए हैं । प्रभु का स्वरूप तो अलौकिक है । इस दिव्य परमात्मा के दर्शन के बाद हृदय में एक ही झंखना बन रही है कि इस प्रीति में कभी भंग न पड़े ।

वीतराग के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने के बाद अब किसी को मेरे हृदय-मंदिर में स्थान देने की इच्छा नहीं है ।

जिसे मधुर आम्रफल प्राप्त हो गया हो, वह क्या तुच्छ बदरी फल की इच्छा करेगा ? जिसने अमी का पान किया हो, वह क्या तुच्छ रस की इच्छा करेगा ? नहीं ! बस ! इसी प्रकार धर्मनाथ प्रभु को हृदयमंदिर

में बसा लेने के बाद अब किसी को भी हृदय मन्दिर में स्थान देने की इच्छा नहीं रही है ।

हे प्रभो ! यह हमारी कुल की रीति अर्थात् खानदानी है कि आपको अपने हृदय मन्दिर में विराजमान कर देने के बाद अब अन्य किसी का मेरे हृदय में स्थान नहीं होगा । अन्त में प्रभो ! आपसे मेरी यही याचना है कि मेरी यह प्रीति अखंडित बनी रहे । क्योंकि इस प्रीति के द्वारा मैं आपके सन्निकट आ रहा हूँ ।

धरम धरम करतो जग सहु फिरे,
धरम न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर ।
धरम-जिनेश्वर चरण ग्रह्यां पछी,
कोई न बांधे हो कर्म, जिनेश्वर ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

धरम=धर्म । **करतो=**कहता हुआ । **जग=**सम्पूर्ण जगत् । **फिरे=**घूमता है । **न जाणे=**जानते नहीं हैं । **मर्म=**रहस्य । **ग्रह्यां पछी=**ग्रहण करने के बाद । **न बाँधे=**बांधता नहीं है ।

सामान्य अर्थ

इस जगत् में 'धर्म' की रट लगाने वाले तो बहुत होते हैं परन्तु धर्म के वास्तविक रहस्य को जानने वाले तो विरल ही हैं । धर्म जिनेश्वर के चरणों को ग्रहण करने के बाद व्यक्ति किसी भी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं करता है ।

विवेचन

इस दुनिया में सच्चे धर्म के शोधक और साधक व्यक्ति विरल ही मिलते हैं । सांसारिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए धर्म को अपना हथियार बनानेवाले दुनिया में बहुत व्यक्ति मिलते हैं । धर्म की ओट में स्वार्थ-साधक व्यक्तियों की चारों ओर भरमार है ।

'धर्म-साधना' का आडम्बर करनेवालों की तरह धर्म को सच्चे अर्थ में नहीं समझनेवाले भी दुनिया में बहुत मिलते हैं । अपनी अज्ञानता

तथा भोलेपन के कारण बहुत से व्यक्ति धर्म की परीक्षा नहीं कर पाते हैं ।

`आगे से चली आती है' के सिद्धान्त को पकड़कर बैठनेवाले व्यक्ति हमें बहुत से मिलते हैं । धर्म के नाम पर एकान्त मान्यता को पकड़कर अपने स्वतंत्र पंथ की स्थापना करने वाले भी बहुत हैं ।

इस प्रकार इस दुनिया में धर्म की दुकान लेकर अपना उल्लू सीधा करने वाले भी बहुत हैं और उनके फन्दों में आ जाने वाले भी बहुत हैं ।

आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि इस प्रकार `धर्म-धर्म' का गीत गुंजाने से धर्म-सिद्धि नहीं होती है । धर्मनाथ प्रभु के चरणों का स्वीकार यानी शरण का स्वीकार वही धर्म है । धर्मनाथ प्रभु की आज्ञा का स्वीकार वही धर्म है । धर्मनाथ प्रभु के परमात्म स्वरूप को देखकर अपनी आत्मा के उसी स्वरूप को प्राप्त करने के लिए सत्य मार्ग का स्वीकार करना वही धर्म है । वही धर्मनाथ प्रभु की सच्ची प्रीति है ।

धर्म का सच्चा स्वरूप तो वह है कि जिससे आत्मा कर्म का बंध न करे । (अशुभ) कर्म का बन्ध करानेवाला धर्म, धर्म नहीं है । आनन्दघनजी महाराज तो धर्मनाथ के चरणों की सेवा ही चाहते हैं कि जिसके आचरण से आत्मा किसी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं करती है अर्थात् प्रभु-भक्ति के फलस्वरूप आत्मा में शुभ भाव उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा उन क्लिष्ट कर्मों का बंध नहीं करती है, जो आत्मा के लिए घातक हैं ।

प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे,
देखे परम निधान, जिनेश्वर ।
हृदय नयन निहाले जग-धणी,
महिमा मेरु समान, जिनेश्वर ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

प्रवचन=प्रभु की वाणी । **अंजन**=काजल । **जो**=यदि । **परम निधान**=सबसे बड़ा भण्डार । **हृदय नयन**=हृदय रूपी आँख । **निहाले**=देखता है । **जगधणी**=जगत् के नाथ । **महिमा**=महत्त्व । **मेरु समान**=मेरु पर्वत के तुल्य ।

सामान्य अर्थ

परमात्मा के वचनामृत के ज्ञाता सद्गुरु यदि हमारे हृदय रूपी नेत्र में प्रवचन का अंजन कर दें, तो स्वयं की आत्मा ही गुण का भण्डार दिखने लगता है फिर वह हृदय-नेत्र से महिमावन्त परमात्मा के साक्षात् दर्शन करता है जिनकी महिमा मेरु के समान है ।

विवेचन

अंजन के प्रयोग से नेत्र-रोग दूर होते हैं और आँख की ज्योति बढ़ती है । अनादि काल से मोह की अधीनता होने के कारण अपने हृदय रूपी नेत्र में भी मिथ्यात्व का भयंकर रोग व्यापक बना हुआ है । पीलिया के रोगी को जिस प्रकार हर वस्तु पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के इस रोग के कारण जगत् का स्वरूप हमें उल्टे रूप में दिखाई देता है और विपरीत दृष्टि के कारण आत्मा विपरीत आचरण करती है । फल स्वरूप, आत्मा दुःख के महासागर में डूबी रहती है ।

सद्गुरु हमारे लिए माता तुल्य हैं, जो हमारे इस रोग को जानकर, उस रोग से मुक्ति कराने के लिए हमारी आँख में प्रवचन रूपी अंजन डालते हैं । इस अंजन के आँजने के साथ ही मिथ्यात्व का रोग नष्ट हो जाता है, हृदय-नेत्र में सम्यग्दृष्टि खिल उठती है और आत्मा परम आनन्द का अनुभव करती है ।

इस समीचीन दृष्टि के प्रकट होने के साथ ही आत्मा अपने आत्म-निधान को प्रत्यक्ष देखती है । अनन्त सुखों के भण्डार रूप आत्मदर्शन के बाद सांसारिक सुखों के प्रति तिरस्कार भाव पैदा हो जाता है । फिर यह आत्मा अपने हृदय-नेत्रों से मेरु के समान महामहिमावन्त परमात्मा के दर्शन करती है ।

इस गाथा में `हृदय नयन' से तात्पर्य आत्मा में सम्यग्दर्शन के प्रगटी करण से है । सम्यग्दर्शन के प्रगटीकरण के बाद आत्मा आत्मदर्शन और परमात्मदर्शन करती है । अपने आप के सुख का भण्डार देखती है और परमात्मा को महामहिमावन्त देखती है । सद्गुरु के योग से ही आत्मा और परमात्मा के स्वरूप की पहिचान होती है । आत्मा और परमात्मा को

पहिचानने के बाद आनन्द के लिए अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

दोडत दोडत दोडत दोडियो, जेती मननी रे दोड, जिनेश्वर ।
प्रेम-प्रतीत विचारो ढुकडी, गुरु-गम ले जो रे जोड, जिनेश्वर ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

दोडत दोडत=दौड़ना । **जेती**=जितनी । **मननी**=मन की । **दोड**=वेग । **प्रेम प्रतीत**=स्नेह का विश्वास । **ढुकडी**=पास में । **गुरुगम**=गुरु से प्राप्त मार्गदर्शन । **जोड**=साथ में ।

सामान्य अर्थ

प्रवचन-अंजन की प्राप्ति के बाद और परम निधान स्वरूप जगद्गुरु को देखने के बाद जितना दौड़ सके...जितना मन का वेग हो, उतना दौड़ते ही रहना और इस दौड़ में यदि सद्गुरु का मार्गदर्शन साथ में रखोगे तो प्रभु के साथ प्रेम जोड़ने में कोई देरी नहीं लगेगी ।

विवेचन

जब तक सत्य दिशा का भान नहीं होता है, तब तक दौड़ना व्यर्थ है । परमात्मा तो परम निधान स्वरूप है, सद्गुरु के प्रवचन-अंजन से भव्यात्मा को सत्य मार्ग दिखाई देता है और उसे दूर से परमनिधान स्वरूप परमात्मा दिखाई देते हैं, किन्तु परमात्मा के निकट तक पहुँचने में अनेक बाधाएँ हैं । उन बाधाओं को दूर करने के लिए सद्गुरु का समागम अत्यन्त अनिवार्य है ।

यदि मार्गदर्शक (Guide) साथ में हो तो भीषण जंगल के भी पार पहुँच सकते हैं, उसी प्रकार यदि सद्गुरु का मार्गदर्शन सदैव साथ रखेंगे तो अवश्य ही परमात्मा के साथ प्रीति का सम्बन्ध जोड़ा जा सकेगा ।

सद्गुरु के मार्गदर्शनपूर्वक यदि यह मन अपनी तीव्र गति से परमात्मा के सम्मुख दौड़ेगा तो अवश्त ही यह धर्म जिनेश्वर के साथ प्रीति का सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा और यदि सद्गुरु की उपेक्षा हो गई तो आत्मा पुनः इस संसार वन के मायाजाल में भटक जाएगी ।

सद्गुरु ही मोक्षमार्ग के सच्चे ज्ञाता हैं । वे स्वयं उस मार्ग पर चलकर अपने लक्ष्य स्थल की ओर आगे बढ़ रहे हैं, अतः आत्मा को यदि उनका आलम्बन मिल जाय तो प्रभु से प्रीति जोड़ने में जो विघ्न-बाधाएँ हैं, वे सब दूर हो सकती हैं ।

एक पखी प्रीति केम परवडे,
उभय मिल्या होय संधि, जिनेश्वर ।
हूँ रागी, हूँ मोहे फंदियो,
तू नीरागी निरबंध, जिनेश्वर ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

एक पखी=एकपक्षीय । **पखडे**=कैसे टिके ? **उभय**=दोनों । **मिल्या**=मिलें । **संधि**=मैत्री । **हूँ**=मैं । **मोहे फंदियो**=मोह के फंद में फँसा । **तू**=आप । **निरबंध**=बंध रहित ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! अब मैं समझ गया हूँ कि आपकी और मेरी प्रीति क्यों नहीं टिक रही है । दुनिया में भी दो के परस्पर मिलन से ही सन्धि होती है । एकपक्षीय प्रीति संभव नहीं है । हे प्रभो ! मैं तो राग और मोह के जाल में फँसा हुआ हूँ, और आप तो विरागी और बंध रहित हो ।

विवेचन

दुनिया में दोस्ती किसकी होती है ? कौन से दो व्यक्तियों के बीच मैत्री स्थिर रह सकती है ? उत्तर है—यदि दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रीति होगी, तो उनकी दोस्ती हो सकती है, मैत्री टिक सकती है ।

मैत्री के लिए दोनों की विचारधारा तथा स्वभाव एक होना अनिवार्य हैं, यदि उनमें भेद है तो वह मैत्री चिरंजीवी नहीं हो सकती है । साधक योगिराज आनन्दघनजी महाराज प्रभु से प्रीति जोड़ना चाहते हैं । वे अपना आत्म-संवेदन प्रभु से निवेदित कर रहे हैं कि हे प्रभो ! आप तो वीतरागी हो-राग द्वेष के बन्धनों से रहित हो ! कर्म के लेप से सर्वथा मुक्त हो ! आप सर्वथा स्वतंत्र हो, मुक्त हो, आत्मानन्दी हो और मेरे तो बहुत बुरे हाल हैं ।

हे प्रभो ! मैं तो राग के बंधन से बद्ध हूँ। द्वेष के बंधन से बद्ध हूँ। मोह के जाल में फँसा हुआ हूँ। भय और शोक से संतप्त हूँ। आपकी और मेरी दिशा ही भिन्न है। आपका और मेरा स्वभाव ही भिन्न है। बड़ी ही विकट समस्या है-आपसे प्रीति जोड़ने में।

कृपा करो नाथ ! मेरी इस संवेदना को सुनो और मुझे आप जैसा बना लो, तभी अपनी प्रीति स्थायी हो सकती है। दुनिया में एकपक्षीय प्रेम-प्रीति कब तक टिक सकती है ? हे प्रभो ! मैं आपसे प्रीति जोड़ना चाहता हूँ। परन्तु आप अनन्त गुणों के भंडार हो और मैं अनन्त अवगुणों का भण्डार हूँ ! आप मुझ पर कृपा करें। मेरे अवगुणों को आप दूर करें। तभी अपनी प्रीति चिर-स्थायी बन सकेगी।

परम निधान प्रगट मुख आगले,
जगत् उल्लंघी हो जाय, जिनेश्वर।
ज्योति विना जुवो जगदीशनी,
अंधो अंध पुलाय, जिनेश्वर ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

प्रगट=स्पष्ट। **मुख आगले=**मुँह के सामने। **उल्लंघी=**उल्लंघन। **ज्योति=**प्रकाश। **जुवो=**देखो। **जगदीशनी=**ईश्वर की। **अंधो अंध=**अन्धानुकरण। **पुलाय=**होता है।

सामान्य अर्थ

हे जिनेश्वर देव ! अपने समीप ही परम निधान होने पर भी जिस प्रकार अन्धा, उस निधान को नहीं पहिचानने के कारण घर-घर भीख माँगता है, उसी प्रकार ज्ञान-ज्योति के अभाव में इस संसार में समस्त प्राणी भी अपनी आत्मा में रहे परमानंद रूप परम निधान को नहीं पहिचान कर अन्धे की भाँति इस संसार में इधर-उधर भटकते हैं।

विवेचन

क्या आपने किसी अन्धे-व्यक्ति को किसी वस्तु की शोध करते हुए देखा है ? कैसे बेहाल होते हैं उसके। वह अत्यन्त पास में रही हुई अपनी इष्ट वस्तु को भी नहीं देख पाता है और उस वस्तु को पाने के लिए

सचमुच चारों ओर दौड़-धूप करता रहता है । अथवा किसी अन्धे के हाथ में कीमती हीरा आ जाय तो भी उसके स्वरूप को नहीं जानने के कारण बेचारा पेट-पूर्ति के लिए भीख माँगता फिरता है ।

क्या यही हालत अपनी आत्मा की नहीं है ? अपनी आत्मा भी अनन्त सुख की अक्षय भण्डार है । उछलते हुए सुख का महासागर है । चारों ओर सुख...सुख और सुख...की तरंगों से सर्वथा व्याप्त है ।

फिर भी अपनी हालत कैसी है ? सुख...सुख की एक–एक बूंद के लिए तरस रहे हैं । अपने आपको सुख से रहित दीन हीन और कंगाल मान बैठे हैं । परन्तु उस आत्म-खजाने का पता तो किसे चले ? जिसे परमात्म-ज्योति की प्राप्ति हुई हो । परमात्मा से ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति हुए बिना हम आत्म-निधान की उपेक्षा कर, उसके लिए बाहर ही भटकनेवाले हैं ।

उस ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति के अभाव में अपनी हालत अन्धानुकरण जैसी है । अतः यदि परम-निधान को पहिचानना है तो धर्मनाथ जिनेश्वर के चरणकमलों की सेवा स्वीकार करनी चाहिये ।

ज्ञानसार में कहा है **'सुखं स्वसन्निधावेव'** हे आत्मन् ! सुख तो तेरे अत्यंत निकट है अर्थात् तेरे पास है, परन्तु मोहान्धता के कारण आत्मा अपने आप में सुख नहीं शोधती है । वह जड़-पुद्गल में से सुख पाना चाहती है, यह कैसे संभव है ? प्रभु की ज्योति हमें सुख के भण्डार दिखा सकती है, उस ज्योति के बिना तो सर्वत्र अंधानुकरण ही है ।

निर्मल-गुण-मणि रोहण-भूधरा,
मुनि जन मानस हंस, जिनेश्वर ।
धन्य ते नगरी ! धन्य वेला, घडी,
मात ! पिता ! कुल ! वंश !, जिनेश्वर ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

निर्मल=पवित्र । **गुण-मणि=**गुण रूपी रत्न । **रोहण भूधरा=**रोहणाचल पर्वत । **मुनिजन=**मुनिवृंद । **मानस हंस=**मानसरोवर में हंस । **धन्य ते नगरी=**उस नगरी को धन्य है । **वेला=**घड़ी ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आप निर्मल गुण-रत्नों के रोहणाचल पर्वत हो । मुनिगण के मन रूपी मानसरोवर के हंस हो । वह नगरी धन्य है, जहाँ आपका जन्म हुआ । वह समय भी धन्य है जिस समय आपका जन्म हुआ । आपके माता, पिता, कुल तथा वंश आदि सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

विवेचन

मेरे प्रभु धर्म जिनेश्वर गुणरत्नों के रोहणाचल हैं । रोहणाचल पर्वत रत्नों की खान है । वहाँ से कितने भी रत्न निकालो, वह खजाना खाली होनेवाला नहीं है । उसी प्रकार प्रभु भी गुण-रत्नों के रोहणाचल हैं । प्रभु के गुणों को गिनने में साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं है ।

महात्माओं के मन रूप मानसरोवर में प्रभु हंस समान हैं । हंस मानसरोवर की शोभा में अभिवृद्धि करता है, उसी प्रकार प्रभु भी अध्यात्मप्रेमी योगियों के हृदय में बसकर उनकी आत्मा को आनन्द देनेवाले हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा इस जगत् में परम पुरुष हैं । सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति के वे स्वामी हैं । परमात्मा का जन्म आदि भी जगत् के सर्व जीवों के कल्याण में कारणभूत होने से **कल्याणक** कहलाता है ।

प्रभु जहाँ-जहाँ विचरते थे, वहाँ-वहाँ बाह्य-अभ्यंतर सभी उपद्रव नष्ट हो जाते थे । परमात्मा के विहार से पावन बनी हुई उन भूमियों के स्पर्शन से आज भी हमें परम आनंद की अनुभूति होती है ।

जिस नगर में प्रभु का जन्म होता है वह नगरी भी तीर्थ स्वरूप बन जाती है । जिस दिन अथवा जिस समय प्रभु का जन्मादि हुआ, वह दिन भी पर्व महोत्सव रूप बन जाता है और प्रभु को जन्म देने वाले माता-पिता भी जगत्पूज्य बन जाते हैं । जिस वंश में प्रभु का जन्म होता है, वह वंश भी स्तुत्य हो जाता है । प्रभु का प्रभाव अचिंत्य है । उनसे कौन सी वस्तु पवित्र नहीं बनती है ? अर्थात् जिस प्रकार पारसमणि के संग से लोहा भी कीमती स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार प्रभु के संग से सभी पूज्य बन जाते हैं ।

मन मधुकर वर कर जोडी कहे,
पद कज निकट-निवास, जिनेश्वर ।
घननामि ! आनन्दघन ! सांभलो,
ए सेवक-अरदास, जिनेश्वर ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मन मधुकर=मन रूपी भ्रमर । **वर=**श्रेष्ठ । **कर जोडी=**हाथ जोड़कर । **पद कज=**चरण रूपी कमल । **अरदास=**अर्जी । **घननामि=**बहुत से नाम वाले ।

सामान्य अर्थ

हे जिनेश्वर देव ! मेरे मन रूपी उत्तम भ्रमर को आपके चरण कमलों में निवास करने दो । हे अनेक नाम वाले, आनन्दघन प्रभो ! आप कृपा करो और सेवक की इस प्रार्थना को स्वीकार करो ।

विवेचन

द्ररिद्रनारायण की इच्छा क्या हो सकती है ? धन-प्राप्ति की ही न ! एक कामी व्यक्ति की इच्छा रूप-रमणी को पाने की । लोभी की इच्छा धन-दौलत को पाने की । एक राजा की इच्छा राज्य-विस्तार की । एक सैनिक की इच्छा शत्रु को जीतने की । लेकिन एक भक्त की इच्छा ? प्रभु के चरण-कमलों का भ्रमर बनने की ही । प्रभु-भक्त को दुनिया की समस्त वस्तुएँ तुच्छ भी मालूम पड़ती हैं, उसके मन तो प्रभु ही सर्वस्व होते हैं ।

आनन्दघन योगिराज प्रभु से एक ही प्रार्थना कर रहे हैं कि हे प्रभो ! आप कृपा करो । मुझ सेवक की इस विनती का स्वीकार करो । आत्मा परम आनन्द का समूह है, परन्तु उस आनन्द को पाने के लिए प्रभु-चरण कमल का भ्रमर बनना अनिवार्य है ।

हे घननामि ! आनन्द के समूह रूप हे प्रभो ! कृपा करके आप सेवक की विनती स्वीकार करो । मुझे आपके चरण-कमलों के निकट रखो अर्थात् जिस प्रकार आपने सकल कर्मों के समूह का क्षय किया है और आप लोकाग्र स्थित हो, उसी प्रकार मुझे भी आपके चरण-कमल का भ्रमर बना दो ।

आपके चरण-कमल का भ्रमर बनने के बाद अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए मुझे अन्य कहीं भटकना नहीं पड़ेगा । हे प्रभो ! मेरी यह अर्ज है कि आपके चरण-कमल की सेवा मुझे प्रत्येक भव में मिलती रहे । आनन्द के समूह रूप हे प्रभो ! मेरी इस प्रार्थना को आप अवश्य सुनें ।

सोलहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

सम्पूर्ण जगत् शान्ति की उपलब्धि के लिए दौड़-धूप कर रहा है। स्व-स्वरूप की अज्ञानता के कारण अनन्त सुख की धनी अपनी आत्मा तुच्छ पामर और क्षणिक पदार्थों में से शान्ति-प्राप्ति के लिए दिन और रात प्रयत्न करती रहती है। जिस प्रकार बालू को पेरने से तेल नहीं निकलता है, अपितु श्रम ही व्यर्थ जाता है। उसी प्रकार जड़ पदार्थों में से सुख-प्राप्ति के घोर प्रयत्नों के बावजूद आत्मा को हताशा ही प्राप्त होती है।

अशान्ति से हताश-निराश बनी आत्मा को अवलम्बन दे रहे हैं योगिराज आनन्दघनजी !

शान्तिनाथ प्रभु की इस स्तवना के माध्यम से जीवन में हताश बने हुए व्यक्तियों को शान्ति की भेंट प्रस्तुत कर रहे हैं।

शान्तिनाथ प्रभु के मुख से ही शान्ति-प्राप्ति के उपायों को बतलाकर वे अपनी बात को शान्ति-मार्ग के रूप में बतला रहे हैं।

क्या आप भी जीवन में हताश हो चुके हैं ? हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनाइये शान्ति प्रभु द्वारा निर्दिष्ट इस शान्ति मार्ग को।

फिर देखो चमत्कार-जीवन में शान्ति प्राप्ति का !

16 शान्तिनाथ जिन-स्तवन

(राग : मल्हार, चतुर चोमासु पडिक्कमी-ऐ देशी)

शांति-जिन ! एक मुज विनति, सुणो त्रिभुवन राय रे ।
शांति स्वरूप किम जाणिये ? कहो, मन किम परखाय रे ।।
।। शान्ति०...1।।

धन्य ! तुं आतमा ! जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे ।
धीरज मन धरी सांभलो, कहूँ-शांति-प्रतिभास रे ।।
।। शान्ति०...2।।

भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या जिनवरदेव रे ।
ते तिम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शांति-पद सेव रे ।।
।। शान्ति०...3।।

आगम-धर गुरु समकिती, किरिया-संवर सार रे ।
संप्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभवाधार रे ।।
।। शान्ति०...4।।

शुद्ध आलंबन आदरे, तजी अवर जंजाल रे ।
तामसी-वृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्विकी साल रे ।।
।। शान्ति०...5।।

फल विसंवाद जेहमां नहि, शब्द ते अर्थ-संबंधि रे ।
सकल नय-वाद व्यापी रह्यो, ते शिव साधन सन्धि रे ।।
।। शान्ति०...6।।

विधि प्रतिषेध करी आतमा, पदारथ अविरोध रे ।
ग्रहण विधि महाजने परिग्रह्यो, इस्यो आगमबोध रे ।।
।। शान्ति०...7।।

दुष्ट जन-संगति परिहरी, भजे सुगुरु-संतान रे ।
जोग सामर्थ्य चित्त भाव जे, धरे मुगति निदान रे ।।
।। शान्ति०...8।।

मान अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक-पाषाण रे ।
वंदक-निंदक सम गणे, इस्यो होय, तुं जाण रे ।।
।। शान्ति०...9।।
सर्व जग-जन्तु ने सम गणे, सम गणे तृण मणि भाव रे ।
मुक्ति-संसार बिहु सम गणे, मुणे भव जलनिधि नाव रे ।।
।। शान्ति०...10।।
आपणो आतम-भाव जे, एक चेतनाधार रे ।
अवर सवि साथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे ।।
।। शान्ति०...11।।
प्रभु-मुखथी एम सांभली, कहे आतम राम रे ।
ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुज सिध्यां सवि काम रे ।।
।। शान्ति०...12।।
अहो ! अहो ! हुं मुजने कहुं, नमो मुज नमो मुज रे ।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेट थई तुज रे ।।
।। शान्ति०...13।।
शांति स्वरूप संक्षेप थी, कह्यो निज पर रूप रे ।
आगम मांहे विस्तार घणो, कह्यो शांति-जिन भूप रे ।।
।। शान्ति०...14।।
शांति स्वरूप एम भावशे, धरी शुद्ध प्रणिधान रे ।
आनंदघन पद पामशे, ते लहेशे बहुमान रे ।।
।। शान्ति०...15।।

शांति-जिन ! एक मुज विनति, सुणो त्रिभुवन राय रे ।
शांति स्वरूप किम जाणिये ? कहो, मन किम परखाय रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

शांति जिन=हे शांतिनाथ जिनेश्वर । **मुज=**मेरी । **विनति=**विज्ञप्ति । **त्रिभुवनराय=**तीनों लोकों के राजा । **शांतिस्वरूप=** शान्तिनाथ के अन्तरंग स्वरूप को । **किम=**कैसे । **मन=**मन से । **परखाय=** पहिचानना ।

सामान्य अर्थ

साधक प्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि हे शांतिनाथ प्रभो ! त्रिभुवन के अधिपति ! कृपा कर मेरी एक विनती सुनिये ! शान्ति का स्वरूप कैसा है ? और उसका किस प्रकार अनुभव किया जा सकता है ? वह मुझे कहो !

विवेचन

ज्यों-ज्यों आत्मा मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी अन्तरंग साधना का स्तर ऊँचा होता जाता है । इस स्तवन में आनन्दघनजी महाराज `समता-योग' का वर्णन कर रहे हैं ।

गत स्तवन में प्रभु से आत्म-साक्षात्कार तक की भूमिका का वर्णन किया था । इस स्तवन में अब प्रभु से शान्ति के विषय में वार्तालाप कर रहे हैं ।

भयंकर रोग से पीड़ित रोगी को यदि कुशल डॉक्टर मिल जाय तो क्या वह रोगी आरोग्य की प्राप्ति के लिए पूछताछ नहीं करेगा ? अवश्य करेगा ।

इसी प्रकार मोक्षाभिलाषी आत्मा भी लम्बे काल से आत्म शान्ति की खोज कर रही हैं, परन्तु वह आत्म-शान्ति दुनिया में तो मिले कहाँ से ? उस आत्मशान्ति का पता वे ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसमें लीन बने हुए हैं ।

अपने शान्तिनाथ प्रभु वास्तव में शान्ति के स्वामी हैं-शान्ति के भोक्ता हैं-शान्ति के दाता हैं ।

शान्ति के गृह-स्वरूप शान्तिनाथ प्रभु मिल जायें तो फिर साधक अन्य के पास किस प्रकार आजिजी कर सकता है ।

वह तो शान्तिनाथ प्रभु से याचना-प्रार्थना करता है कि हे त्रिभुवन के अधिपति शान्तिनाथ प्रभो ! कृपा करके इस सेवक की विनती सुन

लीजिये । मैं शान्ति की खोज में आपके पास आया हूँ । शान्ति के स्वरूप को जानने की मुझे अत्यन्त जिज्ञासा है । कृपा कर मुझे शान्ति का स्वरूप समझाइये ताकि मैं भी उस शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बन सकूँ।

धन्य ! तुं आतमा ! जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे ।
धीरज मन धरी सांभलो, कहूँ-शांति-प्रतिभास रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

आतमा=आत्मा । **एहवो=**इस प्रकार का । **प्रश्न-अवकाश=**प्रश्न का प्रसंग । **धीरज=**धैर्य । **मन धरी=**मन में धारण कर । **कहूँ=**कहता हूँ । **शांति प्रतिभास=**शान्ति का प्रकाश ।

सामान्य अर्थ

सेवक की विनती की ओर ध्यान देकर प्रभु शान्ति का स्वरूप समझाने से पूर्व कहते हैं कि हे आत्मन् ! तुझे धन्य है कि तुझे इस प्रकार की जिज्ञासा पैदा हुई है । मन में धैर्य धारण कर इस प्रश्न का उत्तर सुनो । मैं तुम्हें शान्ति का स्वरूप कहता हूँ ।

विवेचन

भक्त की प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती है । पाने के पूर्व योग्य बनो । First deserve and then desire. यदि आप में पात्रता होगी तो वह वस्तु आपको मिलेगी ही । आचार्य सोमदेव ने कहा है कि-**``पात्रतां नीतमात्मानं स्वयं यान्ति हि सिद्धयः'' ।**

बस ! शान्ति के स्वरूप को जानने की योग्यता भी आत्मा में तभी प्रकट होती है, जब वह सम्यग् दर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लेती है । पात्रता के बिना न तो जीव में इस प्रकार शान्ति के स्वरूप की जिज्ञासा ही पैदा होती है, और न ही वह शान्ति के स्वरूप को प्राप्त कर सकता है । लेकिन यहां योगिराज आनन्दघनजी की पात्रता को जानकर प्रभु उत्तर दे रहे हैं कि-हे आत्मन् ! तू धन्यवाद का पात्र है । दुनिया में चारों ओर सभी प्राणी इन्द्रिय जन्य सुखों के पीछे तेजी से दौड़ रहे हैं । सभी के हृदय में भौतिक सुख को पाने की चाहना है और तुझे उस सुख की थोड़ी भी परवाह नहीं है, क्योंकि तू उससे विपरीत शान्ति की चाह कर रहा है ।

अच्छा ! तो अब मैं तेरी इस जिज्ञासा का समाधान करना चाहता हूँ । तू ध्यानपूर्वक मेरी बात सुन । मैं तुझे शान्ति का स्वरूप बताता हूँ ।

भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या जिनवरदेव रे ।
ते तिम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शांति-पद सेव रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

भाव=आत्मपरिणाम । **अविशुद्ध=**अशुद्ध । **सुविशुद्ध=**शुद्ध । **कह्या=**कहा है । **जिनवरदेव=**जिनेश्वरदेव । **ते तिम=**उनको उस तरह । **सद्दहे=**श्रद्धा करे । **अवितत्थ=**सत्य रूप में । **प्रथम=**पहला । **ए=**यह । **शांति पद सेव=**शान्तिनाथ के चरणों की सेवा ।

सामान्य अर्थ

जिनेश्वर देवों ने जिन-जिन भावों को शुद्ध और अशुद्ध कहा है, उन-उन भावों को उसी रूप में स्वीकार करना—यह शान्ति को पाने का प्रथम सोपान-सीढ़ी है ।

विवेचन

यदि आप किसी मंजिल पर पहुँचना चाहते हैं तो सबसे पहले आप क्या करोगे ? उसकी प्रथम सीढ़ी पर ही पैर धरोगे न ? उसके बाद ही क्रमशः आगे बढ़ सकोगे न ? बस ! इसी प्रकार आत्म-शान्ति की सर्वोच्च भूमिका समत्व योग को पाने के लिए सर्वप्रथम उसकी पहली सीढ़ी पर पैर रखना पड़ेगा और वह पहली सीढ़ी है, **''श्रद्धा''** सम्यग्दर्शन ।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वरदेवों ने अपने अनन्त ज्ञान से दुनिया के वास्तविक स्वरूप को जाना है और दुनिया के स्वरूप को जानने के बाद एक मात्र हितबुद्धि से भव्य जीवों को जगत् के स्वरूप का निरूपण किया है ।

जिनेश्वरदेवों का ज्ञान अनन्त है और अनन्त ज्ञान में सम्पूर्ण जगत् का प्रतिबिंब रहा हुआ है । अतः उनके द्वारा कही गई प्रत्येक बात संदेह रहित और सम्पूर्ण सत्य है । इस प्रकार जिनवचनों पर श्रद्धा करना यह जीवन में शान्ति-प्राप्ति का प्रथम सोपान है और यही सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आत्मा को जगत् का वास्तविक स्वरूप ख्याल में आ जाता है, मिथ्या भ्रम दूर हो जाता है, परिणाम स्वरूप

आत्मा को परम-शान्ति की प्राप्ति होती है ।

आगम-धर गुरु समकिती, किरिया-संवर सार रे ।
संप्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभवाधार रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

आगमधर=आगमज्ञाता । **समकिती=**समकितधारी । **किरिया=**क्रिया । **संप्रदायी=**संप्रदाय के धारक । **अवंचक=**मायारहित । **शुचि अनुभवाधार=** पवित्र अनुभव के आधारभूत ।

सामान्य अर्थ

आगम-शास्त्रों के परमार्थ को जानने वाले, निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक, संवर-साधक क्रिया करने वाले तथा गुरु परम्परा को (संप्रदाय को) धारण करने वाले, निर्दम्भी, सदा पवित्र तथा पवित्र अनुभव के आधारभूत सद्गुरु शान्ति के स्थान हैं ।

विवेचन

गत गाथा में शान्ति की प्रथम सीढ़ी रूप `सम्यग्दर्शन' का वर्णन किया । अब इस गाथा में क्रमशः शान्ति-मार्ग के दाता सद्गुरु का वर्णन करते हैं ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आत्मा को ज्यों-ज्यों आगम पदार्थों का बोध होता है, त्यों-त्यों आत्मा के आनन्द की सीमा नहीं रहती है । जिस डॉक्टर या वैद्य पर आपको पूर्ण विश्वास हो और जिसकी औषध से आपका स्वास्थ्य अच्छा हुआ हो, ऐसे वैद्य से ज्यों-ज्यों औषध के बारे में आपको जानकारी प्राप्त होती है, त्यों-त्यों आपको कितना आनन्द आता है !

बस ! उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद ज्यों-ज्यों ज्ञान की प्राप्ति होती है, त्यों-त्यों आत्मिक-शान्ति व आनन्द बढ़ता जाता है । इस प्रकार `सम्यग्ज्ञान' शान्ति-प्राप्ति का दूसरा सोपान है । इस ज्ञान के दाता सद्गुरु होने के कारण उनका समागम भी शान्ति का कारण है ।

ज्ञानदाता गुरु कैसे होने चाहिये ? उसका स्वरूप यहाँ बतलाते हैं कि–

1) वे आगम में कहे पदार्थों के रहस्य के ज्ञाता होने चाहिये ।

2) वे सद्गुरु सम्यग्दर्शन के धारक होने चाहिये ।
3) वे संवर-साधक उत्तम आचार वाले होने चाहिये ।
4) वे अपने सद्गुरु की परम्परा के धारक होने चाहिये ।
5) वे दम्भ रहित होने चाहिये ।
6) उनका बाह्य तथा अन्तरंग जीवन पवित्र होना चाहिये ।

शुद्ध आलंबन आदरे, तजी अवर जंजाल रे ।
तामसी-वृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्विकी साल रे ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

शुद्ध आलंबन=योग्य आलंबन । **तजी=**त्यागकर । **अवर=**दूसरा । **जंजाल=**माया । **तामसी वृत्ति=**तामस वृत्ति । **परिहरी=**छोड़कर । **भजे=**धारण करे । **सात्विकी साल=**सात्त्विक वृत्ति रूप किला ।

सामान्य अर्थ

सद्गुरु के योग को प्राप्त कर अन्य समस्त जंजाल तथा तामसी वृत्ति का त्याग कर शुद्ध आलम्बन को स्वीकार करना चाहिये और सात्त्विक वृत्ति रूप किले का आश्रय करना चाहिये । यह भी शान्ति की अगली सीढ़ी है ।

विवेचन

'आम्रफल' के बोध मात्र से उसकी मधुरता का स्वाद नहीं आता है । उसकी मधुरता को पाने के लिए उसका आस्वादन अनिवार्य है । उसी प्रकार आत्मा के सुख के साधनों का ज्ञान हो जाने के बाद उन साधनों को जीवन में क्रियात्मक रूप देना अनिवार्य हो जाता है । इस गाथा में क्रियावंचक योग की बात समझा रहे हैं –

क्रिया को फलदायी बनाने के लिए प्रणिधान-शुद्ध आलम्बन अनिवार्य है । यदि आपका आलम्बन शुद्ध नहीं है तो आपको वास्तविक फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है । अतः सर्वप्रथम शुद्ध आलम्बन के जो चौंसठ भेद हैं, उनका आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये । 1) प्रीति 2) भक्ति 3) वचन तथा 4) असंग x 1) इच्छा 2) प्रवृत्ति 3) स्थैर्य और 4) सिद्धि तथा 1) स्थान 2) वर्ण 3) अर्थ और प्रतिमादि आलम्बन, इस प्रकार– 4 x 4 = 16 x 4 = 64 ये शुद्ध आलम्बन रूप हैं ।

शुद्ध आलम्बन के ग्रहण के साथ अन्य प्रपंचों का त्याग कर देना चाहिये । जीवन में तामसी वृत्ति हो तो उसका त्याग कर सात्त्विक वृत्ति का आश्रय करना चाहिये । यह शान्ति को पाने का अगला सोपान है ।

फल विसंवाद जेहमां नहि, शब्द ते अर्थ-संबंधि रे ।
सकल नय-वाद व्यापी रह्यो, ते शिव साधन सन्धि रे ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

फल विसंवाद=फल में विसंवाद । **जेहमाँ=**जिसमें । **अर्थ संबंधि=**अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला । **सकल=**सम्पूर्ण । **शिव साधन संधि=**मोक्ष के साधनों की कड़ी ।

सामान्य अर्थ

जिस प्रकार शब्द के साथ अर्थ का विसंवाद नहीं आना चाहिये, उसी प्रकार किसी क्रिया को करने में उसके फल के साथ विसंवाद नहीं आना चाहिये । मोक्ष रूप फल के निमित्तभूत कारणों की इस श्रृंखला में समस्त नयवाद समाविष्ट हुआ है ।

विवेचन

प्रस्तुत गाथा में पूज्य आनन्दघनजी म. फल अवंचकता बता रहे हैं । एवंभूत नय के अनुसार शब्द के अनुसार ही अर्थ घटित किया जाता है । एवंभूत के अनुसार जलधारण आदि की क्रिया करने वाला घट ही घट कहलाता है, खाली पड़ा हुआ घट, घट नहीं कहलाता है, उसी प्रकार जिस क्रिया-अनुष्ठान आदि को करने से उसका फल बराबर मिलता हो अर्थात् उसके फल में किसी प्रकार का व्यभिचार दोष न आए तो वह क्रिया फलावंचक कहलाती है ।

मोक्ष के नाम पर दुनिया में अनेकविध अनुष्ठानादि प्रचलित हैं, परन्तु वे सब अनुष्ठान मोक्षफल देने में सफल नहीं हो पाते हैं । जिन अनुष्ठानों में मोक्षफल देने का सामर्थ्य नहीं है, वे अनुष्ठान फल-वंचक कहलाते हैं । सफल क्रिया का आचरण करने से क्रमिक आत्मविकास रूप फल अवश्य प्राप्त होता है । जीवों की भिन्न २ योग्यताओं के अनुसार (आदि धार्मिक अवस्था से मोक्षप्राप्ति पर्यन्त) योग के असंख्य प्रकार

बतलाए गए हैं। उन सब का स्पष्ट ज्ञान नयवाद के बिना सम्भव नहीं है। विविधताओं को समझाना ही नयवाद का मुख्य प्रयोजन है।

फल-अवंचक योग मोक्ष-मार्ग का सर्वोच्च साधन है। जिस क्रिया-अनुष्ठानादि के करने से आत्मा की क्रमिक विशुद्धि बढ़ती जाती है, वे सब अनुष्ठान फल-अवंचक हैं। उनके आचरण से आत्मा उत्तरोत्तर विकास की ओर आगे बढ़ती जाती है और अन्त में मोक्षपद प्राप्त करती है।

प्रथम कदम अपने अगले कदम का कारण बनता है और अगला कदम पिछले कदम का कार्य कहलाता है। इस कार्य-कारण की श्रृंखला में सम्पूर्ण नयवाद व्याप्त है। अतः मोक्षमार्ग के कार्य-कारण भावों को जानने के लिए नयवाद का ज्ञान अत्यन्त अनिवार्य है।

जैनदर्शन में नय के 7 प्रकार बतलाए गए हैं– 1) नैगम 2) संग्रह 3) व्यवहार 4) ऋजुसूत्र 5) शब्द 6) समभिरूढ़ और 7) एवंभूत। हर नय की अपनी-अपनी अपेक्षा है। यह मोक्षमार्ग सकल नयवाद में व्याप्त है।

विधि प्रतिषेध करी आतमा, पदारथ अविरोध रे।
ग्रहण विधि महाजने परिग्रह्यो, इस्यो आगमबोध रे ॥7॥

कठिन शब्दों के अर्थ

विधि-प्रतिषेध=अन्वय-व्यतिरेक। **पदारथ=**पदार्थ। **अविरोध=**विरोध-रहित। **ग्रहणविधि=**जानने की विधि। **महाजने=**महापुरुषों ने। **परिग्रह्यो=**स्वीकारा है। **इस्यो=**इस प्रकार का। **आगम बोध=**आगमज्ञान।

सामान्य अर्थ

आगमबोध-शास्त्रयोग शान्ति का कारण है। आगम में आत्मा की मुख्यता है और उसका स्वरूप विधि और प्रतिषेध के द्वारा परस्पर अविरोध रूप से बताया गया है। वह स्वीकारविधि–ज्ञानपद्धति महाजनों को मान्य है, ऐसा आगमबोध शान्ति का स्थान है।

विवेचन

विश्ववन्द्य सर्वज्ञ भगवन्तों ने आगम ग्रन्थों की रचना की है। उन आगमों के द्वारा आत्मा के स्वरूप का यथार्थ बोध प्राप्त कर सकते हैं। आगम में विधि और प्रतिषेध के द्वारा आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया

गया है । किसी भी वस्तु के यथार्थ बोध के लिए उसके अन्वय-व्यतिरेक दोनों धर्मों को जानना अनिवार्य है ।

अन्वय अर्थात् विधि, जैसे-आत्मा का स्व-स्वरूप से अस्तित्व है, ज्ञान-दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं । 2) व्यतिरेक अर्थात् प्रतिषेध–जैसे आत्मा पर-स्वरूप से नहीं है, आत्मा में शब्द, रूप, रस आदि धर्म नहीं हैं, अतः तत्स्वरूप से आत्मा नहीं है ।

शास्त्रों की मदद से हमें आत्मा का यथार्थ बोध होता है । आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा के कौन 2 से धर्म हैं ? इत्यादि बातों का अन्वय और व्यतिरेक से सत्यबोध शास्त्रों के अध्ययनादि से ही प्राप्त होता है ।

आत्मा का सत्यबोध शान्ति का स्थान है, इसी को शास्त्रयोग कहते हैं । आत्मा के विकास के लिए शास्त्रों का ज्ञान अनिवार्य है । आगमबोध से हमें आत्मा के विकास के सत्य उपायों का बोध होता है ।

कौन-कौनसी प्रवृत्ति करने से आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है ? और कौन 2 सी प्रवृत्ति करने से आत्मा कर्मों से मुक्त होती है ? इत्यादि बातों का ज्ञान शास्त्रों से ही होता है ।

दुष्ट जन-संगति परिहरी, भजे सुगुरु-संतान रे ।
जोग सामर्थ्य चित्त भाव जे, धरे मुगति निदान रे ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

गाथा 8 :– परिहरी=छोड़कर । **सुगुरु=**सद्गुरु । **संतान=**परम्परा । **चित्तभाव=**आत्मा के उच्च स्वभाव रूप । **मुगति=**मोक्ष । **निदान=**मुख्य कारण ।

सामान्य अर्थ

शान्ति की प्राप्ति के लिए दुष्ट जन की संगति का त्याग करना चाहिये और सद्गुरु की परम्परा का आश्रय करना चाहिये । सद्गुरु के योग से आत्मा आत्मानुभव रूप सामर्थ्ययोग के योग्य बनकर शान्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है ।

विवेचन

इस गाथा में त्रि-योग की बात समझा दी है । इच्छायोग से दुष्ट जन की संगति का त्याग करना चाहिये, फिर सद्गुरु को प्राप्त कर शास्त्रयोग से जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करते-करते जीव में सामर्थ्ययोग का प्रकटीकरण होता है, जो मोक्ष का परम कारण है ।

प्रमत्त गुणस्थानक तक की साधना शास्त्रयोग से सम्भव है, तत्पश्चात् अप्रमत्त तथा क्षपक श्रेणी पर आरोहण होने पर शास्त्र-सापेक्ष क्रियाओं का भी त्याग करना पड़ता है । आत्मा में प्रातिभज्ञान का दीप प्रगट होता है । क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हुए आत्मा में सामर्थ्ययोग प्रगट होता है ।

सामर्थ्ययोग के दो भेद हैं–1) धर्मसंन्यास और 2) योगसंन्यास । सातवें गुणस्थानक का त्याग कर आठवें गुणस्थानक की प्राप्ति होने पर, सातवें गुणस्थानक में होने वाले बाह्य धर्मानुष्ठानों का त्याग कर दिया जाता है, यह धर्मसंन्यास सामर्थ्ययोग कहलाता है तथा तेरहवें गुणस्थानक के अन्तिम अन्तर्मुहूर्तकाल में जब आत्मा योगनिरोध और शैलेशीकरण करती है, उस अवस्था को योगसंन्यास सामर्थ्ययोग कहते हैं ।

इस प्रकार सद्गुरु के योग से शास्त्रयोग की सिद्धि के बाद क्रमशः आत्मा सामर्थ्ययोग को प्राप्त करती है, जिसकी सिद्धि होने पर आत्मा परमानन्द को प्राप्त करती है, परम शान्ति को प्राप्त करती है ।

मान अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक-पाषाण रे ।
वंदक-निंदक सम गणे, इस्यो होय, तुं जाण रे ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सम गिणे=समान गिनता है । **कनक=**स्वर्ण । **पाषाण=**पत्थर । **निंदक=**निन्दा करने वाला । **इस्यो=**इस प्रकार का ।

सामान्य अर्थ

सामर्थ्ययोग के बल से जब आत्मा समतायोग को प्राप्त करती है तब वह मान और अपमान, सुवर्ण और पत्थर, वन्दक और निन्दक को समदृष्टि से देखती है, ऐसे समतायोग की प्राप्ति भी शान्ति का कारण है ।

विवेचन

सामर्थ्ययोग के बल से जब आत्मा समतायोग को प्राप्त करती है, तब उस आत्मा में समदृष्टि प्रकट होती है । इस दृष्टि के खुलने पर आत्मा मान और अपमान को समान दृष्टि से देखती है । कोई आकर सम्मान करे, तो उसके प्रति राग का भाव नहीं, और कोई आकर घोर अपमान भी उसके प्रति कर दे तो भी उसके प्रति रोष और द्वेष का भाव नहीं होता है । आत्मा की यह साधना अत्यन्त ही कठिन है ।

इस समतायोग की प्राप्ति होने पर आत्मा को न तो सुवर्ण के प्रति आकर्षण होता है और न ही पाषाण के प्रति तुच्छ भाव । वह तो दोनों में समान दृष्टि को धारण करती है । इसके साथ ही कोई आकर वन्दन करे, चरणों में झुके अथवा कोई आकर निन्दा करे तो भी आत्मा इस परिस्थिति में समदृष्टि वाली रहती है ।

इस अवस्था की प्राप्ति होने पर आत्मा राग और द्वेष की पकड़ से सर्वथा मुक्त हो जाती है और परम आनन्द में लीन बनती है । यह शान्ति-प्राप्ति का अगला कदम है । यही बात चिदानन्दजी ने भी कही है–

''निंदा स्तुति श्रवण सुनी ने, हर्ष शोक नवि आणे ।
ते जगमां जोगीसर जूदा, नित चढ़ते गुण ठाणे ।।
अवधु निरपक्ष विरला कोई ।''

मान-अपमान, अनुकुलता-प्रतिकुलता, वन्दन-निन्दा आदि विपरीत भावों में जो आत्मा समदर्शी रहती है, वह असीमित आनन्द का अनुभव करती है ।

सर्व जग-जन्तु ने सम गणे, सम गणे तृण मणि भाव रे ।
मुक्ति-संसार बिहु सम गणे, मुणे भव जलनिधि नाव रे ।।10।।

कठिन शब्दों के अर्थ

जग-जन्तु=जगत् के प्राणी । **तृण=**घास । **बिहु=**दोनों । **मुणे=**जानता है । **भव-जलनिधि=**संसार रूपी सागर ।

सामान्य अर्थ

समतायोग की उत्कृष्ट साधक आत्मा जगत् में रहे समस्त जीवों

को आत्मौपम्य दृष्टि से देखती है । तृण और मणि में उसकी दृष्टि समान होती है । यहाँ तक कि मोक्ष और संसार को भी वह समान देखती है । इस प्रकार का समभाव भव-सागर से तरने के लिए नाव समान है ।

विवेचन

समता योग की उत्कृष्ट साधना हो जाने पर आत्मा जगत् में रहे समस्त जीवों को समदृष्टि से देखती है, उसमें सबके प्रति मैत्रीभाव रहता है । वह तृण और मणि को एक समान दृष्टि से देखती है ।

`समतायोग' की साधना आने पर आत्मा इच्छा-रहित बन जाती है, फिर उस आत्मा की मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा भी मिट जाती है । उसके लिए मोक्ष और संसार दोनों समान हो जाते हैं । इस प्रकार की समदृष्टि की साधना आत्मा को भवसागर से पार उतरने के लिए नाव समान है ।

क्या आपकी इच्छा भवसागर से पार उतरने की है ? यदि हाँ, तो इस `समत्वयोग' को प्राप्त करना होगा । इस समत्वयोग की प्राप्ति सहज रूप से संभव नहीं है । इसके लिए सतत जागृति और प्रयत्न चाहिये । `समत्व योग' की यह बात **योगशास्त्र** में भी कही गई है–

शत्रौ मित्रे तृणेस्त्रैणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे भविष्यामि, निर्विशेषमतिः कदा ?

शत्रु-मित्र, तृण-स्त्री, स्वर्ण-पत्थर, मणि-मिट्टी तथा मोक्ष-संसार में मेरी मध्यस्थ वृत्ति कब प्रगट होगी ?

आत्मा जब अपने विकास के पथ पर आगे बढ़ती है तब उसमें इस प्रकार की विशिष्ट समता प्रकट होती है कि उसे मोक्ष की भी इच्छा समाप्त हो जाती है, वह पूर्ण रूप से इच्छा रहित बन जाती है । यही मध्यस्थ भावना इस संसार-सागर से पार उतरने की नाव है ।

आपणो आतम-भाव जे, एक चेतनाधार रे ।
अवर सवि साथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे ।।11।।

कठिन शब्दों के अर्थ

आपणो=अपना । **आतम भाव=**आत्म भाव । **चेतनाधार=**चेतना का धारक है । **अवर=**दूसरे । **सवि=**सर्व । **निजपरिकर=** आत्म-परिवार ।

सामान्य अर्थ

चेतन गुण के आधारभूत ज्ञानदर्शन रूप ज्ञायक भाव ही अपना आत्मभाव है । यही अपना सारभूत परिवार है । अन्य सब का साथ तो संयोगजन्य है ।

विवेचन

स्व घर में सुरक्षा है । पर घर में भय है । आत्मा यदि अपने स्वभाव में मग्न रहती है, तो वह सुरक्षित रहती है और यदि अपने स्वभाव को छोड़कर परभाव में रमण करती है, तो वह असुरक्षित-भयातुर बन जाती है । ज्ञान और दर्शन यही चेतना का स्वधर्म है । गीता में भी कहा गया है–

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

ऐसे तो आत्मा अनन्त गुणों की भंडार है । फिर भी 8 गुणों में उन सब गुणों का समावेश हो जाता है । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख, अनन्त चारित्र, अक्षय स्थिति, अरूपिता, अगुरुलघुता तथा अनन्त वीर्य ये आत्मा के आठ मूल गुण हैं । ये ही आत्मा के परिवार के सदस्य हैं ।

इनके सिवाय अन्य सब तो नाम के साथी हैं । उनका संग मात्र संयोगजन्य है । जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग खड़ा होता है । अतः संसार के समस्त संयोग आत्मा के लिए अहितकर हैं । अतः यदि आत्मशान्ति की चाहना हो तो आत्मा के स्वजन के साथ संग करो । भौतिक पदार्थों की संगति का त्याग कर दो ।

जो अपना है, उसी के संग में आनन्द आ सकता है, जो अपना नहीं है, जो विभाव है, परभाव स्वरूप है, उसके संग में कभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है । विभाव दशा से आनन्द की प्राप्ति होना तो दूर रहा, बल्कि आत्मा अपना आनन्द ही खो देती है । जो ज्ञानादि आत्मा की सम्पत्ति है, वे अपने हैं, उसे छोड़कर अन्य सभी भाव आत्मा से पर हैं, उनसे दूर रहने में ही आनन्द है ।

प्रभु-मुखथी एम सांभली, कहे आतम राम रे ।
ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुज सिध्यां सवि काम रे ।।12।।

कठिन शब्दों के अर्थ

प्रभु मुखथी=प्रभु के मुख से । **आतमराम**=आत्मा में रमण करने वाला । **ताहरे**=आपके । **निस्तर्यो**=पार पाया हूँ । **मुज**=मेरे । **सिध्यां**=सिद्ध हुए हैं । **सवि काम**=सभी काम ।

सामान्य अर्थ

प्रभु के मुखारविन्द से शान्ति की प्राप्ति के इस मार्ग को सुनकर आत्मसाधक आनन्दविभोर होकर कहता है–हे प्रभो ! मैं आपके द्वारा निर्दिष्ट शान्ति-स्वरूप के दर्शन मात्र से ही भवसागर से पार पा चुका हूँ और मेरे समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं ।

विवेचन

आत्मा की अपुनर्बन्धक अवस्था से लेकर वीतराग अवस्था तक, इच्छायोग से लेकर सामर्थ्ययोग की साधना पर्यन्त शान्ति की प्राप्ति का जो मार्ग है, वह प्रभु-मुख से सुनकर आनन्दघनजी की आत्म-चेतना अत्यन्त आनन्द-विभोर हो जाती है और आनन्द में आकर प्रभु को कहती है कि–

हे शान्ति मार्ग के दाता शान्ति जिनेश्वर ! हे प्रभो ! आपके दर्शन मात्र से मैं कृतार्थ हो चुका हूँ । आपके द्वारा निर्दिष्ट शान्ति का मार्ग वास्तव में परम शान्ति का मार्ग है । इस शान्ति-पथ पर चलने से भव्यात्मा अवश्य शान्ति प्राप्त करती है ।

मार्गभ्रष्ट हुए को मार्ग की प्राप्ति हो जाय तो उसे कितना आनन्द आता है ! बस ! योगिराज भी प्रभु-मार्ग को प्राप्त कर आनन्द-विभोर होकर कहते हैं कि हे प्रभो ! आपके दर्शन से मेरा बेड़ा पार हो गया है । मैं संसार-सागर को तर चुका हूँ ।

उपर्युक्त नौ गाथाओं में स्तवनकार महर्षि ने अतिसंक्षेप में शान्ति का समस्त स्वरूप हमें बतला दिया है । जिस प्रकार उमास्वातिजी म. ने तत्त्वार्थ के प्रथम सूत्र में समस्त मोक्षमार्ग का वर्णन कर दिया है, उसी प्रकार स्तवनकार ने नौ गाथाओं में शान्ति का यथार्थ स्वरूप हमें समझा दिया है । इस प्रकार प्रभु-मुख से शान्ति के स्वरूप का श्रवण करने से मेरी आत्मा कृतार्थ बनी है और मेरे सभी मनोरथ सफल हो चुके हैं ।

अहो ! अहो ! हुं मुजने कहुं, नमो मुज नमो मुज रे ।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेट थई तुज रे ।।13।।

कठिन शब्दों के अर्थ

नमो मुज=मुझे नमस्कार । **अमित=**अमर्यादित । **जेहने=**जिसको । **तुज=**आपकी ।

सामान्य अर्थ

हे देवाधिदेव ! जिसका माप नहीं किया जा सके, ऐसे दान, को देने वाले परम दाता हे प्रभो ! आपके संयोग से परमानन्द की सर्वोच्च भूमिका को प्राप्त अपनी आत्मा को धन्यवाद देता हूँ । मैं अपने आपको नमस्कार करता हूँ, जिसको आपकी (शान्ति की) भेंट हुई है ।

विवेचन

जब स्व आत्मा में ही परमात्म-स्वरूप की झाँकी प्रकट हो जाती है, तब भावपूर्ण उद्‌गार निकलते हैं । आत्मा और परमात्मा की भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है और आत्मा अभेद दृष्टि से शुद्धात्म द्रव्य को देखती है, उसे अपने में ही परमात्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं ।

अनन्त काल से प्रभु-दर्शन की जो तृषा थी, वह तृषा जब आत्म-दर्शन से शान्त होने लगती है, तब साधक के आनन्द का पार नहीं रहता है । वह परमात्म सदृश अपनी आत्मा को ही नमस्कार करने लगता है । प्रभु की महिमा अपरम्पार है कि जिन्होंने अपनी आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट दर्शन कराया, प्रभु तो अमाप दान के दाता हैं ।

आत्म-दर्शन परमात्मा की ही एक अमूल्य भेंट है । आत्मदर्शन आत्मा की अन्तरात्म दशा है । देह और आत्मा के भेद ज्ञान के बाद आत्मा इस स्थिति को प्राप्त करती है । अन्तरात्म भाव की प्राप्ति हो जाने पर साधक आत्मा के लिए स्व-आत्मा ही वन्दनीय हो जाती है ।

आत्म-दर्शन से आज मेरा दिन धन्य हो गया है । हर्ष के अतिरेक में आत्मा स्वयं को ही सम्बोधित करते हुए कहती है कि अरे ! मुझे नमस्कार करो । क्योंकि अमित दानी के साथ मेरा संग हुआ है ।

शांति स्वरूप संक्षेपथी, कह्यो निज पर रूप रे ।
आगम मांहे विस्तार घणो, कह्यो शांति-जिन भूप रे ।।14।।

कठिन शब्दों के अर्थ

शांतिस्वरूप=शान्ति का स्वरूप । **संक्षेपथी=**संक्षेप में । **निज पर-रूप=**स्व-पर स्वरूप ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार स्व और पर की पहिचान कराकर शान्ति का स्वरूप संक्षेप में कहा है । शान्तिनाथ प्रभु ने आगम में तो बहुत ही विस्तार से शान्ति का स्वरूप कहा है ।

विवेचन

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में शान्ति का स्वरूप कहा गया है । जिसे विस्तार से समझने की अभिलाषा है, उसे स्तवनकार आगम-ग्रन्थों के अवलोकन की सलाह देते हैं । आगम-ग्रन्थों में शान्ति-प्राप्ति का मार्ग बहुत ही विस्तार से बतलाया है ।

आगम का संकेत करके आनन्दघनजी महाराज हमको आगम-पठन की सलाह दे रहे हैं । वर्तमान में आगम का अध्ययन-अध्यापन कम होता जा रहा है । किसी भी पदार्थ की विस्तृत जानकारी हमें जिनागमों से प्राप्त हो सकती है, अतः जैनदर्शन के सांगोपांग ज्ञान के लिए समस्त आगमों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है ।

आगम अपने आत्मानन्द के खजाने को खोलने के लिए चाबी स्वरूप हैं । आगम प्रभु की वाणी स्वरूप हैं और गणधर रचित होने के कारण अत्यन्त ही गहन अर्थों से परिपूर्ण हैं । वास्तव में आगम के अध्ययन से प्राप्त होने वाला आनन्द अपूर्व ही होता है ।

इस प्रकार शान्तिनाथ प्रभु ने शान्ति का स्वरूप हमें कहा है । शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु के इस मार्गदर्शन को जीवन में अपनाने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये ।

शांति स्वरूप एम भावशे, धरी शुद्ध प्रणिधान रे ।
आनंदघन पद पामशे, ते लहेशे बहुमान रे ।।15।।

कठिन शब्दों के अर्थ

भावशे=विचार करेगा । **धरी=**धारण कर । **शुद्ध-प्रणिधान=**निर्मल आलम्बन । **आनंदघन=**मोक्ष पद । **लहेशे=**प्राप्त करेगा ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार शुद्ध प्रणिधान को धारण करके जो शान्ति के स्वरूप का विचार करेगा, वह अवश्य ही आनन्दघन पद को प्राप्त करेगा और जगत् में तीर्थंकर आदि पद के सम्मान को प्राप्त करेगा ।

विवेचन

क्या आप त्रिलोकपूज्य बनना चाहते हैं ? तो उसका मार्ग आनन्दघनजी बता रहे हैं । वे कहते हैं कि इस प्रकार संक्षेप में कहे गये शान्ति के स्वरूप को यदि जीवन में भावित करेंगे तो आत्मा अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकेगी ।

शान्ति-प्राप्ति के जो-जो कदम बतलाये गये हैं, उनका विचार कर अपनी भूमिका और शक्ति के अनुसार उनको जीवन में आत्मसात् करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये । जो आत्मा प्रभु के इस मार्ग का अनुसरण करेगी, वह आत्मा इस मनुष्य लोक में सर्वोच्च पद-तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकेगी और परलोक में सद्गति को प्राप्त करके अन्त में आनन्द के समूह रूप मोक्षपद प्राप्त कर सकेगी ।

आत्मकल्याण की साधना के लिए मोक्षप्राप्ति का प्रणिधान अनिवार्य है । प्रणिधान–लक्ष्यनिर्धारण के बिना की हुई प्रवृत्ति विशेष फलदायी नहीं बनती है । योगिराज आनन्दघनजी म. फरमाते हैं कि आनन्द के समूह रूप मुक्ति की प्राप्ति के लिए शुद्ध प्रणिधान का निर्धारण कर लेना अनिवार्य है, उसके बाद ही की गई साधना मुक्ति प्रदान करने में सहायक बन सकेगी ।

सत्रहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

क्या उपशम श्रेणी पर तेजी से आरोहण करती हुई आत्मा को नीचे गिरते देखा है ? कैसी बुरी दशा हो जाती है उसकी ! पतन के गर्त में वह आत्मा गिर जाती है और आत्म-विकास के निम्न स्तर पर आ जाती है।

क्या कारण होता होगा उस आत्मा के पतन का ? कारण एक ही है कि इस आत्मा ने कषायों का उपशमन किया था, क्षय नहीं। अल्प समय के लिए शान्त हुए शत्रु निमित्त मिलने पर तुरन्त भड़क उठते हैं। बस ! इसी तरह कषाय का उदय होते ही आत्मा का पतन प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा के विकास क्रम का क्रमिक वर्णन करनेवाले आनन्दघनजी ने छिपे रूप से उस उपशम श्रेणी के आरोहण और पतन की झाँकी प्रस्तुत न की हो, ऐसा आभास इस स्तवन से होता है।

मन की चंचलता आत्मोत्थान में बाधक है। जब तक मन वश में नहीं है, तब तक वह नये-नये नाटक खेलता रहता है। अणुबम में कितनी ताकत है ! एक ही विस्फोट में हजारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया जाता है। परन्तु आपको पता है उस बंम से भी अधिक शक्तिशाली है-मानव मन।

सर्जन और विसर्जन की दोनों शक्तियाँ उसमें निहित है। शुभ में जुड़ जाय तो वह आत्म-मुक्ति का सर्जक बन जाता है और अशुभ में जुड़ जाय तो चौदह राजलोक के अन्तिम राजलोक 7 वीं नरक की यात्रा करवा देता है। बड़ी ही कठिन साधना है-मानव मन को वशीभूत करने की।

क्या आपकी भी यही समस्या है ? क्या आप इस समस्या का समाधान चाहते हैं ? तो समर्पित कर दीजिये अपना जीवन कुन्थुनाथ प्रभु के पावन चरणों में। वे मन के विजेता हैं, उन्हीं की सेवा अपने मन को वश में ला सकेगी। तो...तो...तैयार हो जाओ मनः साधना के इस यज्ञ के लिए।

17 कुन्थुनाथ जिन-स्तवन

(राग : गुर्जरी, रामफली, 'अबंर दे हो मोरारि !' ए देशी)

मनडुं किम हि न बाजे, हो कुंथु जिन! मनडुं किम हि न बाजे?
जिम जिम जतन करीने राखूं, तिम तिम अलगूं भाजे ।।
।। हो कुंथुजिन०...1।।

रजनी वासर वसति उजड, गयण पायाले जाय ।
साप खाय ने मुखडुं थोथुं, एह उखाणो न्याय ।।
।। हो कुंथुजिन०...2।।

मुगति तणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासे ।
वयरीडुं कांइ एहवुं चिन्ते, नांखे अवले पासे ।।
।। हो कुंथुजिन०...3।।

आगम आगमधर ने हाथे, नावे किण विध आंकूं ।
किहां कणे जो हठ करी हटक्यूं, तो व्यालतणी पेरे वांकूं ।।
।। हो कुंथुजिन०...4।।

जो ठग कहूँ तो ठगतो न देखूं, साहु-कार पण नांहि ।
सर्व मांहे ने सहुथी अलगूं, ए अचरिज मनमांहि ।।
।। हो कुंथुजिन०...5।।

जे जे कहुं ते कान न धारे, आप मते रहे कालो ।
सुर नर पंडित जन समजावे, समजे न माहरो सालो ।।
।। हो कुंथुजिन०...6।।

मैं जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले ।
बीजी वाते समरथ छे नर, एह ने कोई न झेले ।।
।। हो कुंथुजिन०...7।।

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह वात नहि खोटी ।
एम कहे साध्युं ते नवि मानुं, एक हि वात छे मोटी ।।
।। हो कुंथुजिन०...8।।

मनडुं दुराराध्य ते वश आण्युं, ते आगम थी मति आणूं ।
आनंदघन प्रभु माहरु आणो, तो सांचूं करी जाणूं ।।
।। हो कुंथुजिन०...9।।

मनडुं किम हि न बाजे, हो कुंथु जिन ! मनडुं किम हि न बाजे?
जिम जिम जतन करीने राखूं, तिम तिम अलगूं भाजे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मनडुं=मन । **किमहि=**क्यों कर । **बाजे=**हाथ में आना । **कुंथुजिन=**कुंथुनाथ भगवान । **जिम-जिम=**जैसे-जैसे । **जतन=**प्रयत्न, सुरक्षित । **करी ने राखूं=**करके रखता हूँ । **तिम-तिम=**वैसे-वैसे । **अलगू=**दूर । **भाजे=**भागता है ।

सामान्य अर्थ

हे कुन्थुनाथ प्रभो ! मेरा मन मेरी बात को मान नहीं रहा है । मैं इसको प्रयत्न करके ज्यों-ज्यों वश में रखना चाहता हूँ त्यों-त्यों यह दूर-सुदूर भाग जाता है ।

अथवा

हे कुन्थुनाथ प्रभो ! मैं आपकी स्तवना करने के लिए तैयार तो हुआ हूँ, परन्तु मेरा मन रूपी वाद्य-यंत्र इस स्तवना के स्वर में स्वर मिलाकर नहीं बज रहा है । मैं इससे प्रयत्न करके यह काम कराना चाहता हूँ, पर यह तो दूर-दूर ही भागता है ।

विवेचन

मन की चंचलता और उसके द्वारा होने वाले आत्म-पतन का बहुत ही सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है इस स्तवन में । अध्यात्म के विकास क्रम में आत्मा ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके पतन का भय भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है ।

मान लो किसी पर्वत के ऊपर आलीशान बंगला है दिव्य भौतिक सुख-सुविधाए हैं, परन्तु उस स्थान तक पहुँचने के लिए कोई `हाई वे' नहीं है, मार्ग अत्यन्त ही विकट और संकीर्ण है । ऐसी परिस्थिति में वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन हो जाता है, थोड़ी सी असावधानी रहे तो हड्डी पसली एक हो जाने की सम्भावना रहती है । ऐसे मार्ग को कौन पार कर

सकता है ? उत्तर है कि जो अत्यन्त ही सावधान है, जिसमा मन एकाग्र है और जो दृढ़ निश्चयी है ।

बस ! इससे भी विकट मार्ग है गुण-स्थानक की श्रेणी पर आरोहण करने का । जीवात्मा उपशम सम्यक्त्व को पार करके बहुत ही तेजी के साथ ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करती है । प्रारम्भ में तो अदम्य उत्साह के कारण तेजी से आगे बढ़ जाती है और ग्यारहवें गुण-स्थानक तक को प्राप्त कर लेती है लेकिन वहीं पर कुछ असावधानी के कारण उसका पैर फिसल जाता है और वह धड़ा-धड़ नीचे गिरने लगती है । गिरते-गिरते वह श्रेणी के निम्न स्तर पर आ जाती है ।

उत्थान के मार्ग पर पतन की बहुत बड़ी सम्भावना रहती है । कषाय का अल्पांश भी आत्मा का कितना अधिक पतन करा देता है, यह बात हमें उपशम श्रेणी की विस्तृत जानकारी से ज्ञात होती है । विष के एक ही बिन्दु में क्या प्राणघात की शक्ति नहीं है ? अरे ! विषय और कषाय तो विष से भी भयंकर हैं । विष तो देह का नाश करता है, जबकि विषयकषाय तो आत्म-गुणों का ही घात कर देते हैं ।

आनन्दघनजी महाराज मन की चंचलता बतलाते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! मैं अपने मन को आपकी भक्ति में, चरणसेवा में तत्पर बनाना चाहता हूँ, परन्तु यह दुष्ट तो मेरी बात स्वीकारता ही नहीं है ।

ज्यों-ज्यों मैं इसे पकड़ कर एक स्थान पर बिठाना चाहता हूँ, त्यों-त्यों यह तो एक उद्दंड बालक की भाँति दूर-सुदूर ही भाग जाता है । परेशान हो गया हूँ मैं मन की इस चंचल गति से । कृपा करो नाथ ! मेरी इस समस्या का समाधान करो ।

रजनी वासर वसति उजड, गयण पायाले जाय ।
साप खाय ने मुखडुं थोथुं, एह उखाणो न्याय ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

रजनी=रात्रि । **वासर**=दिन । **वसति**=रहने का स्थान । **उजड़**=निर्जन भूमि । **गयण**=आकाश । **पायाले**=पाताल में । **जाय**=जाता है । **खाय**=काटता है । **थोथुं**=खाली । **उखाणो**=कहावत ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! मेरा यह मन रात-दिन बस्ती में, उजड़ जंगलों में, आकाश और पाताल में अबाधित गति से भटकता ही रहता है फिर भी यह भूखा ही रहता है। अथवा यह न्याय मुझे समझ में आ गया कि साँप किसी को डसता है, फिर भी उसका मुख खाली ही रहता है।

विवेचन

यदि आपके पास `इम्पाला कार' है, तो आप भूमि पर इच्छानुसार गमन कर सकते हैं, परन्तु पानी पर नहीं। यदि आपके पास जलयान है तो आप जल में इच्छानुसार गमन कर सकते हैं–भूमि पर नहीं। यदि आपके पास वायुयान है तो आप आकाश में गमन कर सकते हैं–जल में नहीं। परन्तु क्या आपको उस वाहन का पता है जो सर्वत्र गमन कर सकता है ? यदि नहीं, तो स्तवनकार बतलाते हैं–वह है `मन ' :

आपने मन को समुद्र में सैर करते देखा है न ! आपने मन को आकाश में पक्षी की भाँति उड़ते देखा है न ! कल्पना के पंखों पर वह जाने कहाँ-कहाँ पहुँच जाता है। रात और दिन वह भटकता ही रहता है। भयंकर वन कुंजों से लगाकर जनाकीर्ण बस्तियों में भी भटक जाता है। आकाश और पाताल में घूम कर आना तो उसके लिए सामान्य बात है। उसके लिए कोई अन्तराल बाधक नहीं है, वह स्वतन्त्र है, स्वच्छन्द है कहीं भी आने में, जाने में। उसको विदेश-गमन के लिए पासपोर्ट भी नहीं चाहिये।

इतने स्थलों पर घूमने पर भी आश्चर्य है कि यह मन भूखा, अतृप्त ही रहता है। परन्तु इस बात का समाधान हमें इस तथ्य से हो जाता है कि साँप किसी को खाता है (काटता है) फिर भी उसके मुँह में तो कुछ नहीं आता है। उसे तृप्ति नहीं होती है। बस ! ठीक वैसे ही चारों और भटकने पर भी मन को तृप्ति नहीं होती है, जिस प्रकार छिद्र वाला घड़ा कभी भरा नहीं जाता है, उसी प्रकार यह मन भी दुनिया के परिभ्रमण से कभी तृप्त नहीं बनता है।

मुगति तणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासे ।
वयरीडुं कांइ एहवुं चिन्ते, नांखे अवले पासे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मुगतितणा=मोक्ष के । **तपिया=**तपस्वी । **वयरीडुं=**बड़ा शत्रु । **चिते=**विचार करता है । **नांखे=**डालता है । **अवले पासे=**उल्टी तरफ ।

सामान्य अर्थ

मुक्ति की तीव्र अभिलाषा करने वाले, महान् तपस्वी तथा ज्ञानध्यान की साधना करने वाले योगियों को भी मन ऐसा कुछ चिन्तन करा देता है कि जिसके फलस्वरूप वे भी संसार-सागर में भटक जाते हैं ।

विवेचन

अरे ! यह मन तो उन ज्ञानियों का, तपस्वियों का भी सरदार बन बैठा है । आश्चर्य है । संसार-रसिक जीवों को तो यह संसार में भटकाता ही है, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि मोक्ष की तीव्र इच्छा से साधना करने वाले तपस्वियों को भी संसार में भटका देता है ।

वे कुछ दूरी पर ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि दिखाई दे रहे हैं न ! कैसी उत्कट साधना कर रहे हैं ! सूर्य की घोर आतापना ले रहे हैं, तप से काया को कृश बना रहे हैं और आत्मा को शुभ्र-ध्यान मे जोड़ रहे हैं, मुक्ति की तीव्र अभिलाषा पूर्वक साधना कर रहे हैं । परन्तु देखो तो सही, मन का चमत्कार ! मन ने तो एक चमत्कार रच दिया है । मन ने ऐसे अशुभ भावों में जोड़ दिया कि जिसके फलस्वरूप सप्तम नरक-गमन के भयंकर कर्मों का उपार्जन करा दिया ।

अरे ! उन खंधक मुनि की रो तो नजर करो ! अपने 500 शिष्यों को समाधि प्रदान करने वाले, स्वयं कैसी असमाधि में गिर पड़े । ऐसे तो सैकड़ों द्रष्टान्त इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है । उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ने वालों को यह मन ऐसे अशुभ विचारों मे भटका देता है कि जिसके फलस्वरूप आत्मा इस अनन्त संसार सागर में परिभ्रमण करता रहता है ।

आगम आगम धर ने हाथे, नावे किण विध आंकूं ।
किहां कणे जो हठ करी हटक्यूं, तो व्यालतणी पेरे वांकूं ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

आगमधर=आगमज्ञाता । **नावे=**नहीं आता है । **किण विध=**किसी भी प्रकार । **आंकु=**अंकुश में । **किहां कणे=**किसी स्थान पर । **हठ करी=**आग्रह कर । **हटक्युं=**रुक गया । **व्यालतणी=**सर्प की । **पेरे=**तरह । **वांकु=**टेढ़ा ।

सामान्य अर्थ

आगमधर-आगमज्ञाताओं के हाथ में आगम रूपी अंकुश है, फिर भी मन रूपी हाथी उस अंकुश से भी वश में नहीं आता है । किसी स्थान पर यह हठ पकड़ कर बैठ जाता है, तो सर्प की तरह और भी वक्र बन जाता है और बहुतसा प्रयत्न करने पर भी वश में नहीं आता है ।

विवेचन

शास्त्रकारों ने `ज्ञान' को अंकुश की उपमा दी है । जिस प्रकार `अंकुश' के बल से हाथी को वश में किया जा सकता है, उसी प्रकार `ज्ञान' की सहायता से व्यक्ति मन को वश कर सकता है, परन्तु यह तो सापेक्ष बात है । मन तो उन आगमप्रज्ञों को भी ऐसे अशुभ विचारों में डाल देता है कि वे भी संसार में भटक जाते हैं । क्या आपको पता है ? प्रमाद के वशीभूत होकर चौदह पूर्वी भी निगोद में चले जाते हैं ।

इस मन की वक्रता की कोई सीमा नहीं है । यह कहीं विषय-कषाय में ऐसा फँस जाता है और ऐसी हठ पकड़ लेता है कि वहाँ से हटने का नाम ही नहीं लेता है और सर्प की भाँति और भी अधिक वक्र बन जाता है । यदि इस मन को बलात्कार से वश करने का प्रयत्न करता हूँ, तब तो यह और अधिक उछलने की कोशिश करता है । हे प्रभो ! मेरे मन की इस दुर्दशा को आप सुनें ।

जो ठग कहूँ तो ठगतो न देखूं, साहुकार पण नांहि ।
सर्व मांहे ने सहुथी अलगूं, ए अचरिज मनमांहि ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ठग=धूर्त । **ठगतो=**माया करते । **न देखुं=**नहीं देखता हूँ ।

साहुकार=सज्जन । **नाहिं=**नहीं । **सर्व मांहे=**व्यापक । **सहु थी=**सबसे । **ए अचरिज=**यह आश्चर्य । **मन मांहि=**मेरे मन में ।

सामान्य अर्थ

मन को क्या कहना ? `ठग अथवा साहूकार' यह तो समस्या आ खड़ी हुई है । इसको ठग भी कैसे कहूँ ? क्योंकि इसे किसी को ठगते हुए भी देखा नहीं जा रहा है, आत्मा को ठगने का काम तो इन्द्रियाँ करती हैं । परन्तु इसे साहूकार भी कैसे कहूँ ? यह अपनी चालाकी से अपना काम कर, दोष इन्द्रियों पर मढ़ देता है । मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि यह सब में व्यापक होने पर भी सबसे अलग अपना अस्तित्व रखे हुए है ।

विवेचन

मन प्रत्यक्ष रूप में किसी भी प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति नहीं करता है । वह अपने इष्ट कार्य की पूर्ति के लिए इन्द्रियों को प्रेरित करता है और अपना कार्य करा लेता है । सामान्यतः चोरी करे, वह चोर कहलाता है । परन्तु मन तो प्रत्यक्ष रूप में अशुभ कर्म करते हुए दिखाई नहीं देता है, इसलिए उसे धूर्त भी कैसे कह सकते हैं ?

परन्तु इस मन को साहूकार भी कैसे कहें ? क्योंकि इन्द्रियों को अशुभ प्रवृत्ति में प्रवर्तन कराने वाला भी तो यही है । चोर को चोरी करने की प्रेरणा देने वाला भी तो चोर ही कहलाता है । इस नियमानुसार वह साहूकार भी कैसे कह सकते है ?

जैनदर्शनानुसार मन मनोवर्गणा के पुद्गल रूप है और अन्य दर्शनानुसार `मन' अणु रूप है, जो सम्पूर्ण देह में सतत भटकता रहता है । पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति में मन प्रेरक होने से तथा शरीर के प्रत्येक भाग का संवेदन मन में होने के कारण मन सम्पूर्ण देह में व्याप्त है और सम्पूर्ण देह में व्यापक होने पर भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण भिन्न भी है । यह सबसे बड़ा आश्चर्य है ।

यह मन इन्द्रियों के माध्यम से अपनी हर इच्छा को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, तब सामान्यतया यही कहा जाता है कि इन्द्रियाँ उन्मार्गगामी

हैं । इस प्रकार मन अपनी दुष्प्रवृत्ति करके भी उसकी सजा से स्वयं मुक्त हो जाता है ।

जे जे कहुं ते कान न धारे, आप मते रहे कालो ।
सुर नर पंडित जन समजावे, समजे न माहरो सालो ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कान न धारे=सुनता ही नहीं है । **आप मते**=स्वच्छन्दता से । **कालो**=मुग्ध, भोला । **सुर**=देव । **नर**=मनुष्य । **पंडित जन**=पंडित । **माहरो**=मेरा । **सालो**=लुच्चा ।

सामान्य अर्थ

आत्म-हितकर जो-जो भी बात मैं इस मन को कहता हूँ, तो वह इसकी ओर ध्यान नहीं देता है और अपनी ही मस्ती में रहता है । देव-मनुष्य और पंडितजन भी इसको समझाने का प्रयत्न करें, तो उनकी बात भी यह नहीं स्वीकारता है ।

विवेचन

मन की हठधर्मिता का कैसा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है । मन की हठ ही न्यारी है । आनन्दघनजी महाराज मन की यह शिकायत प्रभु के आगे प्रस्तुत कर रहे हैं । वे कहते हैं कि इस मन को जब-जब भी मैं आत्महितकर बात सुनाता हूँ, अथवा सद्गुरु के चरणों में जाकर जिन-वाणी का श्रवण प्रारम्भ करता हूँ, तब यह मन न मालूम कहीं-का-कहीं भाग जाता है । न तो यह मेरी आवाज सुनता है और न ही सद्गुरुओं की । इसकी तो मस्ती ही न्यारी है ।

इसके साथ मेरी दोस्ती नहीं जम रही है । आत्मा की अन्तरंग आवाज है—मोक्ष पाने की और इसे पसन्द है संसार के रंग-राग । हे प्रभो ! विकट परिस्थिति में आ फंसा हूँ ! अपनी ही मस्ती में लीन रहनेवाले इस मन को देव-मनुष्य और पंडित भी समझाने का प्रयास करें तो भी यह समझता नहीं है, अर्थात् आत्मा की आवाज को सुनता नहीं है ।

मैं जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले ।
बीजी वाते समरथ छे नर, एह ने कोई न झेले ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मैं जाण्युं=मैंने जाना । **लिंग**=जाति से । **नपुंसक**=नपुंसक । **मरद**=मर्द पुरुष को । **ठेले**=दूर फेंकता है । **बीजी**=दूसरी । **वाते**=बात में । **झेले**=जीत सकता है ।

सामान्य अर्थ

मैंने शब्द-शास्त्र से यह जाना है कि मन नपुंसकलिंगी है, परन्तु आश्चर्य है कि वह तो बड़े-बड़े मर्दों को भी गिरा देता है । अन्य बातों में भले ही मनुष्य समर्थ हो, परंन्तु मन के आगे तो वह भी कायर है ।

विवेचन

क्या आपने व्याकरणशास्त्र पढ़ा है ? उसमें मन किस लिंग में बतलाया है ? आनन्दघनजी इसका उत्तर दे रहे हैं कि मैंने तो जाना है कि शब्द-शास्त्र में मन नपुंसक लिंग में है । सामान्यतः जो सामर्थ्य पुरुष में होता है, वह नपुंसक में कहाँ से हो सकता है ?

परन्तु आनन्दघनजी कहते हैं कि पुरुष अन्य बातों में भले ही समर्थ हो, परन्तु मन (नपुंसक) के आगे तो वह भी हार जाता है । पुरुष युद्ध में सेकड़ों व्यक्तियों को हरा सकता है । दुनिया में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित कर सकता है । परन्तु मन को जीतने के लिए जब वह जाता है तो उसे करारी हार ही खानी पड़ती है ।

मन को वश में रखना तो लोहे के चने चबाने से भी अधिक कठिन काम है । संस्कृत में `मन' शब्द नपुंसक लिंग में है और आत्मा पुल्लिंग में है । मैंने तो सोचा-आत्मा के आगे मन की क्या शक्ति होगी । परन्तु जब मैंने मन की प्रवृत्ति देखी तो मैं दंग रह गया, वह तो शक्तिशाली पुरुष को भी गिरा देता है, उसे भी दुःख के गर्त में डाल देता है ।

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह वात नहि खोटी ।
एम कहे साध्युं ते नवि मानुं, एक हि वात छे मोटी ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

साध्युं=साधा है । **सघलुं**=सम्पूर्ण । **खोटी**=गलत । **नवि**=नहीं । **मानुं**=मानता हूँ । **मोटी**=बड़ी ।

सामान्य अर्थ

सामान्यतः ऐसा सुना जाता है कि जिसने मन को वश में कर लिया है, उसने सबको वश में कर लिया है—यह बात गलत नहीं है । परन्तु कोई व्यक्ति यदि यह कहे कि मैंने मन को वश में कर लिया है, तो मैं इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ ।

विवेचन

दुनिया में यह सुना जाता है कि जिसने मन को जीता है, उसने सबको जीता है । यह बात बिल्कुल सत्य है । मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है । अतः यदि मनुष्य नें मन को अपने वश कर लिया, तो फिर वह आत्मा कर्म का बन्ध नहीं करती है और क्रमशः मोक्ष की ओर आगे बढ़ती है । इस प्रकार मन को साधनेवाले ने सब कुछ साध लिया है, फिर कोई साधना उसके लिए बाकी नहीं रहती है ।

परन्तु दुनिया में यदि कोई कहे कि मैंने मन को साध लिया है तो यह बात यकायक विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि मन को वशीभूत करने की साधना बड़ी कठिन है । कहा भी है—**'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार ।'** जिसने अपने मन को वशीभूत कर लिया है, उसके लिए इन्द्रियों को वश में करना अत्यन्त सरल हो जाता है । मन के विजेता के लिए मोक्ष की साधना कठिन नहीं है, वह आत्मा तो निरन्तर मोक्षमार्ग में आगे बढ़ती जाती है ।

मनडुं दुराराध्य ते वश आण्युं, ते आगमथी मति आणूं ।
आनंदघन प्रभु माहरु आणो, तो सांचूं करी जाणूं ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

दुराराध्य=दुर्वश्य । **आण्युं**=लाया । **आणो**=प्राप्त करावो । **सांचू**=सत्य ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! अत्यन्त कठिनाई से वश में आने वाले मन को आपने वश में कर लिया है, इस बात को मैंने आगम से जाना है। परन्तु हे प्रभो ! यदि आप मेरे मन को वश में ला दो, तो मैं प्रत्यक्ष प्रमाण से इस बात को मान लूंगा।

विवेचन

अपने इष्ट की सिद्धि के लिए आनन्दघनजी महाराज प्रार्थना के रूप में प्रभु से निवेदन कर रहे हैं, हे परमानन्द के स्वामिन् ! मेरे प्रभो ! मैंने आगम से यह जाना है कि आपने दु:साध्य ऐसे मन को वश कर लिया है। जिस मन को कोई वश में न कर सके, उस मन को आपने वश में कर लिया। परन्तु हे प्रभो ! यह बात तो आगम-प्रमाण की है। यदि आप मेरे मन को वश में ला दोगे-तो मैं प्रत्यक्ष प्रमाण से आपकी इस बात को स्वीकार कर लूंगा।

प्रभु ने मन को वश में किया है, यह बात तो सारी दुनिया जानती है, परन्तु आनन्दघनजी कहते है कि हे प्रभो ! मेरे मन को वश में कर दो, तो आपकी बात स्वीकार कर सकता हूँ। अभिप्राय यह है कि इस जगत् में एक मात्र प्रभु ने ही मन को वशीभूत किया है और उन्हीं की भक्ति से अपना मन भी वश में हो सकता है।

अठारहवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

`किसी भी वस्तु का सापेक्ष विचार' नय कहलाता है। नयवाद के ज्ञान से वस्तु का स्वरूप हमें स्पष्टतया विचारगम्य हो जाता है। प्रस्तुत स्तवन में योगिराजश्री ने कुछ नयवाद की बातें कर आत्मतत्त्व का चिन्तन प्रस्तुत किया है।

साधना की दृष्टि नय के दो भेद हैं–निश्चय और व्यवहार। इन दो नयों के परिपूर्ण ज्ञान से मोक्षमार्ग में हमारी प्रवृत्ति अखंडित रह सकती है। निश्चय रहित व्यवहार अर्थसाधक नहीं बनता है–इस सत्य को स्वीकार कर, निश्चय के ज्ञानपूर्वक व्यवहार में प्रवृत्ति होनी चाहिये। एकान्त निश्चय को पकड़ कर व्यवहार की उपेक्षा करना आत्महितकर नहीं है।

व्यवहार की उपेक्षापूर्वक एकान्त निश्चय के प्रतिपादन में तीर्थ का उच्छेद है तथा निश्चय की उपेक्षापूर्वक एकान्त व्यवहार के प्रतिपादन में तत्त्व का विच्छेद है।

अतः मोक्ष और मोक्षमार्ग को अबाधित रखने के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों का जीवन में समन्वय अनिवार्य है। किसी की भी उपेक्षा आत्महितकर नहीं है। प्रस्तुत स्तवन में यही बात समझाई है। अन्त में जाकर प्रभु से यही प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! परम रहस्यभूत आपके धर्म को समझने के लिए आप मुझे अपने चरण-कमलों का दास बना लो।

18 अरनाथ जिन-स्तवन

(राग : परज, ऋषभनो वशं रयणायरुं-ए-देशी)

धरम परम अर नाथ नो, केम जाणूं भगवंत रे ।
स्व-पर-समय समजाविये, महिमावंत महंत रे ।। धरम०.1।।
शुद्धातम अनुभव सदा, स्व-समय एह विलास रे ।
पर-पडिछांयडी जे पडे, ते पर-समय निवास रे ।। धरम०.2।।
तारा नक्षत्र ग्रह चंद्रनी, ज्योति दिनेश मोजार रे ।
दर्शन ज्ञान चरण थकी, शक्ति निजातम धार रे ।। धरम०.3।।
भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंग रे ।
पर्याय दृष्टि न दीजिए, एक ज कनक अभंग रे ।। धरम०.4।।
दर्शन ज्ञान चरण थकी, अलख स्वरूप अनेक रे ।
निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे ।। धरम०.5।।
परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंत रे ।
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंत रे ।। धरम०.6।।
व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवे हाथ रे ।
शुद्ध नय थापना सेवतां, नवि रहे दुविधा साथ रे ।। धरम०.7।।
एक पखी लख प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे ।
कृपा करीने राखजो, चरण-तले ग्रही हाथ रे ।। धरम०.8।।
चक्री धरम तीरथ तणो, तीरथ फल तत सार रे ।
तीरथ सेवे ते लहे, आनंदघन निरधार रे ।। धरम०.9।।

धरम परम अर नाथ नो, केम जाणूं भगवंत रे ।
स्व-पर-समय समजाविये, महिमावंत महंत रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

धरम=धर्म । **परम=**श्रेष्ठ । **स्व पर समय=**स्व-पर शास्त्र । **महिमावंत=**महिमावाले । **महंत=**महापुरुष ।

सामान्य अर्थ

हे महिमावन्त ! हे महान् ज्योतिर्धर ! अरनाथ प्रभो ! आपका यह परम उत्कृष्ट (निश्चय) धर्म मैं (बिना आपकी कृपा के) कैसे समझ सकता हूँ ? स्व समय और पर समय इन दो में विभक्त आपका यह धर्म कृपया मुझे समझाइये !

विवेचन

हे अरनाथ प्रभो ! आपका धर्म परम उत्कृष्ट है । आपका धर्म अर्थात् आत्मा का धर्म । आत्मा का धर्म ज्ञानादि गुणों में लीन रहने का है । स्व स्वभाव में मग्न रहना यह आत्मा का धर्म है । इस धर्म के स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन काम है ।

अतः आनन्दघनजी महाराज प्रभु से प्रार्थना करते हुए पूछते हैं कि प्रभो ! आपका जो महिमावन्त धर्म है, उस धर्म का स्वरूप कृपया मुझे समझाइये । मैं इस धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ हूँ । आप मुझे स्व समय और पर समय दोनों की अपेक्षा से यह धर्म समझावें ।

स्व-समय अर्थात् जैनदर्शन के आगमादि शास्त्र ग्रन्थ । पर समय अर्थात् अन्य दर्शनों के शास्त्र ग्रन्थ । इन दोनों प्रकार के शास्त्रों से हमको धर्म-तत्त्व समझाइये । उभय रूप से समझा हुआ धर्म का स्वरूप सही रूप से समझ में आ सकता है ।

शुद्धातम अनुभव सदा, स्व-समय एह विलास रे ।
पर-पडिछांयडी जे पडे, ते पर-समय निवास रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

शुद्धातम अनुभव=शुद्ध आत्मा की अनुभूति । **सदा=**हमेशा ।

एह=यह । **विलास=**विस्तार । **पर=**दूसरा । **पडिछांयडी=**प्रतिच्छाया । **पर समय=**अन्य शास्त्र । **निवास=**स्थानक ।

सामान्य अर्थ

गत गाथा में किये गए प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जहाँ पवित्र-शुद्ध आत्मा का निरन्तर अनुभव होता है, वह सब स्व समय (मेरा धर्म-आत्मधर्म) है, वहाँ आत्मा विलास करती है तथा आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों का आत्मा पर जो असर पड़ता है, उसे पर-समय (पर स्वरूप का निवास-स्थान) समझना चाहिये ।

विवेचन

भक्त के द्वारा किये गए प्रश्न का उत्तर इस गाथा में दे रहे हैं । प्रभु कहते हैं कि जहाँ आत्मानुभव की बातें हैं, आत्मस्वरूप का चिन्तन है, आत्मा का शुद्ध स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है—वह सब स्व समय है, अर्थात् जिसमें आत्मा के उत्थान और उद्धार की बातें हों, वह सब स्व समय है । जिसमें यदा-कदा आत्मा को याद किया जाता है, बाकी तो देह की शुद्धि-पुष्टि का ही विचार हो, संसार-सुख की ही जहाँ चिन्ता हो वह सब पर समय जानना चाहिये ।

इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है हि आत्मा का स्व स्वभाव में लीन रहना यह स्व समय है । आत्मा का जो ज्ञान दर्शन और चारित्रमय शुद्ध स्वरूप है, उसमें लीन रहना स्व समय है । आत्मा के सिवाय अन्य जड़ पदार्थ—पुद्गल के रंग-राग में मस्त रहना निरन्तर, पौद्गलिक सुख का विचार करना आदि पर समय रूप है ।

आत्मा जब स्वगुणों में लीन रहती है, तो वह स्व-समय के विलास को प्राप्त करती है और जब वह बाह्य और क्षणिक पौद्गलिक पदार्थों के आकर्षण में आकर उनमें मस्त बनती है तब वह पर समय में निवास करती है । इस गाथा में योगिराज श्री आनन्दघनजी म. ने स्व समय का अर्थ आत्मधर्म और पर समय का अर्थ विभाव दशा करके तत्त्व रस का सुन्दर पान कराया है ।

तारा नक्षत्र ग्रह चंद्रनी, ज्योति दिनेश मोजार रे ।
दर्शन ज्ञान चरण थकी, शक्ति निजातम धार रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चंद्रनी=चन्द्रमा की । **ज्योति=**प्रकाश । **दिनेश=**सूर्य । **मोजार=**में । **दर्शन=**सम्यग्दर्शन । **चरण=**चारित्र । **थकी=**से । **धार=**धारण करे ।

सामान्य अर्थ

जिस प्रकार तारा, ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा की ज्योति का सूर्य के प्रकाश में समावेश हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान और चारित्र रूप पर्यायों के माध्यम से एक अपनी आत्मा को ही शक्ति रूप समझो अर्थात् इन भिन्न-भिन्न शक्तियों का आत्मा में ही समावेश हो जाता है ।

विवेचन

रात्रि में आपको आकाश में अनेक तारे, ग्रह-नक्षत्र तथा प्रकाश फेंकता हुआ चन्द्र दिखाई देता है । प्रातः होने पर, सूर्य के उदय होने पर ये कहाँ चले जाते हैं ? उत्तर है– कहीं नहीं । अपने मूल स्थान पर होने पर भी उनका प्रकाश क्यों दिखाई नहीं देता है ? इसका कारण है कि सूर्य के तेज में उन सब का तेज समाहित हो जाता है । सूर्य के प्रकाश में उन सब का प्रकाश मिल जाता है ।

उसी प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि आत्मा की भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं । कभी आत्मा ज्ञानोपयोगी होती है, तो कभी दर्शनोपयोगी । आत्मा की भिन्न-भिन्न अनन्त पर्यायें होने पर भी मूलभूत आत्म द्रव्य तो एक ही होता है । उन सब पर्यायों का समावेश एक आत्म-द्रव्य में हो जाता है ।

आत्मा द्रव्य रूप में एक है, परन्तु उसके पर्याय अनन्त हैं । ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि आत्मा के गुण हैं और ये ही आत्मा की अनन्त शक्ति है । इस शक्ति के फलस्वरूप आत्मा मोह-शत्रुओं को आसानी से परास्त कर सकती है ।

भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंग रे ।
पर्याय दृष्टि न दीजिए, एक ज कनक अभंग रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

भारी=वजनदार । **पीलो=**पीला । **कनक=**स्वर्ण । **अनेक तरंग=**अनेक स्वरूपवाले । **पर्याय दृष्टि=**पर्यायार्थिक नय से । **अभंग=**अखंड ।

सामान्य अर्थ

सुवर्ण द्रव्य वजन में भारी, रंग से पीला और स्वभाव से चिकना होता है। इस प्रकार सुवर्ण के एक से अधिक पर्याय हैं, परन्तु पर्याय दृष्टि को छोड़ दें तो सुवर्ण-अखण्ड सुवर्ण द्रव्य के रूप में एक ही दिखाई देता है।

विवेचन

सुवर्ण द्रव्य को देखा है न ! वह कैसा होता है ? स्तवनकार हमें सुवर्ण के गुण-धर्मों की पहिचान कराकर एक उत्तम तत्त्वज्ञान की भेंट कर रहे हैं। वे कहते हैं कि सुवर्ण अन्य धातुओं से भारी होता है। यदि एक ही आकार के समचौरस दो टुकड़े-एक लोहे का और दूसरा सुवर्ण का लेंगे तो लोहे के टुकड़ें की अपेक्षा सुवर्ण के टुकड़ें का भार अधिक लगेगा। सुवर्ण अन्य धातुओं की अपेक्षा पीला होता है। यह उसका रंग बतलाया है। सुवर्ण स्वभाव से चिकना होता है, अर्थात् अन्य धातुओं की अपेक्षा उसमें कुछ चिकनाहट होती है।

इस प्रकार जब हम सुवर्ण को भारीपन, पीलेपन अथवा चिकनेपन की दृष्टि से देखते हैं, तब यह हमारी पर्याय दृष्टि कहलाती है। हकीकत में इन तीनों अवस्थाओं में सुवर्ण द्रव्य एक ही है और व्यापक है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जब हम सुवर्ण द्रव्य को देखते हैं, तो वह हमें एक स्वरूप दिखाई पड़ता है। इन दो नय-दृष्टियों को बतलाकर इसके महत्त्व को आगे समझाते हैं।

दर्शन ज्ञान चरण थकी, अलख स्वरूप अनेक रे।
निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अलख=अलक्ष्य। **स्वरूप=**आत्म रूप। **निर्विकल्प=**विकल्प रहित। **निरंजन=**मल रहित।

सामान्य अर्थ

इसी प्रकार दर्शन (सामान्य उपयोग) ज्ञान (विशेष उपयोग) और चारित्र की अपेक्षा से आत्मा के भिन्न–भिन्न स्वरूप नजर आते हैं, परन्तु

जब अभेद दृष्टि से आत्मा को देखते हैं तो वह एक शुद्ध और निरंजन स्वरूप में दिखाई देती है ।

विवेचन

अपनी आत्मा कभी वस्तु को सामान्य स्वरूप में देखती है, तो कभी विशेष स्वरूप में । कभी वह दर्शन उपयोग में रहती है, तो कभी ज्ञानोपयोग में, कभी वह दूसरे जीवों की चर्या की ओर नजर करती है । ये सब आत्मा की पर्यायें हैं । सुवर्ण द्रव्य के जिस प्रकार हार-मुकुट-बाजूबन्द आदि अनेक गहने बनते हैं, परन्तु उन सब में सुवर्ण द्रव्य तो एक ही होता है, उसी प्रकार आत्मा भी कर्मसंयोग में आकर कभी एकेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करती है, तो कभी पंचेन्द्रिय अवस्था को । परन्तु उन सब में आत्म-द्रव्य तो एक ही रहता है ।

पर्याय-दृष्टियों को छोड़कर जब हम द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्म स्वरूप-आत्मद्रव्य का विचार करते हैं, तो जगत् में रही हुई समस्त आत्माएँ हमें सिद्ध स्वरूपी लगती हैं । सर्व आत्माओं में हमें सिद्ध स्वरूप दिखाई देता है । विकल्प दशा का त्याग कर जब हम आत्मा के शुद्ध निरंजन स्वरूप का विचार करते हैं, तो हमारी आत्मा परमानन्द के सागर में स्नान करती हुई नजर आती है, हमें परम सुख की अनुभूति होती है ।

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंत रे ।
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंत रे ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

परमारथ-पथ=निश्चय दृष्टि से मोक्षमार्ग । **रंजे=**खुश होना । **व्यवहारे=**व्यवहार नय से । **लख=**लक्ष्य । **तेहना=**उसका ।

सामान्य अर्थ

परमार्थ दृष्टि–निश्चय मार्ग से जो चलते हैं, वे एक तंत्र में खुश हो जाते हैं, परन्तु जो व्यवहार नय की दृष्टि से देखते हैं, उनको तो अनन्त प्रकार दिखाई देते हैं ।

विवेचन

जैनदर्शन में नय के जो सात प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें से प्रथम चार नय व्यवहार नय और शेष तीन निश्चय नय कहलाते हैं। परमार्थ मार्ग का प्रतिपादन करने वाले निश्चय नय का आलम्बन लेते हैं। निश्चय नय ज्ञान-प्रधान है, जब कि व्यवहार नय क्रिया प्रधान है।

निश्चयदृष्टि से आत्मा एक मात्र शुद्धात्मा के चिन्तन में ही मस्त रहना चाहती है, उसे क्रियाकांड आदि निरर्थक लगते हैं। निश्चय नय द्रव्य प्रधान है, वह पर्यायों की उपेक्षा करता है। **ठाणांग सूत्र में 'एगे आया'** आत्मा एक है, ऐसा जो पाठ है, वह निश्चय नय की दृष्टि से ही है, अर्थात् इस जगत् में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब शुद्ध स्वरूप से एक ही हैं अर्थात् सब एक समान ही हैं।

व्यवहार नय पर्यायप्रधान है। वह पर्यायों को सामने रख कर सबके साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार करता है। पर्याय के भेद से वह सब में भेद समझता है। इस प्रकार आत्मा निश्चय नय की दृष्टि से एकस्वरूप होने पर भी व्यवहार नय की दृष्टि से अनेक स्वरूप भी है। नय जब सापेक्ष दृष्टि से बात करता है, तब वह सुनय कहलाता है, परन्तु जब वह अन्य नय की बात का तिरस्कार करता है, तो वह नय नहीं रहता, नयाभास हो जाता है।

व्यवहार और निश्चय दोनों नय अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं, दोनों आत्म-साधना में साधक बन सकते हैं, परन्तु उनके उपयोग की पूर्ण जानकारी होनी चाहिये। उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने कहा है कि–

निश्चय दृष्टि हृदय धरी जी, पाले जे व्यवहार।
पुण्यवंत ते पामशे जी, भव समुद्र नो पार॥

अर्थ :– निश्चय दृष्टि को हृदय में धारण करके जो पुण्यवन्त पुरुष व्यवहार का उचित पालन करेगा, वह अवश्य भव-सागर को पार करेगा। इस प्रकार निश्चय नय की अभेद दृष्टि होने से उसका एक तंत्र है, जबकि व्यवहार नय की भेद दृष्टि होने से वह अनन्त स्वरूप है।

व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवे हाथ रे ।
शुद्ध नय थापना सेवतां, नवि रहे दुविधा साथ रे ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

व्यवहारे=व्यवहार नय से । **लख=**लक्ष्य । **दोहिलो=**दुर्लभ । **थापना=** स्थापना । **नवि रहे=**नहीं रहता है । **दुविधा=**दो-प्रकार का ।

सामान्य अर्थ

व्यवहार नय से लक्ष्य को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, व्यवहार नय से कुछ भी हाथ नहीं लगता है । परन्तु शुद्ध निश्चय नय को हृदय में स्थापित कर यदि आचरण करने में आवे तो उसका द्विधा भाव समाप्त हो जाता है ।

विवेचन

जहाँ निश्चय की उपेक्षा है, वह व्यवहार फलसाधक नहीं बन पाता है । लक्ष्यरहित क्रिया कितनी भी होती रहे, कुछ भी लाभ नहीं होता । यदि लाभ होता भी है, तो नाम मात्र का । दिन भर खून पसीना करें, मजदूरी करें और शाम को रोटी का टुकड़ा भी न मिल पाये तो ऐसे परिश्रम से क्या फायदा ? कोई तिल मूंगफली के छिलकों को घंटों तक यंत्र (घाणी) में पेलता रहे तो भी क्या । उसे तेल की प्राप्ति होती है ? अथवा तो कोई पानी का बिलौना कर मक्खन निकालना चाहे तो क्या उसे मक्खन प्राप्त हो सकता है ?

जहाँ लक्ष्य का ही निर्धारण नहीं है, वह व्यक्ति इष्ट स्थल पर कैसे पहुँच सकता है ? जिसको आत्मा का लक्ष्य ही नहीं है, जो आत्मा के स्वरूप को पहिचानता ही नहीं है, ऐसा व्यक्ति चाहे दिन भर बाह्य धर्मानुष्ठान कर ले, वर्षों तक चारित्र का पालन कर ले, फिर भी वह आत्मा अपने मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकती है ।

निश्चयरहित व्यवहार तो मात्र कायकष्ट है, जिसमें श्रम अधिक और फल बिन्दु मात्र है । परन्तु निश्चयनय, यह लक्ष्य प्रधान है । लक्ष्य की ओर उसका ध्यान केन्द्रित होता है । वह लक्ष्य को छोड़कर अन्य

किसी में प्रवृत्ति नहीं करता है । अतः यदि लक्ष्य को पाना है तो निश्चयनय को हृदय में स्थापित करना ही पड़ेगा ।

निश्चय नय की साधना खड्ग-धारा तुल्य है । हर कोई सामान्य व्यक्ति यह साधना नहीं कर पाता है । अतः अपनी आत्मिक योग्यता को ध्यान में रखकर निश्चय नय को निरन्तर समझने का प्रयत्न करना चाहिये और निश्चय नय को लक्ष्यबिन्दु बनाकर समुचित व्यवहार का पालन करना चाहिये-यही मोक्ष मार्ग है ।

एक पखी लख प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे ।
कृपा करीने राखजो, चरण-तले ग्रही हाथ रे ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

एक पखी=एकपक्षीय । **लख=**लक्ष्य । **प्रीतनी=**प्रीति की । **जग नाथ=**जगत् के नाथ । **चरण तले=**चरण के नीचे । **ग्रही=**पकड़ कर ।

सामान्य अर्थ

जगत् के स्वामी हे अरनाथ प्रभो ! आपके प्रति मेरी प्रीति एकपक्षीय है क्योंकि मैं आपके जैसा नहीं हूँ । अतः हे प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करो । मेरा हाथ पकड़ कर मुझे आपके चरणों मे रखो ।

विवेचन

भक्त परमात्मा के साथ प्रीति करना चाहता है, परन्तु प्रीति तो दो समान व्यक्तियों के बीच ही टिक सकती है । हे प्रभो ! आप तो वीतराग हैं, वीतद्वेष हैं, परन्तु मैं तो रागी हूँ । आपके और मेरे बीच प्रीति कैसे टिक सकती है ? परन्तु हे प्रभो ! निश्चय नय से तो मैं आपके समान ही हूँ । मैं भी शुद्धात्म-द्रव्य हूँ । परन्तु वर्तमान में मेरी स्थिति बड़ी खराब हैं । अतः मुझे अपने समान बनाने के लिए आपके चरण-कमलों का दासत्व प्रदान करो । आपके चरण-कमलों का दास बने रहने से ही मेरा उद्धार संभव है ।

प्रार्थना सूत्र में परमात्मा से `भव-भव में आपके चरण कमल की सेवा मिले' जो प्रार्थना की गई है, वही बात यहाँ प्रस्तुत है । हे प्रभो !

आपके प्रति मेरे हृदय में अपार भक्ति रही हुई है, यह तो एकपक्षीय प्रीति है, फिर भी आपके चरण कमलों की सेवा ही मुझे परम सुख प्रदान कर सकती है, अतः उस सेवा का अवसर मुझे अवश्य प्रदान करो ।

चक्री धरम तीरथ तणो, तीरथ फल तत सार रे ।
तीरथ सेवे ते लहे, आनंदघन निरधार रे ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चक्री=चक्रवर्ती । **धरम तीरथ तणो=**धर्मतीर्थ के । **फल=**परिणाम । **ततसार=**तत्त्वसार । **आनंदघन=**आत्मानन्द । **निरधार=**निर्णय ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आप तो धर्मतीर्थ के बड़े चक्रवर्ती हो । आप ही इस धर्मतीर्थ के तत्त्वरूप सार पदार्थ हैं, जो प्राणी आपके इस तीर्थ की सेवा करता है, वह अवश्य ही आनन्दघन मोक्ष-पद को प्राप्त करता है ।

विवेचन

हे अरनाथ प्रभो ! आप छह खण्ड के चक्रवर्ती थे । इसके साथ ही धर्मतीर्थ के भी चक्रवर्ती थे, इसी कारण **नमुत्थुणं सूत्र** में आपको **'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं'** कहा गया है । परमात्मा ही इस धर्मतीर्थ के स्थापक हैं, अतः इस परम पवित्र तीर्थ की जो सेवा करता है, वह अवश्य ही परमपद स्वरूप मोक्ष-पद को प्राप्त करता है ।

धनी की सेवा करने से धन मिलता है, परन्तु स्वयं धनवान नहीं बन जाता है, परन्तु प्रभु तो परम दानेश्वर हैं, वे तो अपने भक्तों को स्व-पद (तीर्थंकर-पद) देने में भी संकोच नहीं रखते हैं । परमात्मा की सेवा-पूजा-भक्ति आदि का परम्पर या फल मोक्ष है । परमात्मा तथा परमात्मा की सेवा का फल मोक्ष अर्थात् शाश्वत सुख की प्राप्ति है । जो आत्मा धर्म के चक्रवर्ती अरनाथ प्रभु की सेवा करेगा वह आनन्द के समूह रूप मोक्षपद को अवश्य प्राप्त करेगा ।

उन्नीसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

दुनिया में जो-जो भी देव रूप में प्रसिद्ध हैं, क्या वे सब देव हो सकते हैं ? दुनिया में जो स्वर्ण के रूप में प्रसिद्ध है, क्या वह सब सच्चा सुवर्ण होता है ? नहीं । कहा भी है–All that glitters is not gold सभी चमक सोना नहीं होती है । दुनिया में नकल का जोर और प्रचार असल से भी अधिक होता है । अतः वस्तु को ग्रहण करने के पूर्व उसकी परीक्षा करना अनिवार्य हो जाता है । स्तवनकार हमें सुदेव की परीक्षा करा रहे हैं । देव कैसे हों ? अठाहर दोषों से रहित हों ।

इस प्रकार अठारह दोषों से रहित मल्लिनाथ प्रभु की स्तवना कर आनन्दघनजी महाराज प्रभु से आनन्दघन पद की याचना कर रहे हैं । आत्मा जब क्षपक श्रेणी पर आरोहित होती है, तब वह अनादि शत्रुओं का नाश करती जाती है और अन्त में सर्वगुण सम्पन्न बन जाती है । हम भी प्रभु की स्तवना कर आत्मा के शत्रुओं को पहिचानने का प्रयास करें और आत्मगुणों को पाने के लिए प्रयत्नशील बनें ।

19 मल्लिनाथ जिन-स्तवन

(राग : काफी)

सेवक किम अवगणिये हो, मल्लि जिन ! ए अब शोभा सारी !
अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारी हो ।।
।। मल्लि०...1।।

ज्ञान सरूप अनादि तमारूं, ते लीधूं तमे ताणी ।
जुओ अज्ञान दशा रीसावी, जातां काण न आणी हो ।।
।। मल्लि०...2।।

निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरिय अवस्था आवी ।
निद्रा सुपन-दसा रीसाणी, जाणी न नाथ ! मनावी हो ।।
।। मल्लि०...3।।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार शुं गाढी ।
मिथ्या मति अपराधण जाणी, घरथी बाहिर काढी हो ।।
।। मल्लि०...4।।

हास्य अरति रति शोक दुगंछा, भय पामर करसाली ।
नोकषाय श्रेणी-गज चढतां, श्वान तणी गति झाली हो ।।
।। मल्लि०...5।।

राग द्वेष अविरतिनी परिणति, ए चरण-मोहना योधा ।
वीतराग परिणति परिणमतां, उठी नाठा बोधा हो ।।
।। मल्लि०...6।।

वेदोदय कामा-परिणामा, काम्य करम सहु त्यागी ।
निष्कामी करुणा रस-सागर, अनंत चतुष्क पद-पागी हो ।।
।। मल्लि०...7।।

दान विघनवारी सहु जनने, अभयदान पद-दाता ।
लाभ-विघन जग-विघन-निवारक, परम लाभ रस माता हो ।।
।। मल्लि०...8।।
वीर्य विघन पंडित वीर्ये हणी, पूरण-पदवी-योगी ।
भोगोपभोग दोय विघन निवारी, पूरण भोग सुभोगी हो ।।
।। मल्लि०...9।।
ए अढार दूषण वर्जित तनु, मुनि जन वृंदे गाया ।
अविरति रूपक दोष निरूपण, निर्दूषण मन भाया हो ।।
।। मल्लि०...10।।
इण विध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावे ।
दीन बंधुनी महेर-नजर थी, 'आनंदघन' पद पावे हो ।।
।। मल्लि०...11।।

सेवक किम अवगणिये हो, मल्लि जिन ! ए अब शोभा सारी !
अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारी हो ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

किम=क्यों । **अवगणिये**=अवगणना करते हो । **अवर**=दूसरे । **जेहने**=जिसको । **दीये**=देते हैं । **तेहने**=उनको ।

सामान्य अर्थ

हे मल्लिनाथ प्रभो ! आप अपने सेवक की अवगणना क्यों करते हो ? क्या ऐसा करने से आपकी शोभा बढ़ेगी ? अन्य लोग जिसको अत्यन्त आदर-सत्कार देते हैं, उसी का हे प्रभो ! आपने त्याग कर दिया है ।

विवेचन

हे प्रभो ! आपकी सेवा में सतत उपस्थित रहने वाले आपके सेवक की आप उपेक्षा क्यों करते हो ? आप तो इस सेवक की ओर थोड़ा भी ध्यान नहीं देते हो । सेवक की उपेक्षा करना स्वामी के लिए शोभा रूप नहीं है । ऐसा करने से आपकी महत्ता बढ़ने वाली है क्या ? आपकी तो प्रकृति ही विचित्र है । इस दुनिया में अन्य देव तथा मनुष्य आदि जिन्हें अत्यन्त चाहते हैं उन्हीं का आप तिरस्कार कर रहे हैं ।

दुनिया में अनेक देव प्रसिद्ध हैं । कोई रागी है तो कोई द्वेषी है । सच्चे देव तो वे ही हैं जो वीतराग हैं, राग और द्वेष से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं और राग-द्वेष से मुक्त बनने का ही उपदेश देने वाले हैं । मल्लिनाथ प्रभु ने राग-द्वेष रूप आत्मशत्रुओं का सर्वथा नाश किया है । अन्य रागी और द्वेषी देव तो राग और द्वेष को आदर देने वाले हैं । परन्तु मल्लिनाथ प्रभु ने तो उनका सर्वथा तिरस्कार ही किया है ।

ज्ञान सरूप अनादि तमारूं, ते लीधूं तमे ताणी ।
जुओ अज्ञान दशा रीसावी, जातां काण न आणी हो ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

तमारूं=आपका । **ते**=वह । **तणी**=खींचकर । **जुओ**=देखो । **रीसावी**=गुस्से हुई है । **आणी**=लाई ।

सामान्य अर्थ

अनादि काल से आत्मा का जो ज्ञान-स्वरूप दबा हुआ था, उसे आपने प्रयत्न करके प्राप्त कर लिया है। ऐसा करने से वह अज्ञान दशा आपके ऊपर कुपित होकर कहीं चली गई। उसे जाते देखकर भी आपने मर्यादा का विचार नहीं किया।

विवेचन

क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर आपने ज्यों ही मोहनीय आदि घातीकर्मों के क्षय का प्रारम्भ किया, त्योंही अनादिकाल से संगिनी बनी `अज्ञान दशा' भय से कांपने लगी और जब आपने ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर अनादिकाल से आच्छादित आत्माके `अनन्त ज्ञान' गुण को प्रगट कर लिया तो वह अज्ञान दशा गुस्से में आकर आपको छोड़कर चली गई।

अनादिकाल से जो अज्ञान दशा आपके साथ रही थी, किसी भी समय उसने आपका त्याग नहीं किया था। पतिव्रता स्त्री की भाँति वह हर समय आपको चाह रही थी, परन्तु हे प्रभो ! आप तो विचित्र प्रकृति के हैं, रीस में आकर उसके चले जाने पर भी आपको कुछ दया नहीं आई।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से आत्मा में जब अनन्त ज्ञान गुण प्रगट हो जाता है, तब आत्मा में रहा `अज्ञान' दोष नष्ट हो जाता है। प्रभु अठारह दोषों से रहित हैं। इस प्रकार इस गाथा मैं प्रभु को अज्ञान दोष से रहित बतलाया है।

निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरिय अवस्था आवी।
निद्रा सुपन-दसा रीसाणी, जाणी न नाथ ! मनावी हो ॥3॥

कठिन शब्दों के अर्थ

सुपन=स्वप्न। **जागर**=जागृत। **तुरियावस्था**=चौथी अवस्था। **रीसाणी**=गुस्से हुई। **जाणी**=जानकारी भी।

सामान्य अर्थ

निद्रा, स्वप्न, जागृति और उजागरता आत्मा की इन चार

अवस्थाओं में से उजागरता नाम की चौथी अवस्था को प्राप्त कर आपने तीन अवस्थाओं का त्याग कर दिया है। इसलिए निद्रा और सुपन दशाएँ आपसे क्रोधित हो गई तो भी आपने उनको प्रसन्न करने की चेष्टा नहीं की।

विवेचन

मनुष्य सदैव निद्रा, स्वप्न, जागृति अथवा उजागर इन चार अवस्थाओं में से किसी-न-किसी एक अवस्था में रहता है। दर्शनावरणीय कर्म का उदय होने पर व्यक्ति सो जाता है, इस कर्म के उदय से जीव पाँच प्रकार की निद्राओं में से किसी-न-किसी प्रकार की निद्रा को प्राप्त करता है। निद्रावस्था में व्यक्ति स्वप्न भी देखता है। इन दोनों अवस्थाओं में व्यक्ति को स्व-भान नहींवत् रहता है। जागते हुए मनुष्य की जागृत अवस्था है। जागृत होने पर भी कई बार उपयोग के अभाव में वस्तु नजर के समक्ष होने पर भी नहीं दिखती है।

जब आत्मा दर्शनावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर देती है, तब उजागर अवस्था प्राप्त करती है, फिर आत्मा सदैव सदैव उपयोगमय-ज्ञानोपयोगमय रहती है। मल्लिनाथ प्रभु ने दर्शनावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर निद्रा, स्वप्न तथा उपलक्षण से जागृत अवस्था का सम्पूर्ण त्याग कर दिया है। ये अवस्थाएँ नाराज होकर प्रभु से दूर चली गई हैं।

निद्रा आदि तीन के साथ अनादि का संग होने पर भी प्रभु ने उनको खुश करने का प्रयत्न नहीं किया। इस तरह इस गाथा में प्रभु के `निद्रा' दोष के त्याग का वर्णन किया गया है।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवारशुं गाढी।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घरथी बाहिर काढी हो ॥4॥

कठिन शब्दों के अर्थ

गाथा 4 :– कीधी=किया। **गाढी**=मजबूत। **अपराधण**=अपराधिनी।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आपने समकित और उसके परिवार के साथ गाढ़ प्रीति कर ली और मिथ्यामति को अपराधिनी मानकर आत्मगृह से बाहर निकाल दी है।

विवेचन

`अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि करना'–मिथ्यात्व है, मिथ्या मति है । शास्त्रों में मिथ्यात्व के पाँच प्रकार बतलाये हैं–आभिग्रहिक, अनाभिग्राहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक । ये पाँचों मिथ्यात्व भिन्न 2 जीवों में पाये जाते हैं । जब आत्मा में समकित गुण का प्रकटीकरण होता है, तब यह मिथ्यात्व दूर भाग जाता है ।

अपने बलवान मित्र का सहयोग मिलने पर शत्रु कैसे टिक सकते हैं ? समकित अपना बलवान मित्र है, उसके आने पर मिथ्यात्व-शत्रु टिक नहीं पाता है । मल्लिनाथ प्रभु ने दर्शन मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर आत्मा के क्षायिक सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त किया है । इस गुण की प्राप्ति होने के साथ ही अपनी अपराधिनी मिथ्यामति को प्रभु ने अपने घर से बाहर निकाल दी है ।

इस प्रकार इस गाथा में प्रभु के मिथ्यात्व दोष के नाश और समकित गुण के प्रकटीकरण का वर्णन किया है । शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य यह समकित का परिवार है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही शम-संवेग से ही प्रीति बढ़ती है और मिथ्यात्व के हेतुभूत दुर्गुणों को दूर किया जाता है ।

हास्य अरति रति शोक दुगंछा, भय पामर करसाली ।
नोकषाय श्रेणी-गज चढतां, श्वान तणी गति झाली हो ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

दुगंछा=घृणा । **करसाली=**कृश कर दी । **श्वानतणी=**कुत्ते जैसी गति । **झाली=**पकड़ ली ।

सामान्य अर्थ

हे मल्लिनाथ प्रभो ! जब आप क्षपक श्रेणी रूप हाथी पर आरूढ़ हुए, तब हास्य-अरति-रति, शोक-भय-दुगंछा आदि शत्रुओं ने कुत्ते की चाल पकड़ ली ।

विवेचन

हास्य आदि आत्मा के दोष हैं । इस गाथा में नोकषायों में से छह का वर्णन किया है । हास्य अर्थात् किसी की मजाक करना । यह दोष रूप है । हास्य में कई बार झूठ बोले जाने की सम्भावना रहती है । अरति अर्थात् प्रतिकूल प्रसंगों को देखकर नाराज होना ! अरति यह भी आत्मा का अन्तरङ्ग शत्रु है ।

रति अर्थात् अनुकूल संयोगों को प्राप्त कर खुश होना । भय अर्थात् हृदय में डर रखना । संसारी जीव को सात प्रकार के भय सतत सताते रहते हैं । शोक अर्थात् इष्ट वस्तु के वियोग में दुःख अभिव्यक्त करना । दुगंछा अर्थात् घृणा । किसी की अयोग्य परिस्थिति को देखकर घृणा-तिरस्कार करना ।

प्रभु जब क्षपक श्रेणी रूपी हाथी पर आरूढ़ हुए तो ये सब दोष कुत्ते के रूप में हो गये । हाथी अपनी मस्ती में चलता है और कुत्ते भोंकते रहते हैं । हाथी का कुछ नहीं बिगड़ता है । प्रभु भी क्षपक श्रेणी पर चढ़े तो ये शत्रु दूर रहकर भोंकने लगे, समीप में आने की उनकी हिम्मत ही नहीं रही । इस प्रकार इस गाथा में प्रभु के छह दोषों के त्याग का वर्णन किया गया है ।

राग द्वेष अविरतिनी परिणति, ए चरण-मोहना योधा ।
वीतराग परिणति परिणमतां, उठी नाठा बोधा हो ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चरणमोहना=चारित्र मोहनीय के । **नाठा=**भाग गये । **बोधा=**सावधान बने ।

सामान्य अर्थ

राग-द्वेष और अविरति ये चारित्रमोह राजा के बलवान सैनिक हैं । परन्तु प्रभु ने जब वीतराग अवस्था प्राप्त की, तब ये शत्रु बलहीन होकर भाग खड़े हुए ।

विवेचन

युद्ध में कमजोर सैनिक अपना प्रदर्शन कब तक जारी रखते हैं ? जब तक बलवान सैनिक सामने न आ जाय तब तक। बलवान शत्रु को देखकर कायर सैनिक युद्ध से भाग जाते हैं। राग-द्वेष और अविरति ये मोह राजा के प्रचण्ड सैनिक हैं। राग अर्थात् आसक्ति, स्नेह, मूर्च्छा। द्वेष अर्थात् तिरस्कार। अविरति अर्थात् पाप-त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव।

ये तीन शत्रु आत्मा पर घातक हमला कर आत्मधन को लूटते हैं। परन्तु जब आत्मा वीतराग अवस्था को प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके ये शत्रु कायर की भाँति युद्धभूमि को छोड़कर दूर-सुदूर चल जाते हैं। वीतराग अवस्था के सामने मोह राजा के प्रचण्ड सैनिक भी बलहीन-शक्तिहीन बन जाते हैं। इस प्रकार इस गाथा में प्रभु के तीन दोषों के त्याग का वर्णन किया गया है।

वेदोदय कामा-परिणामा, काम्य करम सहु त्यागी ।
निष्कामी करुणा रस-सागर, अनंत चतुष्क पद-पागी हो ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वेदोदय=वेद का उदय। **कामा परिणामा=**काम की इच्छा। **निष्कामी=**कामना रहित। **अनंत चतुष्क=**अनंत ज्ञान आदि चार। **पद-पागी=**पैर में आकार गिरे।

सामान्य अर्थ

वेद का उदय काम-परिणाम कहलाता है। उस काम-परिणाम से उत्पन्न होने वाली समस्त प्रवृत्तियों का त्याग कर निष्काम बने हुए करुणा रस के सागर प्रभु अनन्त चतुष्क प्राप्त करते हैं।

विवेचन

पुरुष को स्त्री के सम्भोग की इच्छा पुरुषवेद कहलाता है। स्त्री को पुरुष के संभोग की इच्छा स्त्रीवेद कहलाता है तथा नपुंसक को स्त्री-पुरुष दोनों के सम्भोग की इच्छा नपुंसकवेद कहलाता है। परमात्मा

मोहनीय कर्म के अन्तर्गत आने वाले इन तीन वेदों का सम्पूर्ण क्षय करते हैं, और निष्काम कामवासनारहित बन जाते हैं ।

सर्व वासनाओं से रहित बने प्रभु में करुणा का सागर उमड़ पड़ता है । इसके साथ ही प्रभु अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्क के स्वामी बन जाते हैं । चार घाती कर्मों के नाश से चे चार गुण प्रभु में प्रगट होते हैं ।

दान विघनवारी सहु जनने, अभयदान पद-दाता ।
लाभ-विघन जग-विघन-निवारक, परम लाभ रस माता हो।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

विघन=अन्तराय । **वारी=**दूर करके । **लाभ विघन=**लाभांतराय । **जग विघन=**जगत् में विघ्न समान । **निवारक=**दूर करने वाले । **परम लाभ रस माता=**आत्म गुणों में मस्त ।

सामान्य अर्थ

दानान्तराय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर प्रभु जगत् के सर्व जीवों को अभयदान देने वाले बनते हैं । लाभ में विघ्न करने वाले लाभान्तराय कर्म का भी निवारण कर हे प्रभो ! आप परम लाभ रूप मोक्ष के लाभ में मस्त बने हो ।

विवेचन

दानान्तराय और लाभान्तराय ये अन्तराय कर्म के उदय से पैदा होने वाले दो दोष हैं । दानान्तराय कर्म के उदय से दान देने की उत्कृष्ट इच्छा होने पर भी व्यक्ति दान नहीं दे सकता है और लाभान्तराय कर्म के उदय से अनेक प्रयत्न करने के बाद भी व्यक्ति लाभ प्राप्त नहीं कर सकता है ।

प्रभु ने तो अन्तराय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर दिया, इसलिए ये दो अन्तराय भी हट गये । दानान्तराय का क्षय कर प्रभु ने जगत् के सर्व जीवों को अभय प्रदान किया और लाभान्तराय कर्म का क्षय कर प्रभु ने परम लाभ रूप मोक्ष पद को प्राप्त किया । इस प्रकार इस गाथा में प्रभु को दो दोषों से रहित बताया गया है ।

वीर्य विघन पंडित वीर्ये हणी, पूरण-पदवी-योगी ।
भोगोपभोग दोय विघन निवारी, पूरण भोग सुभोगी हो ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वीर्य विघन=वीर्यान्तराय कर्म । **पंडित वीर्य=**उत्तम वीर्य द्वारा । **हणी=**नाश करके । **पूरण पदवी योगी=**पूर्ण बल से प्राप्त मोक्ष से जुड़े । **भोगोपभोग=**भोग और उपभोग । **सुभोगी=**पूर्ण भोग वाले ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! पंडित वीर्य के बल से आप वीर्यांतराय कर्म का क्षय कर पूर्ण पद के साथ जुड़ गये और भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मों का क्षय कर पूर्ण भोगों के भोक्ता बन गये ।

विवेचन

मल्लिनाथ प्रभु ने अन्तराय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर, उसके भेद स्वरूप वीर्यान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का भी सर्वथा क्षय कर दिया । वीर्य (यह) आत्मा की एक शक्ति है जिसके बल से उसमें सामर्थ्य प्रकट होता है ।

जिस वस्तु का एक ही बार उपयोग किया जा सकता है, जैसे–भोजन, पानी, फूल आदि ये भोग कहलाते हैं । तथा जिस वस्तु का उपयोग बार-बार किया जा सकता है, वह उपभोग कहलाती है जैसे-स्त्री, मकान, वस्त्र तथा अलकार आदि ।

भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म के उदय के कारण अनुकूल सामग्री होने पर भी व्यक्ति उन वस्तुओं का भोग-उपभोग नहीं कर सकता है ।

इस प्रकार इस गाथा में प्रभु को तीन दोषों से रहित बतलाया गया है ।

ए अढार दूषण वर्जित तनु, मुनि जन वृंदे गाया ।
अविरति रूपक दोष निरूपण, निर्दूषण मन भाया हो ।।10।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ए=ये । **अढार दूषण=**अठारह दोष । **तनु=**शरीर । **निर्दूषण=**दोष रहित । **मन भाया=**मन में पसंद पड़े हो ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार उपर्युक्त अठारह दोषों का त्याग कर हे प्रभो ! आपने अपने शरीर को भी निर्दोष बना दिया है । मुनिजनों के द्वारा आपके इन गुणों का गान किया गया है । अविरति आदि दोषों का रूपक से वर्णन किया गया है । निर्दूषण-सम्पूर्ण दोष रहितता के कारण आप मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

विवेचन

स्तवनकार ने प्रारम्भ से लेकर 9 गाथा तक प्रभु के 18 गुणों की स्तवना व्यतिरेक दृष्टि से की है । गुणों की स्तवना दो प्रकार से हो सकती है । (1) अन्वय दृष्टि से और (2) व्यतिरेक दृष्टि से ।

अन्वय दृष्टि से जैसे-प्रभु ज्ञानी हैं, प्रभु अनन्त शक्तिवान हैं, आदि आदि । व्यतिरेक दृष्टि से, जैसे-प्रभु रागी नहीं हैं, प्रभु द्वेषी नहीं हैं, प्रभु कामी नहीं हैं, आदि आदि ।

इस प्रकार अठारह दोषों से रहित प्रभु के गुणों का वर्णन अनेक मुनिजनों ने किया है । हे प्रभो ! आपका देह अठारह दोषों से रहित है, आप मुझे अत्यन्त प्रिय बन पड़े हैं ।

इणविध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावे ।
दीन बंधुनी महेर-नजर थी, 'आनंदघन' पद पावे हो ।।11।।

कठिन शब्दों के अर्थ

इणविध=इस प्रकार । **परखी=**परीक्षा करके । **विसरामी=**विश्रामभूत । **जे=**जो । **दीनबंधुनी=**दीनानाथ प्रभु । **आनन्दघन=**आनन्द के समूह रूप ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार जो मन में परीक्षा करके प्रभु का गुण गान करता है, उस पर प्रभु की कृपा होती है । आपके गुणगान से आपकी कृपा प्राप्त होने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है ।

विवेचन

दुनिया में देव-गुरु धर्म के रूप में अनेक प्रसिद्ध हैं । परन्तु जैन

दर्शन हमें देव-गुरु और धर्म की परीक्षा करके, स्वीकार करने की प्रेरणा करता है ।

देव वही है जो अठारह दोषों से रहित है । इस स्तवन में प्रभु के 18 दोषों का निरूपण कर प्रभु को उनसे रहित बतलाया है । जो इन दोषों से व्याप्त है, वह देव कैसे कहला सकता है ?

इस प्रकार देव की परीक्षा करके जो सुदेव हैं—वीतरागी हैं-गुणसम्पन्न हैं, उनकी जो स्तुति करता है वह अवश्य ही आनन्द के समूह रूप मोक्षपद प्राप्त करता है ।

गुणकीर्तन (यह) गुणप्राप्ति का अमोघ उपाय है । गुणदृष्टि से गुण का विकास होता है और दोष दृष्टि से दोष का विकास । यदि आप आत्मगुणों का विकास करना चाहते हों तो आपको गुणों के धाम स्वरूप मल्लिनाथ प्रभु की गुणस्तवना अवश्य करनी चाहिये । इनकी स्तवना से आत्मा आनन्द के समूह रूप शाश्वत मोक्षपद को प्राप्त करती है ।

बीसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

अगोचर आत्मतत्त्व को इन्द्रियों से जानना अत्यन्त कठिन काम है। आत्मतत्त्व सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मतों का प्रचलन इस विश्व में देखा जा रहा है।

जो वीतराग है—वही आत्मा के सत् स्वरूप को साक्षात् देख और जान सकता है, अन्य तो मात्र कल्पना का आधार लेकर ही अपनी-अपनी बातें हाँक रहे हैं।

सर्वज्ञता के अभाव के कारण अन्य सभी दर्शनकारों की मान्यताएँ अधूरी हैं। उनकी बात एक अपेक्षा से सत्य होने पर भी एकान्त आग्रह के कारण असत्य सिद्ध हो जाती है।

जैनदर्शन एक सागर की भाँति है, जिसमें भिन्न-भिन्न दर्शन रूप नदियाँ आकर समाविष्ट हो जाती हैं। जैनदर्शन सब दर्शनों में व्यापक हैं। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी दर्शन भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन करते हैं।

आत्मतत्त्व की सच्ची पहिचान तो सर्वज्ञ—सर्वदर्शी तीर्थंकर परमात्मा ही करा सकते हैं।

चारों ओर भटके, परन्तु कहीं से भी योग्य समाधान नहीं हो पाया, अन्त में आये प्रभु के पास।

प्रभु ने अत्यन्त सरल भाषा में आत्मा के स्वरूप को समझा दिया। क्या आत्मतत्त्व को जानने की आपकी जिज्ञासा है ? तो...तो...इस स्तवन की प्रत्येक कड़ी के रहस्यार्थ को समझने का प्रयत्न करना ही पड़ेगा।

20 श्री मुनिसुव्रत जिन-स्तवन

(राग : काफी, आघा आम पधारो पूज्य, ए देशी)

श्री मुनिसुव्रत जिनराय ! एक मुज विनति निसुणो ।।श्री मुनि०।।
आतम-तत्व क्यूं जाणुं जगद्गुरु ! एह विचार मुज कहियो ।
आतम-तत्व जाण्या विण निरमल, चित्त समाधि नवि लहियो ।।
।। श्री मुनि०...1।।

कोइ अबंध आतम तत्व माने, किरिया करतो दीसे ।
किरिया तणुं फल कहो कुण भोगवे ? एम पूछ्युं चित रीसे ।।
।। श्री मुनि०...2।।

जड चेतन ए आतम एक ज, स्थावर जंगम सरखो ।
सुख दुःख संकर दूषण आवे, चित्त विचार जो परिखो ।।
।। श्री मुनि०...3।।

एक कहे नित्य ज आतम तत्त, आतम दरिसण लीनो ।
कृत विनाश अकृतागम दूषण, नवि देखे मति हीणो ।।
।। श्री मुनि०...4।।

सौगतमत-रागी कहे वादी, क्षणिक ए आतम जाणो ।
बंध मोक्ष सुख दुःख नवि घटे, एह विचार मन आणो ।।
।। श्री मुनि०...5।।

भूत चतुष्क वर्जित आतम तत्त, सत्ता अलगी न घटे ।
अंध शकट जो नजरे न देखे, तो शुं कीजे शकटे ।।
।। श्री मुनि०...6।।

एम अनेक वादि मत विभ्रम, संकट पडियो न लहे ।
चित्त समाधि ते माटे पूछुं, तुम विण तत्त कोइ न कहे ।।
।। श्री मुनि०...7।।

वलंतु जग गुरु एणी परे भाखे, पक्षपात सब छंडी ।
राग-द्वेष-मोह पख वर्जित, आतम शुं रढ मंडी ।।
।। श्री मुनि०...8।।

आतम-ध्यान करे जे कोउ, सो फिर इण में नावे ।
वाग्-जाल बीजुं सहु जाणे, एह तत्त्व चित्त लावे ।।
।। श्री मुनि०...9।।

जेणे विवेक धरी, ए पख ग्रहियो, ते ततज्ञानी कहिये ।
श्री मुनिसुव्रत कृपा करो, तो, आनन्दघन पद लहिये ।।
।। श्री मुनि०...10।।

श्री मुनिसुव्रत जिनराय ! एक मुज विनति निसुणो ।। श्री मुनि०।।
आतम-तत्व क्यूं जाणुं जगद्गुरु ! एह विचार मुज कहियो ।
आतम-तत्त्व जाण्या विण निरमल, चित्त समाधि नवि लहियो ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मुनिसुव्रत=बीसवें तीर्थंकर मुनिसुवत स्वामी । **जिनराज=** जिनेश्वर । **मुज=**मेरी । **विनति=**प्रार्थना, अर्ज । **निसुणो=**सुनो । **आतम तत्त्व=**आत्म तत्त्व । **क्यूं=**कैसे । **जाणुं=**जाना जाय । **एह=**इस संबन्धी । **कहियो=**कहो । **जाण्या विण=**जाने बिना । **निरमल=**मल रहित । **नवि=**नहीं । **लहियो=**प्राप्त होती है ।

सामान्य अर्थ

हे जिनेश्वरदेव मुनिसुव्रतनाथ ! कृपा कर आप इस सेवक की विनती की ओर ध्यान दो । हे जगद्गुरो ! मुझे आप यह बतलाओ कि आत्म-तत्त्व को कैसे जाना जाय ? आत्मतत्त्व को जाने बिना चित्त में निर्मल समाधि की प्राप्ति भी कैसे हो सकती है ?

विवेचन

हे प्रभो ! मैंने आगम से यह जाना है कि **''जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ''** जो आत्म-तत्त्व को पूर्ण रूप से जानता है, वह सम्पूर्ण लोक को जान लेता है ।

अन्यत्र भी कहा गया है कि जिसने स्व (आत्मा) को जान लिया है, उसने सम्पूर्ण विश्व को जान लिया है । आत्मा को जाने बिना विश्व का ज्ञान भी बेकार है । हे मुनिसुव्रत स्वामी ! घाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त कर आपने अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान लिया है । अतः हे प्रभो ! आत्मा का वह स्वरूप मुझे समझाइये । आत्मा कैसी है ? उसका स्वरूप क्या है ? आदि-आदि मैं जानना चाहता हूँ ।

आत्म तत्त्व को पहिचाने बिना चित्त में निर्मल समाधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? मुझे चित्त समाधि चाहिये । अतः हे नाथ ! कृपा कर मुझे आत्म-स्वरूप समझाइये ।

इस दुनिया में आत्मतत्त्व की पहिचान के लिए भटकता हूँ, तो मुझे

अलग मत-मान्यताएँ ही प्राप्त होती हैं । आत्मा के शुद्ध स्वरूप को तो मैं जान ही नहीं पाता हूँ, क्योंकि उन सब के द्वारा बताया गया आत्म-स्वरूप सत्य नहीं है ।

हे प्रभो ! मुझे तो आप पर विश्वास है । कृपा करो, नाथ ! मुझे आत्म-स्वरूप बतला दो ।

आत्मतत्त्व की पहिचान बिना चित्त-समाधि सम्भव ही नहीं है । आत्म स्वरूप को जानकर जब आत्मा अपने स्वरूप के चिन्तन-मनन में स्थिर बनती है, तभी चित्त की समाधि, स्थिरता सम्भव है ।

हे प्रभो ! आप मुझे आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहचान कराओ । सर्वज्ञ–सर्वदर्शी होने से आप ही आत्म-स्वरूप के ज्ञाता हो ।

कोइ अबंध आतम तत्त्व माने, किरिया करतो दीसे ।
किरिया तणुं फल कहो कुण भोगवे ? एम पूछ्युं चित रीसे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कोइ=कोई । **अबंध=**बंध रहित । **आतम तत्त=**आत्मतत्त्व । **किरया करतो=**क्रिया करते हुए । **दीसे=**देखे जाते हैं । **किरिया तणुं=**क्रिया सम्बन्धी । **कुण=**कौन । **एम=**यह । **पूछ्युं=**पूछने पर । **रीसे=**गुस्सा होते हैं ।

सामान्य अर्थ

इस विश्व में कुछ विचारक आत्मा को कर्मबंधरहित निर्लेप मानते हैं । फिर भी वे लोग तप-जप आदि धर्मानुष्ठान करते हुए देखे जाते हैं, तो जब उनको यह प्रश्न किया जाता है कि आत्मा तो निर्लेप है, फिर इस क्रियाकांड के फल को कौन भोगेगा ? तो ऐसे प्रश्न को सुनकर वे भौंचक्के बने कुछ भी उत्तर नहीं दे पाते हैं और हम पर गुस्सा करते हैं ।

विवेचन

विगुणो न बध्यते, न मुच्यते इस एकान्त वेद-वाक्य को पकड़ कर एक दर्शनकार आत्मा को विगुणी मानता है । उसके मत के अनुसार आत्मा कभी कर्म का बंध नहीं करती है । वे आत्मा को विगुण याने निर्लेप मानते हैं, बंध रहित मानते हैं ।

ऐसी मान्यता के धारण करने पर भी वे लोग गंगा-स्नान, तप-जप आदि अनुष्ठान करते देखे जाते हैं । उनकी यह प्रवृत्ति देखकर मन में विसंवाद पैदा होता है कि ये लोग आत्मा को निर्लेप मानते हुए भी क्रिया-अनुष्ठान क्यों करते हैं ? आत्मा पर यदि कर्म का असर ही नहीं होता है, तो फिर इस क्रिया के फल को कौन प्राप्त करेगा ? यह सन्देह हमारे मन में घुटता है ।

जब हम इस सन्देह के निराकरण के लिए उन्हीं को पूछ बैठते हैं, तो उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण वे हम पर व्यर्थ ही गुस्सा करते हैं और नाराज हो जाते हैं ।

जड चेतन ए आतम एक ज, स्थावर जंगम सरखो ।
सुख दुःख संकर दूषण आवे, चित्त विचार जो परिखो ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

एकज=एक ही । **स्थावर=**स्थिर पदार्थ । **जंगम=**चल पदार्थ । **सरखो=**समान । **संकर दूषण=**साँकर्य दोष । **परिखो=**परीक्षा करके देखो ।

सामान्य अर्थ

कुछ दर्शनकार जड़ और चेतन को एक रूप मानते हैं अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ब्रह्म रूप (आत्मरूप) ही मानते हैं । परन्तु ऐसा मानने पर तो जीव को होने वाली सुख–दुःख की अनुभूति में साँकर्य दोष पैदा हो जाता है । चित्त में विचार कर आत्मतत्त्व की परीक्षा करनी चाहिये ।

विवेचन

शास्त्रों में कही गई पंक्तियों के एकान्त अर्थ को पकड़ने से अनेक दर्शनों की उत्पत्ति हुई है । जैसे एक पंक्ति है–

जले विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके ।
तथा एकः सर्वगतो नित्यः।

इन दो पंक्तियों के रहस्य को नहीं समझने के कारण एक नवीन दर्शन की उत्पत्ति हुई है ।

केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर आत्मा को लोकालोकव्यापी ज्ञान हो जाने के कारण अपने ज्ञान गुण की अपेक्षा से आत्मा लोकव्यापी हो सकती है। परन्तु इस रहस्यार्थ को नहीं समझने के कारण सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ब्रह्म रूप (आत्मा रूप) मान लिया गया है। इस मान्यतानुसार जगत् को एक रूप ही माना गया है। जीव और अजीव अथवा चेतन और जड़ ऐसे दो रूपों को यह मत अस्वीकार करता है। परन्तु इस मान्यता में सांकर्य दोष उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जड़ और चेतन हमें भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। चेतन (यह) ज्ञान-स्वरूप है, उसे सुख-दुःख का संवेदन होता है। परन्तु जड़ का स्वरूप चेतन से भिन्न है। वह सुख-दुःख के संवेदन से रहित और ज्ञान रहित है।

सम्पूर्ण जगत् को एक स्वरूप मानने में तो सम्पूर्ण विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को एक समान संवेदन होना चाहिये। परन्तु हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जड़ और चेतन में भिन्नता दिखाई देती है।

द्रव्यत्व-सत्त्व आदि सामान्यधर्म के विचार से संग्रह नय की अपेक्षा से जड़ और चेतन एक स्वरूप होने पर भी व्यवहार नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं।

अतः सम्पूर्ण विश्व को एक स्वरूप मानने में जो सांकर्य दोष पैदा होता है, उसका विचार कर आत्म तत्त्व को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

एक कहे नित्य ज आतम तत्त, आतम दरिसण लीनो।
कृत विनाश अकृतागम दूषण, नवि देखे मति हीणो॥

कठिन शब्दों के अर्थ

कहे=कहता है। **नित्यज=**नित्य ही। **दरसण=**लीनो दर्शन में लीन। **कृत विनाश=**किये हुए का नाश। **अकृतागम=**नहीं किये हुए का आना। **नवि देखे=**नहीं देखते हैं। **मति हीणो=**मंद बुद्धि वाले।

सामान्य अर्थ

एक दर्शनकार (वेदान्तवादी) आत्मा को एकान्त नित्य रूप में ही

स्वीकार करता है, परन्तु इस प्रकार आत्मा को एकान्त नित्य मानने से `कृत-विनाश' और `अकृत आगम' नामक दो दोष आते हैं । परन्तु मतिहीन वे इस बात को कैसे जान सकते हैं ?

विवेचन

एकान्तवादी वेदान्ती कहते हैं कि इस जगत् में आत्मा नित्य है । वे आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य मानते हैं । परन्तु इस प्रकार आत्मा को एकान्त नित्य मानने से कार्य–कारण भाव की व्यवस्था टिक नहीं सकती है ।

दुनिया में एक जीवात्मा में भी अनेक कार्य-कारण भाव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । आत्मा को सुख और दुःख का संवेदन होता है । उस सुख और दुःख में कारण पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्म मानने ही पड़ते हैं । परन्तु आत्मा को एकान्त नित्य-एक स्वरूपी मानने पर तो उसे सुख दुःख का संवेदन कैसे सम्भव है ? और वह संवेदन होता भी है तो किस कारण से ?

आत्मा के एकान्त नित्य होने पर उसके भिन्न-भिन्न कर्म भी कैसे सम्भव हैं ? दुनिया में जो सुख-दुःख की भिन्नताएँ देखी जाती हैं, उनका कारण क्या ?

यदि आत्मा नित्य होने पर भी किसी कर्मफल को भोगती है, तो प्रश्न उठता है कि नित्य होने पर आत्मा ने वह कर्म कैसे किया ?

आत्मा को एकान्त नित्य मानने से कृतनाश और अकृतआगम नाम के दो दोष पैदा होते हैं । इन दोषों का निराकरण करने के लिए उनके पास कोई उत्तर नहीं है ।

जैनदर्शन भी निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा को नित्य मानता हो है, परन्तु साथ ही व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा को अनित्य भी स्वीकारता है । एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मान्यता दोषपूर्ण है ।

सौगतमत-रागी कहे वादी, क्षणिक ए आतम जाणो ।
बंधमोक्ष सुखदुःख नवि घटे, एह विचार मन आणो ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सौगत मत=बौद्धों का मत । **क्षणिक=**प्रति क्षण नाश वाला । **नवि घटे=**नहीं घटता है । **आणो=**लाना चाहिये ।

सामान्य अर्थ

बौद्धमत का रागी कोई वादी कहता है कि आत्मा को क्षणिक ही मानो। परन्तु विचार करने से यह बात ज्ञात होती है कि इस प्रकार आत्मा को क्षणिक मानने से बन्ध-मोक्ष, सुख-दु:ख आदि की व्यवस्था टिक नहीं सकती है।

विवेचन

बौद्धों का यह मत है कि आत्मा क्षणिक ही है, प्रतिक्षण आत्मा का नाश होता है और नई आत्मा पैदा होती है। परन्तु इस प्रकार की मान्यता उपयुक्त नहीं लगती।

आत्मा ने कोई कर्म किया और दूसरे ही क्षण उसका नाश हो गया तो फिर उस किये हुए कर्म का बंध किसको होगा ? उस कर्म का फल कौन सी आत्मा भोगेगी ? बंध अन्य आत्मा करे और फल अन्य आत्मा को मिले, ऐसा मानने पर तो सम्पूर्ण अव्यवस्था खड़ी होती है।

अभी उत्पन्न हुई आत्मा एक क्षण के पश्चात ही नाश हो जानेवाली है, तो फिर मोक्ष किस आत्मा का मानना ? क्षण में आत्मा का बंध भी क्या होगा और मोक्ष भी क्या होगा ?

आत्मा को एकान्त अनित्य-क्षणिक मानने पर पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, सुख-दु:ख तथा कार्य कारण भाव आदि एक भी नहीं घट सकता है।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका** में कहा है कि एकान्त नित्यवाद को मानने में जितने दोष उत्पन्न होते हैं, उतने ही दोष आत्मा को एकान्त अनित्य मानने में भी उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार एकान्त अनित्यवाद से भी आत्म-तत्त्व जाना नहीं जा सकता है।

भूत चतुष्क वर्जित आतम तत्त, सत्ता अलगी न घटे।
अंध शकट जो नजरे न देखे, तो शुं कीजे शकटे ॥6॥

कठिन शब्दों के अर्थ

गाथा 6 :– भूत चतुष्क=पृथ्वी-पानी-अग्नि और वायु रूप चार भूत। **वर्जित=**रहित। **अलगी=**भिन्न। **शकट=**गाड़ा। **शुं कीजे=**क्या करें ?

सामान्य अर्थ

चार्वाक मत वाला (नास्तिक) कहता है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के संमिश्रण से आत्मा उत्पन्न होती है। अर्थात् आत्मा इन चार पदार्थों से भिन्न नहीं है। यह सिद्धान्त तो ऐसा है कि किसी अन्धे के आगे शकट (गाड़ा) खड़ा हो और उसे नजर में न आने के कारण वह उससे टकरा जाता हो तो इस टक्कर में गाड़े का क्या दोष ?

विवेचन

आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार करनेवाला दुनिया में एक चार्वाक मत है। इस मत के अनुसार दुनिया में आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। जब यह आत्मा के अस्तित्व मात्र से ही इन्कार करता है, तो फिर पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि की मान्यता का तो प्रश्न ही नहीं रहता है। अतः इसके आगे आत्म-तत्त्व की चर्चा करना भी निरर्थक है।

यह मत तो आत्मा को संयोगजन्य बतलाता है। जब पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि का संयोग हो जाता है, तो उसमें से आत्म-तत्त्व का प्रकटीकरण हो जाता है और इन भूतों के नाश के साथ ही आत्मा का भी नाश हो जाता है।

यह मान्यता बिल्कुल निराधार है। यदि एक अंधा व्यक्ति सामने खड़ी बैलगाड़ी को नहीं देख पाता है और उसका उपयोग करना चाहता है तो उसे अन्य व्यक्ति के ऊपर विश्वास रखना ही पड़ता है और यह विश्वास प्रत्यक्ष-प्रमाण से नहीं बल्कि अनुमान प्रमाण से ही रखा जाता है।

चार्वाक मत मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, परन्तु उसकी यह मान्यता बिल्कुल झूठी है। दुनिया का सम्पूर्ण व्यवहार विश्वास के बल पर ही चलता है। यदि कोई व्यक्ति, किसी भी व्यक्ति का विश्वास करना ही छोड़ दे तो उसका जीना ही दुष्कर हो जायेगा और यह विश्वास, अनुमान के बल से ही रखा जाता है। इस प्रकार चार्वाक मत से भी आत्म–तत्त्व की जानकारी सम्भव नहीं है।

एम अनेक वादि मत विभ्रम, संकट पडियो न लहे।
चित्त समाधि ते माटे पूछुं, तुम विण तत्त कोइ न कहे ॥7॥

कठिन शब्दों के अर्थ

विभ्रम=भ्रम । **पडियो=**पड़ा है । **न लहे=**नहीं पाता है । **तुम विण=**आपके बिना । **तत=**तत्त्व ।

सामान्य अर्थ

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं से मैं संकट में दुविधा में पड़ गया हूँ । अतः चित्त की समाधि के लिए हे प्रभो ! मैं आपसे प्रश्न करता हूँ । आपके अलावा कोई दूसरा सत्य नहीं कह सकता है ।

विवेचन

आत्म-तत्त्व की खोज में दुनिया में चारों ओर भटका । सभी ने अपनी मनः कल्पना से आत्मा को भिन्न 2 स्वरूप में समझाया, परन्तु सबकी एक दूसरे से विरोधी मान्यता को जानकर हे प्रभो ! मैं तो दुविधा में आ पडा हूँ । मेरे चित्त की शान्ति गायब हो गई है। मुझे तो इस दुनिया में आप पर ही विश्वास है । आप ही मुझे आत्मा की सच्ची जानकारी दे सकेंगे । अतः हे प्रभो ! मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि मुझे आत्मा का स्वरूप बतलाओ ।

वळतुं जग गुरु एणी परे भाखे, पक्षपात सब छंडी ।
राग-द्वेष-मोह पख वर्जित, आतम शुं रढ मंडी ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वलतुं=जवाब में । **जग गुरु=**जगत् के गुरु । **इणि परे=**इस प्रकार । **भाखे=**कहते हैं । **छंडी=**छोड़कर । **पख=**पक्ष । **आतम शुं=**आत्मा से । **रढ=**प्रीति । **मंडी=**लगाकर ।

सामान्य अर्थ

भक्त की प्रार्थना सुनकर, जगद्गुरु मुनिसुव्रत स्वामी कहते हैं कि पक्षपात व मत-मतान्तर के कदाग्रह तथा राग-द्वेष और मोह का त्याग कर आत्मा के साथ प्रीति पैदा करो, उसमें लीन बनो ।

विवेचन

प्रभु भक्त की प्रार्थना सुनते ही हैं। आनन्दघनजी योगिराज ने प्रभु-मुख से आत्म-तत्त्व को जानने के लिए प्रभु समक्ष अपनी जिज्ञासा व्यक्ति की। तब भगवान मुनिसुव्रत स्वामी कहते हैं कि आत्म तत्त्व को जानने के लिए सर्व प्रथम अपने मत के पक्षपात का त्याग करो, जब तक स्व मत का कदाग्रह बैठा होगा, तब तक व्यक्ति आत्म तत्त्व को नहीं पहिचान पाएगा।

पक्षपात-कदाग्रह का त्याग करने के बाद राग-द्वेष और मोह इन आत्मशत्रुओं का त्याग करो। इन शत्रुओं की उपस्थिति में आत्म तत्त्व की जानकारी सम्भव नहीं है, अतः इनका त्याग भी अनिवार्य है। इन शत्रुओं का त्याग करने के बाद आत्म-तत्त्व को समझ कर उसमें लीन होने का प्रयत्न करो।

आतम-ध्यान करे जे कोउ, सो फिर इणमें नावे।
वाग्-जाल बीजुं सहु जाणे, एह तत्त्व चित्त लावे ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

जे कोउ=जो कोई। **सो=**वह। **इणमें=**इसमें। **नावे=**नहीं आता है। **वाग् जाल=**वाणी का विलास। **बीजुं=**दूसरा। **सहु=**सब।

सामान्य अर्थ

जो आत्म-तत्त्व का निरन्तर ध्यान करता है उसे फिर तर्क-वितर्क आदि करने की आवश्यकता नहीं रहती है। आत्म तत्त्व के ध्यान सिवाय अन्य सब वाणी का विलास मात्र है।

विवेचन

आत्मा को पहिचानना है तो पक्षपात और राग-द्वेष का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार राग-द्वेष के त्याग के बाद बाह्य पौद्गलिक पदार्थों को, उनकी ममता को छोड़कर जो आत्म ध्यान चिंतन करेगा, तो उसे अवश्य ही आत्म तत्त्व की जानकारी हो जायेगी। वह आत्मा अवश्य ही अपने स्वरूप को पहिचान लेगी। इस प्रकार राग-द्वेष का त्याग कर जो आत्मा, आत्मा का ध्यान करती है, उसे फिर अन्य वाग्जाल की आवश्यकता नहीं रहती है।

जेणे विवेक धरी, ए पख ग्रहियो, ते ततज्ञानी कहिये ।
श्री मुनिसुव्रत कृपा करो तो, आनन्दघन पद लहिये ।।10।।

कठिन शब्दों के अर्थ

गाथा 10 :– जेणे=जिसने । **विवेक धरी=**विवेक को धारण कर । **ए पख=**यह पक्ष । **ग्रहियो=**ग्रहण किया है । **ते=**वह । **तत ज्ञानी=**तत्त्व ज्ञानी । **कहिये=**कहा जाय । **लहिये=**प्राप्त करे ।

सामान्य अर्थ

जिसने सत्-असत् का विवेकपूर्वक विचार कर आत्म-चिन्तन के पक्ष को ग्रहण किया है, वही तत्त्वज्ञानी कहलाता है । आनन्दघनजी कहते हैं कि हे मुनिसुव्रत स्वामी ! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा हो जाय तो मैं आनन्द के समूह रूप मोक्षपद को प्राप्त कर सकूंगा ।

विवेचन

आत्म तत्त्व को जानने में, समझने में जिसने विवेक का उपयोग किया है अर्थात् भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की दोषपूर्ण भिन्न-भिन्न मान्यताओं को समझकर सम्पूर्ण सत्य स्वरूप जैनदर्शन के रहस्य को समझा है, परमात्मा ने भिन्न-भिन्न नय सापेक्ष दृष्टि से जो आत्मा को नित्य, अनित्य आदि स्वरूप कहा है, उसे जिसने समझा है वह आत्मज्ञानी-तत्त्वज्ञानी कहला सकता है ।

अन्त में आनन्दघनजी प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे मुनिसुव्रत स्वामी ! यदि इस सेवक पर आपकी कृपा हो जाय, यानी ऐसा आत्मस्वरूप मैं समझ पाऊं और उसका ध्यान करूं तो मैं अवश्य ही शाश्वत मोक्षपद प्राप्त कर सकूंगा ।

इक्कीसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

प्रस्तुत स्तवन में योगिराज आनन्दघनजी ने जैनदर्शन की व्यापकता के साक्षात् दर्शन कराये हैं । कितना अद्‌भुत, बेजोड़ और गहन है जैनदर्शन । जिसने विश्व के समस्त दर्शनों को अपने में समा लिया है । अनेकान्तवाद विश्व को जैनदर्शन की महान् देन है । सब समस्याओं के समाधान की एक ही चाबी है—अनेकान्तदृष्टि ! जिसने इस दृष्टि को पा लिया है, उसके जीवन में कलह और क्लेश का स्थान ही मिट जाता है ।

विश्वप्रसिद्ध छह दर्शनों को जिनेश्वर के ही छह अंग बतलाकर योगिराज आनंदघनजी ने जैनदर्शन की विराटता का परिचय दिया है । सभी अन्य दर्शन जैनदर्शन की ही पुष्टि करते हैं, परन्तु उनको समझने की सापेक्ष दृष्टि चाहिये । प्रस्तुत स्तवन गहन रहस्यों से भरपूर है ।

21 नमिनाथ जिन-स्तवन

(राग : आशावरी-धन धन संप्रति साचो राजा-ए-देशी)

षड् दरिसण जिन अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधे रे ।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड् दरिसण आराधे रे ।।
।। षड्०...1।।

जिनसुरपादप पाय वखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे ।
आतम सत्ता विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे ।।
।। षड्०...2।।

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे ।
लोका-लोक अवलंबन भजीए, गुरुगमथी अवधारी रे ।।
।। षड्०...3।।

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंग विचारी जो कीजे रे ।
तत्त्व विचार सुधा रस धारा, गुरु गम विण किम पीजे रे ।।
।। षड्०...4।।

जैन जिनेश्वर वर उत्तम अंग, अंतरंग बहि–रंगे रे ।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे ।।
।। षड्०...5।।

जिनवर मां सघला दरसन छे, दर्शने जिनवर भजना रे ।
सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनीमां सागर भजना रे ।।
।। षड्०...6।।

जिन स्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे ।
भृंगी इलिका ने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे ।।
।। षड्०...7।।

चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परस्पर अनुभव रे ।
समय पुरुषना अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्भव रे ।।
।। षड्०...8।।
मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अर्थ विनियोगे रे ।
जे ध्यावे ते नवि वंचीजे, क्रिया-अवंचक भोगे रे ।।
।। षड्०...9।।
श्रुत अनुसार विचारी बोलुं, सुगुरु तथाविध न मिले रे ।
किरिया करी नवि साधी शकीए, ए विषवाद चित्त सघले रे ।।
।। षड्०...10।।
ते माटे उभा कर जोड़ी, जिनवर आगल कहिये रे ।
समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जिम आनंदघन लहिये रे ।।
।। षड्०...11।।

षड् दरिसण जिन अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधे रे ।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड् दरिसण आराधे रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

षड् दरिसण=छह दर्शन । **जिन अंग=**जिनेश्वर के अंग स्वरूप । **भणीजे=**कहे जाते हैं । **न्यास षडंग=**छह अंगों में स्थापना । **साधे=**साधता है । **नमि जिनवर=**इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ । **चरण उपासक=**चरण सेवक । **आराधे रे=**आराधना करता है ।

सामान्य अर्थ

श्री जिनेश्वर देव के छह अंगों में छह दर्शनों की स्थापना करके जो नमिनाथ भगवान की उपासना करता है, वह षड्दर्शन का उपासक बन जाता है । जिनेश्वर के छह अंग-दो हाथ, दो पैर, एक पेट और एक मस्तक ।

विवेचन

जैन दर्शन विशाल है । जिस प्रकार मनुष्यदेह में सभी अंगों–अवयवों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार एक जैनदर्शन में विश्व के समस्त दर्शनों का समावेश हो जाता है ।

विश्वप्रसिद्ध छह दर्शन जिनेश्वर देव के अंगों के ही समान हैं । शरीर का कोई एक अंग शरीर नहीं कहलाता है और अशरीर भी नहीं कहलाता है । प्रत्येक अंग, शरीर का ही एक भाग होने के कारण शरीर से भिन्न भी नहीं है, परन्तु वह स्वतंत्र रूप में शरीर भी नहीं कहला सकता है, क्योंकि वह तो एक अंश ही है, परन्तु अंगों के समूह को अवश्य शरीर कह सकते हैं ।

विश्व में जितने भी अन्य दर्शन हैं, वे सब अपूर्ण हैं, उनमें पदार्थ का निरूपण एकान्त दृष्टि से किया गया है, अतः वे वास्तविक दर्शन भी नहीं कहला सकते हैं, जब कि जैनदर्शन में छह दर्शनों का समावेश हो जाता है । छहों दर्शन जैन दर्शन में व्याप्त हैं, क्योंकि उसमें सबकी बात को सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार किया गया है । सभी दर्शन अपनी-अपनी बात

को `ही' से अंकित करके (ऐसा ही है, उदा. आत्मा नित्य ही है ।) लाते हैं, जबकि जैनदर्शन उनकी सबकी बात को स्वीकार कर लेता है, परन्तु `ही' के स्थान पर `भी' को लगाकर । एक दर्शन कहता है—आत्मा नित्य ही है, जैनदर्शन कहता है—`आत्मा नित्य भी है' यह कहकर उसकी बात को स्वीकार कर लेता है ।

आनन्दघनजी कहते हैं कि नमिनाथ जिनेश्वर देव के सिद्धांत (दर्शन) में उनकी अर्थात् उनके द्वारा बताये हुए शासन-दर्शन की सेवा से षड् दर्शन की सेवा हो जाती है ।

जिनसुरपादप पाय वखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे ।
आतम सत्ता विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सुरपादप=कल्पवृक्ष । **पाय**=पैर । **वखाणुं**=वर्णन किया है । **जोग**=योग दर्शन । **दोय**=दो । **आतम सत्ता**=आत्मा का अस्तित्व । **विवरण**=स्पष्टता । **लहो**=प्राप्त करो । **दुग**=जोड़ी ।

सामान्य अर्थ

जिनेश्वर देव रूपी कल्प-वृक्ष के सांख्य और योग दर्शन मूल-जड़ रूप अथवा चरण युगल रूप कहे गये हैं । इन दर्शनों ने आत्मा की विद्यमानता को स्वीकार किया है । अतः इन दोनों दर्शनों को जिनेश्वरदेव रूपी कल्पवृक्ष के दो अंग समझना चाहिये ।

विवेचन

जैन दर्शन की आधारशिला `आत्म-तत्त्व' है । आत्मतत्त्व के आधार पर ही जैनदर्शन की यह इमारत खड़ी है । सांख्य और योग दर्शन आत्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार उनकी उस स्वीकृति से जैन दर्शन की ही पुष्टि होती है । सांख्य मत वाले 25 पदार्थों को स्वीकार करते हैं, जिसमें आत्मा का भी स्वीकार किया गया है । वे आत्मा को कर्म का कर्त्ता अथवा भोक्ता रूप में नहीं मानकर साक्षी रूप में स्वीकार करते हैं । जैन दर्शन भी निश्चय नय से इस बात को स्वीकार करता ही है ।

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि हैं । यह दर्शन भी आत्मा का सत् रूप में स्वीकार करता है । इस दर्शन में आत्मा और उसके विकास क्रम का सुन्दर वर्मन किया गया है । इस दर्शन यमादि अष्टांग योग को मुक्ति का कारण मानता है । इस प्रकार आत्म तत्त्व के संबंध में इन दोनों दर्शनों की स्वीकृति होने के कारण ये दो दर्शन जैनदर्शन के, श्री नमिनाथप्रभुजी कल्पवृक्ष की उपमा तुल्य हैं उनके चरण युगल के समान कहे जा सकते हैं ।

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे ।
लोका-लोक अवलंबन भजीए, गुरुगम थी अवधारी रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

भेद=क्षण-क्षण परिवर्तन होना । **सुगत मीमांसक=**बुद्ध प्रणीत बौद्ध दर्शन और जैमिनी प्रणीत मीमांसक दर्शन । **दोय कर=**दो हाथ । **भारी=**बड़े । **लोकालोक=**लोक और अलोक । **अवलंबन=**आधार रूप रहे हुए । **गुरुगम=**गुरु के पास से ।

सामान्य अर्थ

बौद्धदर्शन आत्मा को अनेक भेदवाली-क्षणिक मानता है और मीमांसक दर्शन आत्मा को अभेद-एकरूप मानता है । ये दोनों दर्शन जिनेश्वर देव रूपी शरीर के दो हाथ समान हैं । विश्व (लोक) और विश्व के बाह्य क्षेत्र (अलोक) के सहारे भूत होने से उनको ज्ञानी गुरुजन से बराबर समझ लेना चाहिये ।

विवेचन

बौद्धदर्शन निराकार उपयोग के विषय सामान्य धर्म-जाति को नहीं मानता है, वह वस्तु के विशेष धर्म को ही स्वीकार करता है । सर्व पदार्थ क्षण स्थिति वाले हैं—यह बौद्धों का मत है । उनके मत से वस्तु प्रतिक्षण विनश्वर है । वह आत्मादि पदार्थों को क्षणिक मानता है । प्रथम क्षण में आत्मा की उत्पत्ति और दूसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है—यह बौद्धों की मान्यता है । उन्हें प्रतिक्षण भेद अभिमत है । वह एकांत अनित्यवादी है ।

इसका समाधान इस प्रकार है-`क्षण-क्षण अन्योन्य उपयोग वाली आत्मा कथंचित् उपयोग से अभिन्न होने के कारण क्षण-क्षण बदलती रहती है' यह अनित्यता जैनदर्शन को पर्यायास्तिक नय से अभिमत ही है । मीमांसक दर्शन निराकार उपयोग सामान्य को मानता है । उनकी मान्यतानुसार सभी पदार्थ व्यष्टि से भिन्न-भिन्न होने पर भी समष्टि से एक ही तत्त्व से जुड़े हुए हैं । वह आत्मा को ब्रह्मस्वरूप और एक ही तत्त्व रूप में स्वीकार करता है । वह कहता है एक ही ब्रह्म सत्य है और यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है ।

जैनदर्शन इस मान्यता को भी एक नय से स्वीकार करता है । जैनदर्शन द्रव्यार्थिक नय से आत्मा को नित्य मानता है । निश्चय से उसके स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है । पर्यायास्तिक नय और द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से जैनदर्शन इन दोनों दर्शनों को मान्य करता है ।

बौद्ध और मीमांसक भेद और अभेदवादी अथवा नित्य और अनित्यवादी जिनेश्वर के दाहिने-बाएँ अलग 2 हाथ हैं । किन्तु जिनेश्वर देव पद्मासनस्थ हैं, अतः दोनों हाथ संवलित हो जाते हैं–जुड़ जाते हैं, इसी संवलन-जोड़ को जिनाभिमत भेदाभेद नित्यानित्य कह सकते हैं । इसी प्रकार जिनेश्वर भगवन्तों में अपेक्षा भेद से साकार-निराकार उपयोग एक साथ माने गए हैं अतः भेदाभेदरूप जिनमत है । लोक अर्थात् विशेष रूप से पश्यना (देखना) जो पंचास्तिकाय के ज्ञान का द्योतक है । अलोक अर्थात् विशेष रूप से पश्यना का अभाव-जो अनन्त आकाश और उसमें रहे सर्व पदार्थों का एक मात्र सत् रूप से दर्शन का द्योतक है ।

जैनदर्शन की सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था भेद-अभेद दोनों तत्त्वों पर व्यवस्थित है । जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें भेद और अभेद का अस्तित्व न हो, इस प्रकार बौद्ध और मीमांसक को मान्य दोनों मान्यताओं का जैनदर्शन में संवलन हो जाने से ये दोनों दर्शन जिनेश्वर परमात्मा के दो हाथ समान हैं । जैनदर्शन के इस गूढ़ रहस्य को गुरुगम से समझने के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

लोकायतिक कूख जिनवर नी, अंग विचार जो कीजे रे ।
तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण किम पीजे रे ।।

कठिन शब्दों के अर्थ

लोकायतिक=चार्वाक दर्शन । **कूख=**कुक्षि रूप । **सुधारस=**अमृत रस । **विण=**बिना । **किम=**कैसे । **पीजे रे=**पी सकते हैं ।

सामान्य अर्थ

लोकायतिक-चार्वाक दर्शन अर्थात् नास्तिकदर्शन जिनेश्वर की कुक्षि के समान है, यदि नय-सापेक्ष द्रष्टि से विचार करेंगे तो यह दर्शन भी जिनेश्वर के अंग रूप दिखेगा । तत्त्व का विचार अमृतरस की धारा समान है, गुरुगम के बिना उसका पान कैसे सम्भव है अर्थात् इस तत्त्व को समझने के लिए गुरु का मार्गदर्शन चाहिये ।

विवेचन

चार्वाक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का स्वीकार ही नहीं करता है, वह तो पाँच भूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश) में से ही आत्मा की उत्पत्ति मानता है । पाँच भूतों के संयोग से उत्पन्न आत्मा, भूतों के वियोग से नष्ट हो जाती है । यह दर्शन पुनर्जन्म-मोक्ष आदि तत्त्वों का स्वीकार नहीं करता है किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण को तो मानता है, इतने अंश में वह जैन दर्शन की बात का स्वीकार करता है ।

तत्त्वज्ञान के प्राथमिक अभ्यास के लिए पाँच भूत रूप में स्थूल रूप में विश्व का ज्ञान प्रारम्भ होता है । प्राथमिक ज्ञान होने पर ही मनुष्य तत्त्वज्ञान में आगे बढ़ सकता है । नास्तिक चार्वाक दर्शन मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है, अन्य प्रमाणों को नहीं । उसने आज प्रत्यक्ष का तो स्वीकार किया है तो भविष्य में अन्य प्रमाणों को भी स्वीकार करेगा । तत्त्व विचारणा से वह भी आत्मादि को मान सकेगा । अतः चार्वाक दर्शन जिनेश्वर की कुक्षि समान है ।

जैन जिनेश्वर वर उत्तम अंग, अंतरंग बहि–रंगे रे ।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

जैन=जैनदर्शन । **जिनेश्वर वर उत्तम अंग=**जिनेश्वर का श्रेष्ठ अंग मस्तक है । **अंतरंग=**शुद्ध प्रेम से । **बहिरंगे=**बाह्य व्यवहार से । **अक्षर न्यास धरा=**अक्षर की स्थापाना करने वाले । **आराधे=**आराधना करता है । **धरी=**धारण करके । **संगे=**संग से ।

सामान्य अर्थ

जैनदर्शन जिनेश्वर का उत्तम अंग (मस्तक) है । बाहर में मस्तक शरीर के सब अंगों के ऊपर दिखाई देता है और अंतरंग में वह सुविचारों का खजाना है । इस प्रकार इस दर्शन का संग करके आराधक, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर अक्षर स्थापना कर महाध्यान की साधना कर सकता है ।

विवेचन

शरीर की शोभा मस्तक से है । मस्तक रहित देह की क्या कीमत है ! जैनदर्शन जिनेश्वर के मस्तक स्थान पर है, मस्तक सर्व अंगों के ऊपर शोभायमान होता है । वह बाहर से भी सुन्दर है और अन्दर से भी सुविचारों का खजाना होने से शोभास्पद है ।

इस प्रकार जिनेश्वर देव के छह अंगों में षड् दर्शन के न्यास की बात पूर्ण करके अक्षर न्यास की, ध्यान-प्रक्रिया की बात करते हैं । ध्यान-प्रक्रिया की सर्व श्रेष्ठ विधि की प्राप्ति हमें जैनदर्शन से ही हो सकती है । इसी कारण से यह जैनदर्शन मस्तक के रूप में शोभित है ।

आगम में प्ररूपित जिनेश्वर देव के एक भी वचन का उत्थापन न करने वाला जिनदर्शन की आराधना कर सकता है । जिनेश्वर के वचन की आराधना धर्म है और उसकी विराधना अधर्म है । यही धर्म का गूढ़ रहस्य है ।

अक्षर न्यास धरा=भूमिका अर्थ में भी संभव है । ध्यान विषय यहाँ आ जाने पर शायद सब मंत्रों के बीज-भूमिका स्वरूप प्रणव ॐ का न्यास मस्तक के ब्रह्मरन्ध्र की आराधना करता है उसी तरह जैनदर्शन का आराधक सब दर्शनों की आराधना सहज ही कर लेता है ।

जिनवरमां सघला दरसन छे, दर्शने जिनवव भजना रे ।
सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनीमां सागर भजना रे ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

जिनवर मां=जिनेश्वर के दर्शन में । **सघला=**समस्त । **दरसन छे=**दर्शन है । **दर्शने=**अन्य दर्शन में । **भजना=**विकल्प । **सघली=**सभी । **तटनी=**नदियाँ ।

सामान्य अर्थ

जिस प्रकार समुद्र में सभी नदियों का समावेश हो जाता है परन्तु नदी में समुद्र हो भी अथवा नहीं भी हो, उसी प्रकार जिनेश्वर में सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है, किन्तु अन्य दर्शनों में जिनेश्वर-जैनदर्शन हो भी अथवा नहीं भी हो ।

विवेचन

स्याद्वाद (यह) जैनदर्शन की अपनी अनोखी विशेषता है । स्याद्वाद से ही जैनदर्शन का स्वरूप विराट् बना हुआ है । स्याद्वाद जैनदर्शन को अतल गहराई वाला सागर बना देता है । अन्य सब दर्शन किसी भी वस्तु का निरूपण एक नय की अपेक्षा से ही करते हैं, और उसी को प्रमाण मान बैठते है, जब कि जैन दर्शन नय सापेक्ष बात को सम्पूर्ण प्रमाण न मानकर आंशिक प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है । यदि वह नय अपनी सापेक्ष दृष्टि से कहता है, अर्थात् दूसरे नयों की बात का तिरस्कार नहीं करता है, तब तो वह (आंशिक) प्रमाण बन जाता है और यदि वह अपनी बात को पकड़ कर अन्य की बात का पूर्ण तिरस्कार करता है तो वह नय-नयाभास बन जाता है, वह प्रमाण का अंश नहीं बन सकता है ।

जैनदर्शन सभी नयों का सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करता है, अतः सागर में सर्व नदियों के समावेश की भाँति जैनदर्शन में समस्त दर्शनों का समावेश हो जाता है । जबकि अन्य-अन्य दर्शन जैनदर्शन की बात को जितने 2 अंश में स्वीकार करते हैं, उतने अंश में वहाँ भी जैनदर्शन है और जब वे जैनदर्शन की बात का स्वीकार नहीं करते हैं तो उनमें

जैनदर्शन नहीं है । इसी तरह अन्य दर्शनों में जैनदर्शन का होना या नहीं होना वैकल्पिक है ।

जिन स्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे ।
भृंगी इलिका ने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

थई=होकर । **आराधे=**आराधना करता है । **भृंगी=**भ्रमरी । **इलिका=**ईयल । **चटकावे=**चटका देना ।

सामान्य अर्थ

भ्रमर इलिका को अपने घर में ले जाता है और उसके सामने भनभनाता है । भ्रमर के ध्यान में मरकर इलिका भी भ्रमर रूप बन जाती है, इस बात को सभी लोग देखते हैं–जानते हैं, इसी प्रकार जो जिन स्वरूप बनकर (अर्थात् सत्ता से जिनस्वरूपी हूँ, यह जानते हुए या समभाव पूर्वक अभेदपने से आराधे, `सोऽहं' `सोऽहं' इस भाव से) जिनेश्वर का ध्यान करता है, वह अवश्य ही जिनेश्वर बन जाता है ।

विवेचन

ध्यान में एक महान् शक्ति रही हुई है कि व्यक्ति जिसका ध्यान करता है, वह तद्स्वरूपी बन जाता है । लोक में इलिका और भ्रमर का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है ।

पूर्व गाथाओं में जैनदर्शन की महत्ता बतलाने के बाद इस गाथा में जिनेश्वर के स्वरूप को कैसी पाया जाय, इसका उपाय बतलाते हैं । क्या आप जिनेश्वर बनना चाहते हैं ? इसका उपाय बतला रहे हैं योगिराज आनन्दघनजी । वे कहते हैं कि यदि आपको जिनेश्वर बनना है तो जिनेश्वर स्वरूप बनकर के जिनेश्वर का ध्यान करो ।

पू. उपाध्यायजी म. ने भी गाया है कि–

अरिहंत पद ध्यातो थको, दव्वहगुण पज्जाय रे ।
भेद छेद करी आतमा, अरिहंत रूपी थाय रे ।।

द्रव्य, गुण और पर्याय से अरिहंत का ध्यान करने से आत्मा भेद का छेद कर स्वयं अरिहंत स्वरूप बन जाती है ।

चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे ।
समयपुरुषना अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्भव रे ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

चूर्णि=भाष्य को स्पष्ट करने वाली प्राकृत टीका । **भाष्य=**सूत्र और निर्युक्ति का संक्षिप्त स्पष्टीकरण । **सूत्र=**मूल सूत्र । **निर्युक्ति=**व्युत्पत्तिपूर्वक सूत्र की विवेचना । **परंपर=**गुरु परम्परा से प्राप्त । **अनुभव=**अनुभव, शब्दातीत, बुद्धि से परे, तर्क से अगम्य । **समयपुरुष=**शास्त्र पुरुष । **दूर्भव=**दूरभव्य ।

सामान्य अर्थ

सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, सम्प्रदाय-परम्परा और अनुभव ये शास्त्ररूपी पुरुष के अंग कहे गए हैं, जो व्यक्ति पंचांगी संप्रदायादि का नाश करता है वह आत्मा दूरभवी होना चाहिये ।

विवेचन

सूत्र निर्युक्ति आदि शास्त्रपुरुष के अंग हैं ।

1. सूत्र– इन मूल सूत्रों के रचयिता गणधर भगवन्त हैं । ये मूल सूत्र परमात्म-वाणी के सूत्र रूप हैं । अरिहन्त परमात्मा के मुख से 'उप्पन्नेई वा, विगमेइ वा धुवेइ वा' इस त्रिपदी का श्रवण कर बीजबुद्धि के निधान गणधर भगवन्त द्वादशांगी रूप मूल सूत्रों की रचना करते हैं ।

2. निर्युक्ति– गणधर भगवन्त विरचित मूल सूत्रों के रहस्य को समझाने के लिए अन्तिम चौदह पूर्वी श्री भद्रबाहु स्वामीजी ने मूल सूत्रों का अति संक्षिप्त विवेचन किया है, जिसे निर्युक्ति कहते हैं ।

3. भाष्य– निर्युक्ति के रहस्य को समझाने के लिए पूर्वधर आदि बहुश्रुत महर्षियों ने भाष्य की रचनाएँ की हैं ।

4. चूर्णि– भाष्य-निर्युक्ति आदि के अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए अर्धमागधी भाषा में बहुश्रुत महर्षियों के द्वारा रचित ग्रंथ को चूर्णि कहते हैं ।

5. वृत्ति-टीका– निर्युक्ति आदि के अर्थों को विस्तार से संस्कृत भाषा में समझाने के लिए बहुश्रुत महर्षियों द्वारा विरचित ग्रंथ को वृत्ति-टीका कहते हैं ।

6. सम्प्रदाय-परम्परा– सद्गुरु की परम्परा से प्राप्त अर्थ के स्पष्ट बोध को सम्प्रदाय (परम्परा) कहते हैं ।

7. अनुभव– सूत्रादि परोक्ष प्रमाण से अवधारित पदार्थों के स्मृतिकाल में अनेक बार उन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होना अनुभव है ।

समय पुरुष के ये अंग कहे गए हैं । ये सूत्रादि जैनदर्शन की आधारशिला हैं, इनमें से किसी भी एक का अपलाप करना आत्मा की दूरभव्यता की निशानी है ।

दूरभव्य उस आत्मा को कहते हैं जिसका अनन्त काल तक संसार-परिभ्रमण बाकी है । अतः जिनशासन के आराधक व मुक्ति की तीव्र इच्छा वाले मुमुक्षु का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इन अंगों की पूर्ण रक्षा करे, इनका आदर करे और इनकी आज्ञा के अनुसार जीवन जीने का प्रयत्न करे, इसी में सच्चा आत्महित निहित है ।

मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अर्थ विनियोगे रे ।
जे ध्यावे ते नवि वंचीजे, क्रिया-अवंचक भोगे रे ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मुद्रा=ध्यान समय का आसन विशेष । **अक्षरन्यास=**हृदय में अष्ट कमल दल की स्थापना कर मंत्राक्षर की स्थापना करना । **वंचीजे=**ठगना । **क्रियावंचक भोगे=**क्रियावंचक योग को प्राप्त करती है ।

सामान्य अर्थ

जो आत्मा–1) मुद्रा 2) बीज 3) धारणा 4) अक्षर 5) न्यास और 6) अर्थ विनियोग की विधिपूर्वक जिनेश्वर का ध्यान करता है, वह आत्मा क्रियावंचक योग का भोक्ता बनता है ।

विवेचन

पूर्व गाथा में समयपुरुष के अंग बतलाए गए । अब इस गाथा में योग अथवा ध्यान के छह अंग बतलाते हैं–

1) मुद्रा– अर्थात् ध्यान आदि के लिए उपयुक्त आसन ।

2) बीज–ॐकार, ह्रींकार आदि योग के बीज हैं । ध्यान में इनका आलंबन अनिवार्य है ।

3) धारणा–अर्थात् अवधारणा । जिस पद का ध्यान करना हो उसका मन में अवधारणा करना ।

4) अक्षरन्यास–शरीर के हृदय नाभि तथा कण्ठ आदि स्थानों में अ, आ, इ, ई आदि अक्षरों का न्यास (स्थापन) करना ।

5) अर्थ–जाप के अक्षरों के अर्थ का बोध ।

6) विनियोग–स्वयं को प्राप्त अर्थबोध, ध्यान आदि प्रक्रिया, अन्य सुपात्र आत्मा को प्रदान करना ।

`तदर्थार्पितमानसः' रूप प्रणिधान को भी विनियोग कहते हैं । इस प्रकार की योग की प्रक्रियापूर्वक जो आत्मा परमात्मा का ध्यान करती है उसका यह योग `क्रियाअवंचक' योग कहलाता है । अर्थात् वह आत्मा इस योग से अवश्य ही क्रिया के फल-फलावंचकता प्राप्त करती है ।

जैन सास्त्रों में महाप्राणायाम आदि ध्यान की बातें आती हैं । श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी ने नेपाल में महाप्राणायाम ध्यान किया था । ध्यान की यह प्रक्रिया गुरुगम से ही जानी जा सकती है ।

श्रुत अनुसार विचारी बोलुं, सुगुरु तथाविध न मिले रे ।
किरिया करी नवि साधी शकीए, ए विषवाद चित्त सघले रे ।।10।।

कठिन शब्दों के अर्थ

श्रुत अनुसार=शास्त्रानुसार । **विचारी**=समझकर । **किरिया करी**=क्रिया करके । **नवि**=करके । **नवि**=नहीं । **विषवाद**=दुःख, संक्लेश । **सघले**=सम्पूर्ण ।

सामान्य अर्थ

शास्त्र के अवबोध के आधार पर ध्यानविषयक पूर्वोक्त बात मैंने कही है । उस प्रकार के सद्गुरु का योग मुझे प्राप्त नहीं हुआ है और इसी कारण से मैं उस योग को नहीं साध सका हूँ, इसका मुझे अत्यन्त खेद है ।

विवेचन

श्रुतज्ञान–शास्त्रज्ञान के आधार पर योगिराज आनन्दघनजी ने ध्यान-प्रक्रिया के विषय में उपर्युक्त बातें कही हैं । परंतु वे भी उस प्रक्रिया के ज्ञाता नहीं हैं, इस बात का वे सरल हृदय से स्वीकार करते हैं ।

योगिराज के रूप में प्रख्यात होने पर भी अपनी अज्ञानता का सहर्ष स्वीकार-यह उनकी कितनी बड़ी सरलता है ! ऐसी सरलता हमें विरल योगी पुरुषों में ही देखने को मिलती है ।

ध्यान-प्रक्रिया के श्रद्धालु, ज्ञाता, कथक और करनी वाले सद्गुरु का योग नहीं मिलने के कारण आनन्दघनजी उस ध्यान क्रिया को नहीं कर पाये, इसका वे खेद प्रगट करते हैं ।

ते माटे उभा कर जोड़ी, जिनवर आगल कहिये रे ।
समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जिम आनंदघन लहिये रे ।।11।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ते माटे=उसके लिए । **उभा=**खड़े हैं । **कर जोड़ी=**हाथ जोड़कर । **आगल=**सामने । **कहिये=**कहते हैं । **समय चरण सेवा=**सम्यक् ज्ञान रूप शास्त्र तथा चारित्र रूप सेवा । **जिम=**जैसे ।

सामान्य अर्थ

हे नमिनाथ जिनेश्वर देव ! मैं हाथ जोड़ कर आपके सामने खड़ा होकर प्रार्थना करता हूँ कि शास्त्रानुसार चारित्र की शुद्ध सेवा प्रदान करो, जिसके फलस्वरूप मैं आनन्द के समूह रूप मोक्षपद को प्राप्त कर सकूँ ।

विवेचन

प्रभु-स्तवना के अन्त में योगिराज आनन्दघनजी प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! मैं आपके सामने हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा हूँ कि आपके शास्त्र में कथित शुद्ध चारित्र के पालन का बल मुझे प्रदान करो ।

प्रभु-निरूपित शास्त्र-आज्ञा के परिपूर्ण पालन से ही आत्मा आनन्द के समूह रूप मोक्षपद को प्राप्त कर सकती है । शास्त्र-आज्ञा के परिपूर्ण पालन का सामर्थ्य अपने में नहीं है, अतः इसके पूर्ण पालन की शक्ति हमें प्रभु-कृपा से ही प्राप्त हो सकती है ।

प्रस्तुत गाथा में योगिराज के 'समर्पण भाव' के साक्षात् दर्शन होते हैं । भक्तियोग के परम उपासक आनन्दघनजी ने परमात्मा के चरणों में अपना आत्म-समर्पण कर दिया था, तभी उनके मुख से ऐसे उद्गार निकल सकते हैं ।

बाईसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

`राजुल और नेमिकुमार' का कथानक लोकप्रसिद्ध है। गत आठ-आठ जन्मों से नेमिकुमार और राजीमती का पति-पत्नी का सम्बन्ध रहा था।

भोगावली कर्मों का क्षय हो जाने के कारण जन्म से विरक्त नेमिकुमार दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हैं और उनके माता-पिता विवाह के लिए अत्यन्त आग्रह करते हैं।

श्रीकृष्ण की गोपियाँ उनको विवाह के लिए प्रेरित करती हैं नेमिकुमार मौन रहते हैं। उनके मौन को मूक सम्मति मानकर, नेमिकुमार के माता-पिता उग्रसेनराजा कीपुत्री राजीमती के साथ सगाई करते हैं और शीघ्र विवाह की तैयारी की जाती है। वर-यात्रा के समय पशुओं की चीत्कार सुनकर नेमिकुमार अपने रथ को वापस मुड़वा देते हैं। उस समय का चित्रण प्रस्तुत किया है प्रस्तुत स्तवन में।

मुख्य एक ही पात्र है—राजीमती। सांसारिक राग के चित्रण के बाद राजीमती को होनेवाले वास्तविक बोध का निरूपण भी सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में प्रभु से एकमेक बनने-बनाने के लिए प्रार्थना की गई है।

22 नेमिनाथ जिन-स्तवन

(राग : मारुणी, धण रा ढोला-ए-देशी)

अष्ट-भवांतर वालही रे, तूं मुज आतम राम, मनरा वाला ।
मुगति स्त्री शुं आपणे रे, सगपण कोई न काम ।।
।। मनरा वाला०...1।।

घर आवो हो वालिम ! घर आवो,
मारी आशा ना विशराम ! मनरा वाला।
रथ फेरो हो साजन ! रथ फेरो,
साजन ! मारा मन रा मनोरथ साथ ।।
।। मनरा वाला०...2।।

नारी पखो शो नेहलो रे,
सांच कहे जगनाथ, मनरा वाला ।
ईश्वर अरधांगे धरी रे, तूं मुज झाले न हाथ ।।
।। मनरा वाला०...3।।

पशु जननी करुणा करा रे,
आणी हृदय विचार, मनरा वाला ।
माणसनी करुणा नहीं रे, ए कुण घर-आचार ।।
।। मनरा वाला०...4।।

प्रेम कल्पतरु छेदियो रे, धरियो जोग-धतूर, मनरा वाला ।
चतुराई रो कुण कहो रे, गुरु मिलियो जग-सूर ।।
।। मनरा वाला०...5।।

मारुं तो एमां कांई नहीं रे, आप विचारो राज, मनरा वाला ।
राजसभा मां बेसतां रे, किसड़ी बधसी लाज ।।
।। मनरा वाला०...6।।

प्रेम करे जग जन सहु रे, निरवहे ते ओर, मनरा वाला ।
प्रीत करीने छोड़ी दिये रे, तेह शुं न चाले जोर ।।
।। मनरा वाला०...7।।

जो मनमां एहवुं हतुं रे, निसपति करत न जाण, मनरावाला ।
निसपति करीने छोडतां रे, माणस हुवे नुकसान ।।
।। मनरा वाला०...8।।

देतां दान संवत्सरी रे, सहु लहे वंछित पोष, मनरा वाला ।
सेवक वंछित नवि लहे रे, ते सेवक नो दोष ।।
।। मनरा वाला०...9।।

सखी कहे 'ए सामलो' रे, हुं कहुं लक्षण सेत, मनरा वाला ।
इण लखणे साची सखी रे, आप विचारो हेत ।।
।। मनरा वाला०...10।।

रागी शुं राग सहु करे रे, वैरागी श्यो राग ? मनरा वाला ।
राग विना किम दाखवो रे, मुगति सुंदरी माग ।।
।। मनरा वाला०...11।।

एक गुह्य घटतुं नथी रे,
सघलो ये जाणे लोक, मनरा वाला ।
अनेकांतिक भोगवे रे, ब्रह्मचारी गत रोग ।।
।। मनरा वाला०...12।।

जिण जोणे तुमने जोउं रे,
तिण जोणे जुवो राज, मनरा वाला ।
एक बार मुज ने जुवो रे, तो सिज्झे मुज काज ।। ।।
।। मनरा वाला०...13।।

मोह दशा धरी भावना रे,
चित्त लहे तत्त्व-विचार, मनरा वाला ।
वीतरागता आदरी रे, प्राणनाथ निरधार ।।
।। मनरा वाला०...14।।

सेवक पण ते आदरे रे, तो रहे सेवक माम, मनरा वाला ।
आशय साथे चालिये रे, एहिज रूडुं काम ।।
।। मनरा वाला०...15।।

त्रिविध जोग धरी आदर्यो रे, नेमनाथ भरतार, मनरा वाला ।
धारण पोषण तारणो रे, नवसर मुगताहार ।।
।। मनरा वाला०...16।।

कारण रूपी प्रभु भज्यो रे,
गण्यो न काज अकाज, मनरा वाला ।
कृपा करी मुज दीजिए रे, आनन्दघन पद राज ।।
।। मनरा वाला०...17।।

अष्ट-भवांतर वालही रे, तूं मुज आतम राम, मनरा वाला ।
मुगति स्त्री शुं आपणे रे, सगपण कोई न काम मनरा वाला ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अष्ट=आठ । **भवांतर=**भवों में । **वाला=**अत्यंत प्रेम पात्र । **आतमराम=**आत्मा में रमण करने वाला । **मुगति स्त्री शुं=**मुक्ति रूपी स्त्री से । **सगपण=**सगाई सम्बन्ध । **कोई=**थोड़ा भी । **काम=**उपयोगी ।

सामान्य अर्थ

हे प्रियतम ! मैं आठ भवों से आपकी प्रियतमा रही हूँ और आप मेरे प्रियतम रहे हैं । आप मेरी आत्मा में अत्यन्त रम गये हो । मुक्ति स्त्री से तो अपना संबंध किसी काम का ही नहीं है । फिर आप उसके लिए इतने उत्सुक क्यों हो रहे हो ?

विवेचन

स्तवनकार का लक्ष्य है नेमिनाथ प्रभु की वीतरागता को प्रदर्शित करना । परन्तु परमात्मा के वीतराग भाव को प्रगट करने के लिए उन्होंने द्रव्यानुयोग आदि का सहारा नहीं लिया ! ऐसे तो आनन्दघनजी का प्रत्येक स्तवन तत्त्वज्ञान से भरपूर और द्रव्यानुयोग प्रधान है । फिर भी नेमिनाथ प्रभु की वीतरागता बतलाने के लिए उन्होंने कथानुयोग का सहारा लिया है । **'नेमिनाथ और राजुल'** के दुलेरे नाम से नेमिनाथ प्रभु की कथा प्रसिद्ध ही है ।

नेमिनाथ प्रभु तो बाल ब्रह्मचारी हुए हैं । यौवन अवस्था को प्राप्त करने पर श्रीकृष्ण के आग्रह से रुक्मिणी प्रमुख गोपियाँ उन्हें विवाह के लिए प्रेरित करती हैं । अन्त में प्रभु जब मौन रहते हैं तो उनके मौन को ही सम्मति मानकर समुद्रविजय अपने पुत्र नेमिकुमार का संबंध उग्रसेन राजा की सुपुत्री राजीमती के साथ करते हैं ।

रथ में बैठकर नेमिकुमार विवाह के लिए बरात के साथ प्रयाण करते हैं । उग्रसेन राजा के निवास के समीप पहुँचने पर नेमिकुमार को पशुओं की चीत्कार सुनाई देती है । नेमिकुमार सारथी ने प्रश्न करते हैं,

तब सारथी कहता है—आपकी बरात के भोजन के लिए इन पशुओं का वध किया जायेगा । तत्काल नेमिकुमार सारथी को पशु-शाला के पास रथ को ले जाने के लिए कहते हैं । नेमिकुमार की आज्ञा से पशुओं को मुक्त कर दिया जाता है और नेमिकुमार अपने रथ को मोड़ने के लिए कह देते हैं ।

विवाह के लिए आये हुए प्रियतम को लौटते जानकर राजीमती के हृदय में अपार वेदना होती है । वह नेमिकुमार से लौट आने की प्रार्थना करती है । प्रस्तुत स्तवन में राजीमती के मुख से अभिव्यक्त वेदना को प्रस्तुत किया गया है ।

राजीमती प्रभु को कहती है कि—

हे नेमिकुमार ! आठ-आठ भवों तक आपका और मेरा सम्बन्ध अखंडित रूप से चलता रहा । आप मेरे हृदय में बसे और मैं आपके हृदय में बसी । इस मुक्ति रमणी के साथ संबंध का कुछ प्रयोजन ही नहीं है हमें ।

घर आवो हो वालिम ! घर आवो,
मारी आशा ना विशाराम ! मनरा वाला।
रथ फेरो हो साजन ! रथ फेरो,
साजन ! मारा मन रा मनोरथ साथ ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वालिम=प्रियतम । **विशराम=**विश्रामस्थल । **साजन=**आत्मीयजन । **मनोरथ=**मन रूपी रथ ।

सामान्य अर्थ

हे मेरे प्राणवल्लभ ! आप घर पधारो । मेरी समस्त आशाओं के आप विश्रमस्थल हो । हे साजन ! आप अपने रथ को वापस मोड़ दो ! आपके लौटने से मेरे सब मनोरथ भी लौट आयेंगे ।

विवेचन

पशुओं की चीत्कार सुनकर, उन पशुओं को मुक्त करने का आदेश देकर जब नेमिकुमार वापस चले जा रहे हैं, तब राजीमती कहती है कि हे प्राण प्यारे ! प्रियतम ! आप क्यों चले जा रहे हैं ? आप तो मेरी

समस्त आशाओं के विश्रामस्थल हो अर्थात् मुझे जो-जो भी आशाएँ हैं, उन सब आशाओं की पूर्ति तो आप ही करने वाले हैं ।

हे प्रियतम ! मुझ पर कृपा करो । इस सेविका की अर्ज की उपेक्षा मत करो । आपके चले जाने से तो मेरी समस्त आशाएं भी मुझे छोड़ कर दूर चली जा रही हैं और आपके लौटने पर ही वे वापस आने का आश्वासन दे रही हैं । अतः कृपा करो, प्रियतम ! घर लौट आओ ।

नारी पखो शो नेहलो रे, सांच कहे जगनाथ, मनरा वाला ।
ईश्वर अरधांगे धरी रे, तूं मुज झाले न हाथ मनरा वाला ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

नारी पखो=नारी का एकपक्षीय (नारी के बिना) । **नेहलो=**प्रेम एवं प्रतांतर का `नाहलो' रखें तो **नाथ=**पति (`पखो' शब्द `सिवाय' `विरह' के लिए भी संभाव्य है ।) होना संभव है । **साँच=**सत्य । **ईश्वर=**महादेव । **अरधाङ्गे=**आधा शरीर ।

सामान्य अर्थ

हे प्रियतम ! मुझे सत्य कहो, क्या आपके दिल में यही बात है न कि मात्र स्त्री के एकपक्षीय प्रेम की क्या कीमत ? ओ स्वामिन् । देखो तो सही । महादेव ने तो स्त्री को अर्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया है और आप तो मेरा हाथ भी नहीं पकड़ रहे हैं ?

विवेचन

अपने घर की ओर लौट रहे नेमिकुमार को राजीमती ठपका दे रही है कि हे प्रियतम ! एकपक्षीय प्रेम कैसे स्थिर बन सकता है ? मैं तो आपसे घनिष्ट प्रेम कर रही हूँ और आप मुझसे दूर ही भाग रहे हैं । नारी के प्रेम की उपेक्षा करना आपके लिए योग्य नहीं है । विश्व में महादेव के रूप में प्रसिद्ध देव ने भी `उमा' को अर्धांगिनी बनाया है और आप तो मेरा हाथ भी नहीं पकड़ रहे हैं । क्या आप उनसे भी बढ़कर देव बनने जा रहे हैं ?

पशु जननी करुणा करा रे, आणी हृदय विचार ।
माणसनी करुणा नहीं रे, ए कुण घर-आचार ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

पशु जननी=पशुओं के समूह की । **करुणा=**दया । **आणी=**लाये । **कुण=**किस । **घर आचार=**घर का रिवाज ।

सामान्य अर्थ

यह आपके किस घर का आचार है ? मेरी समझ में नहीं आ रहा है । आप पशुओं की तो हृदय में करुणा लाते हैं और मुझ पर कुछ भी दया नहीं लाते हैं ।

विवेचन

राजीमती नेमिकुमार के साथ में अपना संबंध जोड़ना चाहती है, परन्तु नेमिकुमार तो उसकी बात को सुनते ही नहीं हैं और आगे बढ़ते ही जा रहे हैं ।

अतः राजीमती अब कुछ नाराज हो रही है और ठपके में कह रही है कि हे प्रियतम ! आपका यह किस घर का रिवाज है ? मेरी समझ में नहीं आ रहा है । आपको इन पशुओं की चीत्कार तो सुनाई दी और उनको छुड़ाने के लिए आपने प्रयत्न भी कर दिया, पशु की दया का तो आपने विचार किया और मेरी आपने उपेक्षा कर दी ।

पशु की दयासे मानव-दया अधिक मूल्यवान है या नहीं ? है, तो फिर आप पशु-दया के लिए मानव-दया की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?

प्रेम कल्पतरु छेदियो रे, धरियो जोग-धतूर, मनरा वाला ।
चतुराई रो कुण कहो रे, गुरु मिलियो जग-सूर मनरा वाला।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

प्रेम कल्पतरु=प्रेम रूपी कल्पवृक्ष । **छेदियो=**छेद दिया है । **जोग धतूर=**योग रूपी धतूरा । **चतुराइरो=**चातुर्य का । **जग सूर=**जगत् में शूरवीर, जगत् के लिए सूर्य समान, जगत् के लिए शल्य समान ।

सामान्य अर्थ

हे प्रियतम ! आपने तो प्रेम रूपी कल्पवृक्ष को छेदकर योग (वैराग्य) रूपी धतूरे का वपन कर दिया । हे प्रियतम ! आप सच कहिये,

इस प्रकार की चतुराई सिखाने वाला जगत् के लिए शल्य समान, सूर्य समान कौन सा गुरु आपको मिला है ?

विवेचन

राजीमती नेमिकुमार को ठपका दे रही है कि हे प्रियतम ! जगत् में कल्पवृक्ष तो सर्वश्रेष्ठ वृक्ष गिना जाता है, उसकी प्राप्ति होने पर अन्य वृक्षों को बोने का कौन कष्ट करेगा ? परन्तु कल्पवृक्ष को छेदकर धतूरे को बोने की मूर्खता कौन करता है ?

हे प्रियतम ! आपने मेरे प्रीतिरूप कल्पवृक्ष को तो छेद दिया है और अदृष्ट उस मोक्ष-ललना के साथ प्रेम करने जा रहे हो। बड़ा आश्चर्य है। कल्पवृक्ष को छेदकर धतूरे को बोने की यह चतुराई आपको किस पंडित ने (किस गुरु ने) सिखाई है ? मुझे तो उस पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि जरूर ही यह पंडित जगत् के लिए शल्य रहा होगा।

मारुं तो एमां कांई नहीं रे, आप विचारो राज।
राजसभा मां बेसतां रे, किसड़ी बधसी लाज ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मारुं=मेरा। **एमां**=इसमें। **किसड़ी**=कितनी। **बधसी**=बढ़ेगी। **लाज**=मर्यादा-इज्जत।

सामान्य अर्थ

हे प्रियतम ! ठीक है, आप मुझे छोड़ कर जा रहे हो। परन्तु जरा विचार तो करो। जब आप राजसभा में बिराजमान होंग, तब आपकी इज्जत कितनी बढ़ेगी।

विवेचन

राजीमती अब नेमिकुमार को अपने पक्ष में लेने के लिये उनके लाभ की बात कर रही है। वह कहती है कि जब आप राजसभा में विराजमान होंगे, तब पत्नीरहित आपको देखकर लोग क्या विचार करेंगे ? इतने बड़े होने पर भी इनकी शादी नहीं हुई ? इस प्रकार राजसभा में आपकी निन्दा होगी।

आप शादी करने गए और बिना शादी किए ही लौट आए, अतः निष्फल आरम्भ नाम के दोष से क्या आप की इज्जत बढ़ेगी ? अपितु घटेगी । इस निन्दा को आप सहन कर सकोगे ? उस समय आपको पछताना पड़ेगा, इससे तो बेहतर है कि आप यहीं से लौट आओ । इसमें आपकी भी शोभा रहेगी और मेरी भी ।

प्रेम करे जगजन सहु रे, निरवहे ते ओर, मनरा वाला ।
प्रीत करीने छोड़ी दिये रे, तेह शुं न चाले जोर ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

जगजन=जगत् के लोग । **सहु=**सर्व । **निरवहे=**टिकाये रखना । **तेह शुं=**उसके साथ । **न चाले जोर=**जबरदस्ती नहीं चलती है ।

सामान्य अर्थ

जगत् में प्रीति करने वाले तो बहुत होते हैं, परन्तु उसका निर्वाह करने वाले विरल ही पुरुष होते हैं । जो व्यक्ति प्रथम प्रेम करके फिर छोड़ देता है, उनसे कोई जबरदस्ती तो नहीं की जा सकती है ।

विवेचन

`प्रेम' (यह) दो व्यक्तियों के सम्बन्ध को जोड़ता है । जहाँ प्रेम है, वहाँ मैत्री होती है । राजीमती कहती है कि इस दुनिया में प्रेम का प्रारम्भ करने वाले तो बहुत होते हैं, परन्तु अन्त तक उस प्रेम को निभाने वाले विरले ही पुरुष होते हैं । प्रेम को निभाना सरल काम नहीं है, उसके लिए सत्त्व चाहिये, सामर्थ्य चाहिये । सत्त्वशाली पुरुष ही अपने प्रेम का पूर्णतः निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु ऐसे सत्त्वशाली पुरुष तो दुनिया में विरल ही मिलते हैं ।

राजीमती कहती है कि आपने आठ-आठ भवों से मेरे साथ प्रेम का सम्बन्ध तो जोड़ दिया, परन्तु आप इस भव में इस `प्रेम-सम्बन्ध' को निभा नहीं रहे हैं । अतः मैं आपको क्या कहूँ ? सत्त्वशाली अथवा कायर ? दुनिया में आपकी गिनती किसमें करूँ ? प्रेम करके कोई छोड़ दे या तोड़ दे तो उससे जोर या हठ तो नहीं हो सकती है क्योंकि प्रेम हृदय की बात है, जोर-जबरदस्ती की नहीं ।

यदि आप दुनिया के विरल पुरुषों में अपना नाम चाहते हैं तो मेरी प्रार्थना को सुनकर तुरन्त लौट आओ ।

जो मनमां एहवुं हतुं रे, निसपति करत न जाण, मनरा वाला ।
निसपति करीने छोडतां रे, माणस हुवे नुकसान मनरा वाला।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

एहवुं=ऐसा । **निसपति=**प्रेम सम्बन्ध । **जाण=**जान बूझकर । **करीने=**करके । **हुवे=**होता है ।

सामान्य अर्थ

यदि आपके मन में पहले ही मुझे छोड़ देने का निर्णय था तो पिर यह सगाई-सम्बन्ध करना ही नहीं था । सगाई-सम्बन्ध करने के बाद, इसे तोड़ देने में सामने वाले व्यक्ति को नुकसान होता है, अथवा मानवता को हानि पहुँचती है ।

विवेचन

दुनिया में जब किसी का सगाई-सम्बन्ध होता है, और फिर एक पक्ष उस सम्बन्ध को तोड़ देता है तो सामने वाले पक्ष की कितनी हानि होती है ? यह सब हम जानते ही हैं । एक बार सगाई सम्बन्ध टूटने पर अन्यत्र उस सम्बन्ध को जोड़ने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, क्योंकि सम्बन्ध टूटने से लोगों के दिलों में नाना प्रकार की शंका-कुशंकाएँ पैदा हो जाती हैं ।

राजीमती अपने प्रियतम को ठपका दे रही है कि आपके इस प्रकार चले जाने से मुझे कितना बड़ा नुकसान होगा ? दुनिया में मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिल जायेगी । लोग मुझे अलग-अलग शंका-दृष्टि से देखेंगे । मुझे इस प्रकार बेहाल करके आप चले जा रहे हैं ? जरा, विचार तो करो । थोड़ा सोचो और लौट आओ ।

देतां दान संवत्सरी रे, सहु लहे वंछित पोष, मनरा वाला ।
सेवक वंछित नवि लहे रे, ते सेवक नो दोष मनरा वाला ।।9।।

कठिन शब्दों के अर्थ

संवत्सरी=वार्षिक । **वंछित पोष=**इच्छित की पूर्ति ।

सामान्य अर्थ

आप सांवत्सरिक दान प्रदान कर जगत् के दारिद्र्य को दूर करते हैं और सबके मनोवांछित पूर्ण करते हैं, परन्तु आप इस सेविका की ओर तो कुछ ध्यान ही नहीं दे रहे हैं इसमें किसका दोष ? क्या इसमें भी मेरा ही दोष है ?

विवेचन

हर तीर्थंकर परमात्मा दीक्षा लेने के एक वर्ष पूर्व से दान का प्रारम्भ करते हैं और वर्षपर्यंत दान देते रहते हैं। इस दान को `सांवत्सरिक दान' अथवा `वार्षिक दान' कहते हैं। प्रभु ने वार्षिक दान देकर जगत् के बाह्य भौतिक दारिद्र्य का निवारण किया। सब याचकों के मनोवांछित पूर्ण किये, परन्तु राजीमती का अपना मनोरथ पूर्ण न होने के कारण वह प्रभु से शिकायत कर रही है कि दुनिया में सबके मनोरथ पूर्ण करने वाला यदि अपने सेवक के ही मनोरथ को पूर्ण न करे तो उसका दान कैसा ?

हे प्रभो ! आठ-आठ भवों से मैं आपकी चरण सेविका रही हूँ, लेकिन इस भव में आप मेरे इस मनोरथ को पूर्ण नहीं कर रहे हैं। इसमें दोष मेरा ही है न !

यदि आप मेरे मनोरथ को पूर्ण न करो तो आप पूर्ण दाता कैसे कहलाओगे ? यह अवश्य मेरे कर्म का ही दोष है।

सखी कहे `ए सामलो' रे, हुं कहुं लक्षण सेत, मनरा वाला।
इण लखणे साची सखी रे, आप विचारो हेत मनरा वाला।।10।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ऐ=वह। **सामलो=**श्याम वर्ण वाला। **लक्षण-सेत=**लक्षण से श्वेत उज्ज्वल है। **हुँ=**मैं। **इण=**इस। **लखणे=**लक्षण से। **विचारो=**विचार करो।

सामान्य अर्थ

मेरी सखी मुझे कहती थी कि `नेमिकुमार तो श्याम वर्ण के हैं।' तब मैं उनको कहती थी कि `मेरे प्रियतम तो गुण से उज्ज्वल हैं। परन्तु

इस प्रकार मुझे त्याग देने से पता चला कि सखी की बात कितनी सत्य है ! मेरी बात का आप प्रेम से विचार तो करो ।

विवेचन

जब नेमिकुमार शादी के लिए आ रहे थे तो राजीमती की सखियाँ झरोखे में बैठकर नेमिकुमार के आगमन के दृश्य को निहार रही थीं । निकट आने पर सखियों ने देखा कि `यह नेमिकुमार तो श्याम वर्ण का है । तो कुछ नाक-भौंह सिकोड़ती हुई राजीमती के पास आकर कहती हैं कि हे सखि ! तुम्हारा पति तो श्याम वर्ण का है ।

सखियों की यह बात सुनकर राजीमती कहती है कि `तुम तो मात्र रंग को ही देखती हो, गुण को कहाँ देखती हो । मेरे प्रियतम रंग से भले ही श्याम हैं, परन्तु गुण से तो अति उज्ज्वल हैं ।' उस समय राजीमती ने अनेक गुण वाली श्याम वर्णीय वस्तुओं का निरूपण कर सखियों को निरुत्तर कर दिया था ।

परन्तु अब प्रियतम जब चले ही जा रहे हैं, तो उसे अपनी सखी की बात सत्य प्रतीत होती है और वह कहती है कि हे प्रियतम ! आप इस प्रकार मुझे छोड़कर चले जाते हैं, इससे तो सखियों का कथन ही सही सिद्ध होता है कि आप व्रण से जैसे श्याम हैं, वैसे ही गुण से भी श्याम ही हो अर्थात् गुणरहित ही हो । आप मेरी इस बात पर विचार तो करो ।

रागी शुं राग सहु करे रे, वैरागी श्यो राग ? मनरा वाला ।
राग विना किम दाखवो रे, मुगति सुंदरी माग मनरा वाला।।11।।

कठिन शब्दों के अर्थ

रागी शुं=राग वाले के साथ । **सहु करे**=सभी करते हैं । **श्यो**=क्या । **दाखवो**=बताओ । **मुगति सुन्दरी**=मुक्ति रूपी स्त्री । **माग**=मार्ग ।

सामान्य अर्थ

रागी से तो राग सब करते हैं, वैरागी से क्या राग करना और कैसे करना ? अर्थात् नहीं हो सकता है । अब राजीमती कह रही है कि हे स्वामिन् ! मैं आपको वैरागी भी कैसे कहूँ ? आप वैरागी भी नहीं कहला

सकते हैं क्योंकि बिना राग के मुक्तिस्त्री की माँग भी संभव नहीं है । अर्थात् आप वैरागी भी नहीं है ।

विवेचन

दुनिया में प्रेम करने वाले के साथ ही सभी कोई प्रेम करते हैं, परन्तु वैरागी के साथ तो प्रेम कैसे हो सकता है ? अपने आपको वैराग्य-वासित मानकर राजीमती यह प्रश्न खड़ा कर रही है कि–हे प्रियतम ! यदि आप सचमुच में वैरागी हो तो फिर मुक्ति-स्त्री के साथ क्यों प्रेम कर रहे हो ? उसकी ओर आगे क्यों बढ़ रहे हो ? और उसको पाने का मार्ग क्यों बतला रहे हो ?

यदि आप रागी हो तो फिर मुक्ति स्त्री को पकड़ने के लिए मेरी उपेक्षा क्यों करते हो ? रागी होने पर मेरी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, अतः हे प्रियतम ! आप लौट आओ ।

एक गुह्य घटतुं नथी रे, सघलो ये जाणे लोक, मनरा वाला ।
अनेकांतिक भोगवे रे, ब्रह्मचारी गत रोग मनरा वाला ।।12।।

कठिन शब्दों के अर्थ

गुह्य=गुप्त । **घटतुं नथी=**व्यवस्थित नहीं है । **सघलो=**सम्पूर्ण । **जाणे=**जानता है । **अनेकांतिक=**अनेकांतिक व्यवस्था । **भोगवो=**भोग करते हो । **गत रोग=**रोग रहित ।

सामान्य अर्थ

एक गुप्त बात आपके लिए उचित नहीं है जिसे सब लोग जानते हैं, वह यह है कि आप जैसे वैरागी-ब्रह्मचारी को भी राग-भोग है । वीर्यांतराय के क्षय रूप गतरोग (नीरोग-हृष्ट-बलवान) हो जाने पर आत्मा ज्ञानादि अनेक गुणों के भोग रूप अनेकांतिक भोग करती है ।

विवेचन

राजीमती नेमिकुमार को ठपका दे रही है कि आप दुनिया में ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध हो । लेकिन ब्रह्मचारी तो वही कहला सकता

है जो ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण पालन करता हो, परन्तु आप तो वीर्यांतराय का सम्पूर्ण क्षय कर सतत आत्मा के ज्ञानादि गुणों का भोग कर रहे हैं ।

आप समझते होंगे कि मेरी इस बात को कोई नहीं जानता है, परन्तु यह तो जग-जाहिर बात है, सब कोई इस बात को जान रहे हैं । तो फिर मेरे साथ आप प्रीति क्यों नहीं कर रहे हो ? हे प्रियतम ! आप लौट आओ ।

जिण जोणी तुमने जोउं रे,
तिण जोणे जुवो राज, मनरा वाला ।
एक बार मुज ने जुवो रे,
तो सिज्झे मुज काज मनरा वाला ।।13।।

कठिन शब्दों के अर्थ

गाथा 13 :– जिण=जो, जिस । **जोणी**=दृष्टि, देखने की रीति । **जोउं रे**=देखती हूँ । **तिण जोणी**=उस देखने की रीति से, दृष्टि से । **जुवो**=देखो । **राज**=हे राजकुमार । **मुजने**=मुझको । **सीजे**=सिद्ध होगा । **मुज**=मेरा । **काज**=कार्य ।

सामान्य अर्थ

हे प्रियतम ! जिस राग-प्रेम द्रष्टि से मैं आपको देख रही हूँ, उसी राग-प्रेम द्रष्टि से आप भी मुझे एक बार देख लो । यदि आप ऐसा करोगे तो मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे ।

विवेचन

राजामीती देखती है कि नेमिकुमार ने तो अब रथ मोड़ ही दिया है और उनके लौटने की थोड़ी भी संभावना नहीं है तो अन्त में वह अपनी अर्ज करती है कि हे स्वामिनाथ ! मैं आपको जिस प्रेम भरी द्रष्टि से देख रही हूँ, कृपा कर एक बार तो मुझे उस द्रष्टि से देख लो, तो भी मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे । मैं अपने आपको धन्य मानूंगी ।

मोह दशा धरी भावना रे, चित्त लहे तत्त्व-विचार, मनरा वाला ।
वीतरागता आदरी रे, प्राणनाथ निरधार मनरा वाला ।।14।।

कठिन शब्दों के अर्थ

मोह दशा=मोहनीय कर्म के उदय की परिणति । **धरी=**धारण करके । **भावना रे=**चिंता करके । **चित्त=**मन । **लहे तत्त्व विचार=**वास्तविक स्वरूप का विचार ग्रहण करता है । **आदरी=**धारण कर ली है ।

सामान्य अर्थ

हे प्राणनाथ ! अब तक तो मैं मोहदशा को धारण करके आपसे इस प्रकार की प्रार्थनाएँ कर रही थी, परन्तु अब मुझे वस्तु-स्थिति का ख्याल हो आया है कि आपने वीतरागता को स्वीकार किया है ।

विवेचन

राजीमती अब तक मोहदशा में थी, वह नेमिकुमार को प्रियतम के रूप में पाना चाहती थी और इसी कारण उसने नेमिकुमार को लौटने के लिए अनेकविध प्रार्थनाएँ कीं, लेकिन जब नेमिकुमार नहीं लौटे तो फिर उसे भी तत्त्व-चिंतन हो आया ।

नेमिकुमार के अंतरंग को वह पहिचान पाई और उसे वस्तुस्थिति का यथार्थ ख्याल हो आया । वह विचार करती है कि अहो ! नेमिकुमार तो जन्म से विरागी हैं, वे तो राग-द्वेष रूप शत्रुओं का नाश करने के लिए ही पैदा हुए हैं, अतः संसार सम्बन्ध को जोड़कर वे राग की पुष्टि कैसे कर सकते हैं !

राजीमती विचारती है कि नेमिकुमार के हृदय में किसी प्रकार का राग-भाव नहीं है । इसी कारण उन्होंने वीतरागता के पंथ की ओर प्रयाण किया है ।

सेवक पण ते आदरे रे, तो रहे सेवक माम, मनरावाला ।
आशय साथे चालिये रे, एहिज रुडुं काम मनरा वाला ।।15।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सेवक पण=यह (दासी) भी । **रहे=**सुरक्षित रहता है । **माम=**महत्त्व । **आशय साथे=**अभिप्राय के अनुसार । **एहीज=**यही । **रुडुं=**अच्छा ।

सामान्य अर्थ

अब तो मेरी भी प्रतिष्ठा इसी में है कि मैं भी स्वामी के द्वारा अपनाये मार्ग को अपनाऊँ। उसी में मेरा सेवकपना सार्थक है। स्वामी के आशय-अभिप्राय के साथ चलना, उसको अनुसरना यही अच्छा काम है।

विवेचन

सच्ची सेवकता वही है कि सेवक, स्वामी के कार्य का अनुसरण करे। राजीमती विचार करती है कि मेरे स्वामी ने तो वीतरागता का पंथ अंगीकार कर लिया है। अतः मेरी सच्ची सेवकता इसी में है कि मैं भी प्रभु के पंथ का अनुसरण करूँ। इस प्रकार राजीमती की मोह दशा दूर हो जाती है। तत्त्वज्ञान के गहन चिंतन में डूब कर वह भी प्रभु के पथ को अपनाने का निर्णय करती है।

त्रिविध जोग धरी आदर्यो रे, नेमनाथ भरतार, मनरावाला।
धारण पोषण तारणो रे, नवसर मुगताहार मनरा वाला ।।16।।

कठिन शब्दों के अर्थ

त्रिविध=तीन प्रकार का। **जोग=**एकाग्रता (मन वचन, काया से)। **धरी=**धारण करके। **भरतार=**पति। **नवसर=**धारक-पोषक-तारकता त्रयी को योग त्रिक से गुणन करने पर नवसर। **मुगताहार=**मुक्ताहार।

सामान्य अर्थ

मैंने मन, वचन और काया से नेमिनाथ को पति के रूप में स्वीकार किया है, अतः अब वे ही मेरे धारक हैं, पोषक हैं और तारक हैं। वे तो मेरे लिए नवसरा (धारकतादि 3 X 3 योगत्रिक = 9) मोती के हार हैं।

विवेचन

सती स्त्री जीवन में एक ही बार अपने पति का चयन करती है। फिर अपने मन-वचन और काया उसी के चरणों में समर्पित कर देती है।

राजीमती भी कहती है कि मैंने भी नेमिकुमार को अपने पति के रूप में स्वीकार कर लिया है, अब मैंने अपने मन-वचन और काया को उन्हीं

के चरणों में सौंप दिया है । अब मैं अन्य को पति रूप में नहीं स्वीकार सकती हूँ ।

कारण रूपी प्रभु भज्यो रे,
गण्यो न काज अकाज, मनरा वाला ।
कृपा करी मुज दीजिए रे,
आनन्दघन पद राज मनरावाला ।।17।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कारण रूपी=साध्य वस्तु के हेतुभूत । **भज्यो रे=**सेवा की है । **गण्यो न काज-अकाज=**कार्य-अकार्य को गिना नहीं है । **आनन्दघन=**आनन्द के समूह रूप मोक्ष ।

सामान्य अर्थ

मैंने तो अपने वीतराग भाव में निमित्त कारणभूत नेमिनाथ प्रभु की आराधना की है । इसमें मैंने कार्य-अकार्य का विवेक नहीं किया है, अतः हे नाथ ! कृपा करके आनंद के समूह से भरपूर मुक्तिपद प्रदान करो ।

विवेचन

राजीमती कहती है कि इस प्रकार कार्य-अकार्य का विवेक किये बिना मैंने प्रभु की आराधना की है । हे नाथ ! मुझ पर आप कृपा करो और आनन्द का समूह रूप मोक्षपद प्रदान करो । स्वामी वही कहलाता है जो सेवक की इच्छा पूर्ण करे, आप मेरे स्वामी हैं, अतः कृपा कर मुझे भी मोक्षपद प्रदान करो ।

तेईसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

प्रस्तुत स्तवन में आनन्दघनजी ने पार्श्वनाथ प्रभु की सर्वज्ञता का उल्लेख किया है । 'सर्वज्ञता' को केन्द्र में रखकर ही इस स्तवन की रचना हुई है ।

प्रभु सर्वज्ञ हैं, लोकालोक के सर्व पदार्थों की सर्व पर्यायों के ज्ञाता हैं, परन्तु वादी अनेक प्रश्न करता है । पर-द्रव्य में आत्मा के परिणमन के बिना पर-पदार्थ का ज्ञान कैसे सम्भव है ? आदि-आदि प्रश्नों की चर्चा कर अन्त में उन सबका सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है ।

पार्श्वनाथ प्रभु ध्रुवपदरामी अर्थात् अजरामर मोक्षपद में रमण करने वाले हैं । उनकी यह रमणता अलौकिक है ।

अन्त में, योगिराज प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! आप तो ऐसे पारस हो कि आपके सम्पर्क से हमारी आत्मा भी पारस बन जायेगी । अतः आपका सान्निध्य प्रदान करो ।

23

श्री पार्श्वनाथ जिन-स्तवन

(राग : सारंग, रसियानी)

ध्रुवपदरामी हो स्वामी ! माहरा, निःकामी गुणराय, सुज्ञानि ।
निजगुणकामी हो पामी तूं धणी, ध्रुव आरामी हो थाय,
।। सुज्ञानि०...1।।

सर्व व्यापी कहे सर्व जाणग पणे, पर परिणमन स्वरूप, सुज्ञानि ।
पर रूपे करी तत्त्वपणू, नहि, स्व सत्ता चिद् रूप,
।। सुज्ञानि०...2।।

ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जल भाजन रवि जेम, सुज्ञानि ।
द्रव्य एकत्वपणे गुण एकता, निज पद रमता हो खेम,
।। सुज्ञानि०...3।।

परक्षेत्रे गत ज्ञेय ने जाणवे, परक्षेत्री थयुं ज्ञान, सुज्ञानि ।
अस्तिपणुं, निजक्षेत्रे तुमे कह्यो, निर्मलता गुण मान,
।। सुज्ञानि०...4।।

ज्ञेय विनाशे हो ज्ञान विनश्वरु, काल प्रमाणे थाय, सुज्ञानि ।
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पर रीते न ज्ञाय,
।। सुज्ञानि०...5।।

पर भावे करी परता पामता, स्वसत्ता थिर ठाण, सुज्ञानि ।
आत्म चतुष्कमयी परमां नहि, तो केम सहुनो रे जाण,
।। सुज्ञानि०...6।।

अगुरुलघु निज गुण ने देखतां, द्रव्य सकल देखत, सुज्ञानि ।
साधारण गुणनी साधर्म्यता, दर्पण-जल नो द्रष्टांत,
।। सुज्ञानि०...7।।

श्री पारस जिन पारस समो, पण इहां पारस नांहि, सुज्ञानि ।
पूरण रसियो हो निज गुण पारसनो, आनंदघन मन मांहि,
।। सुज्ञानि०...8।।

ध्रुवपदरामी हो स्वामी ! माहरा, नि:कामी गुणराय, सुज्ञानि ।
निजगुणकामी हो पामी तूं धणी, ध्रुव आरामी हो थाय, सुज्ञानि।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ध्रुव पद=अचल स्थान । **रामी=**रमण करनेवाला । **नि:कामी=**कामना-रहित । **गुणराय=**गुणों से शोभित हो । **सुज्ञानि=**केवल ज्ञान वाले हैं । **निज गुण=**आत्म गुण । **कामी हो=**रमण करनेवाले हो । **पामी तूं धणी=**आपको स्वामी रूप में पाकर ।

सामान्य अर्थ

निश्चल-शाश्वत पद में रमण करने वाले हे मेरे पार्श्वनाथ प्रभो ! आप निष्काम-कामनारहित हो । आत्मा के अनंत गुणों के राजा हो । आप सुन्दर केवलज्ञान के धारक हो । आत्म-गुणों को प्राप्त करने की इच्छा वाला कोई भी व्यक्ति यदि आपको स्वामी बना लेता है, तो वह शाश्वत सुख में रमण करने वाला बन जाता है ।

विवेचन

सर्व घाती-अघाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर मोक्षपद को प्राप्त करने वाले पार्श्वनाथ प्रभु ध्रुव-पद में रमण करने वाले हैं । एक मात्र मोक्ष ही ध्रुव-पद अर्थात् निश्चलपद है, दुनिया के सभी पद अध्रुव-चंचल हैं । इस संसार में आत्मा की स्थिति परिवर्तनशील है, वह किसी भी भव या भाव में शाश्वत काल तक नहीं रह सकती है । इस संसार में आत्मा कभी चक्रवर्ती बनती है, तो कभी रंक । कभी इन्द्र बनती है तो कभी नारक ।

आत्मा के लिए शाश्वत जीवन एक मात्र मोक्ष में ही है । पार्श्वनाथ प्रभु ने वह शाश्वत स्थान प्राप्त किया है, अत: वे ध्रुवपद में रमण करने वाले हैं । पार्श्वनाथ प्रभु निष्काम हैं, उनमें किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं है । इच्छा मोह का परिणाम है, जब तक आत्मा मोहाधीन होती है, तभी तक उसमें किसी-न-किसी प्रकार की इच्छा पाई जाती है, परन्तु जब आत्मा वीतराग बन जाती है, उसके बाद उसे किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती है । पार्श्वनाथ प्रभु वीतराग होने के कारण निष्काम हैं ।

पार्श्वनाथ प्रभु अनन्त गुणों के स्वामी होने से गुणों के राजा भी हैं। जब आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त बन जाती है, तब उसमें अनंत गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। पार्श्वनाथ प्रभु उन अनंत गुणों के स्वामी हैं।

जिस आत्मा में अपने गुणों के विकास की उत्कंठा रही हुई है, वह आत्मा पार्श्वनाथ प्रभु को पाकर अपने गुणों का विकास कर सकती है। पार्श्वनाथ प्रभु पारस तुल्य हैं, जो लोह स्वरूपी संसारी आत्मा को परमात्मा बना देता है। जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा सुवर्ण बन जाता है, उसी प्रकार पार्श्वनाथ प्रभु को पाकर संसारी आत्मा भी मुक्तात्मा बन सकती है। आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति पार्श्वनाथ प्रभु में रही हुई है।

सर्व व्यापी कहे सर्व जाणगपणे, पर परिणमन स्वरूप, सुज्ञानि।
पर रूपे करी तत्त्वपणू, नहि, स्व सत्ता चिद् रूप, सुज्ञानि ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

सर्वव्यापी=सर्व वस्तुओं में व्यापक। **सर्व जाणगपणे=** सर्व वस्तु के ज्ञाता होने से। **पर-परिणमन=**पर वस्तु में, ज्ञानादि उपयोग में ज्ञेयात्मक पर पदार्थों का प्रतिबिंबित होना मात्र है। **पर रूपेकरी नहिं=** किन्तु पररूप होकर पर पदार्थों में व्यापक होना तात्त्विक नहीं है। **स्व सत्ता चिद्रूप=**क्योंकि स्व अर्थात् आत्मसत्ता ज्ञानरूप है जिसकापर आत्मा में एवं जड़ पदार्थों में होना संभव नहीं है।

सामान्य अर्थ

जगत् के त्रिकालवर्ती स्वरूप को आप साक्षात् जानते हैं, इस अपेक्षा से आप सर्वव्यापी, विश्वव्यापी हो। सर्व विषयक जानकारी ही सर्व व्यापकता है। इस बात की स्पष्टता अगले चरण से करते हैं–पर परिणमन स्वरूप ज्ञान में विषय रूप से सर्व पदार्थों का परिणाम पाने स्वरूप सर्व व्यापकता दृष्ट है किन्तु पर-रूप होकर स्वयं का घट-पट रूप होकर तथा अन्य आत्मरूप से होकर सर्व व्यापक होना तात्त्विक नहीं है, क्योंकि स्वकीय आत्मसत्ता ज्ञान रूप है, जिसका घट-पटादि में होना बिल्कुल संभव नहीं है। पर द्रव्य में परिणमन रूप मानने पर तो वह आत्मा स्व स्वरूप में रह ही न सकेगी।

विवेचन

आत्मा में जब केवलज्ञान गुण प्रगट होता है, तब वह विश्व के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष देखती है। विश्व के समस्त ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता होने से परमात्मा को एक अपेक्षा से विभु अर्थात् विश्वव्यापी कहा गया है, परन्तु परमात्मा विश्व के रूप में परिणत नहीं होते हैं।

कोई दर्शन आत्मा को विश्वव्यापी मानकर आत्मा की सर्वज्ञता स्वीकार करता है। उसका यह कहना है कि यदि आत्मा विश्वव्यापी नहीं होगी तो वह सुदूरवर्ती पदार्थों को कैसे जान सकेगी ? परन्तु जैनदर्शन इस मान्यता का खंडन करता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव के अनुसार विश्व के समस्त ज्ञेय पदार्थों को जान सकती है, जैनदर्शनानुसार आत्मा स्वदेह प्रमाण है। कर्ममुक्त बन जाने के बाद भी आत्मा विश्वव्यापी नहीं बनती है, बल्कि अपने अंतिम देह के प्रमाण के 2/3 भाग की अवगाहना में वह चौदह राजलोक के अग्र भाग पर रहती है।

जिस प्रकार दीपक या घड़े को जानते समय आत्मा दीपक या घट स्वरूप नहीं बन जाती है, उसी प्रकार विश्व के समस्त पदार्थों को जानते समय आत्मा विश्वरूप नहीं बन जाती है। यदि आत्मा पर-भाव में बदल जाय, तब तो उसकी तात्त्विक अवस्था रह ही नहीं सकती है। पर-भाव में परिणमन से तो आत्मा में राग-द्वेष का ही जन्म होता है। जैनदर्शन के अनुसार तो आत्मा की सत्ता ज्ञान स्वरूप ही है। उसे अनंतज्ञान की अपेक्षा से लोकालोकप्रकाशक और विभु स्वीकार सकते हैं, परन्तु आत्मा को सर्व व्यापी और पर-परिणति के रूप में स्वीकार करना तो केवल भ्रांत कल्पना ही है।

ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जल भाजन रवि जेम सुज्ञानि।
द्रव्य एकत्वपणे गुण एकता, निज पद रमता हो खेम, सुज्ञानि।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ज्ञेय अनेके=विषयरूप ज्ञेय अनेक रूप होने से। **ज्ञान अनेकता=**विषयी ज्ञेयभेद से अनेक रूप है। **जल भाजन रवि जेम=**विभिन्न जलपात्रों में अनेक रूप से प्रतिबिंबित सूर्य की तरह। **द्रव्य एकत्वपणे=**द्रव्य का एकत्व

रूप । **गुण एकता=**गुण की भी एकता । **निज पद=**स्वस्वरूप में । **रमता=**रमण करते हुए । **खेम=**क्षेम-कुशलता (रक्षण करना, धारण करना)

सामान्य अर्थ

विश्व में ज्ञेय पदार्थ अनेक हैं जो ज्ञान का विषय बन सकते हैं । कोई शंका करता है कि ज्ञेय की अनेकता के अनुसार ज्ञान भी अनेक हो जायेगा, इस बात का यहाँ समाधान करते हैं । घट-पट मठ रूप विभिन्न ज्ञेय विषयक अथवा सकल ज्ञेय विषयक एक ज्ञान भी कथंचित् ज्ञेयभेद से अनेक रूप है । यहाँ दृष्टांत है—प्रकाशक ज्ञान रूप सूर्य एक होने पर भी ज्ञेय रूप-प्रकाश्य रूप विविध जल-भाजनों की अपेक्षा विविधता को पाता है ।

एक में अनेकता को सिद्ध कर अब अनेक में एकता का प्रतिपादन करते हैं । घट-पट मठादि अनेक द्रव्यों में भी अथवा सकल ज्ञेयगत अनेकता में भी प्रत्येकगत एकत्व गुण की अपेक्षा एकता भी है । इसी बात को द्रष्टांत से कहते हैं—सिद्धपद पाने पर अनेक सिद्ध आत्माएँ जो स्वगत समान सिद्धत्व गुण को धारण करती हुई स्वभाव में रहती हैं, वे सर्व आत्माएँ सिद्धत्व की अपेक्षा कथंचित् एक हैं ।

विवेचन

कोई शंकाकार प्रश्न करता है कि दुनिया में जब ज्ञेय पदार्थ अनेक हैं तो आत्मा का ज्ञान भी अनेक होना चाहिये । एक ही ज्ञान के द्वारा अनेक ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान कैसे संभव है ?

इसका समाधान करते हुए योगिराज फरमाते हैं कि द्रव्य की एकता के कारण आत्मा के ज्ञान गुण की भी एकता ही है । जिस प्रकार जल से भरे हुए अनेक पात्रों में अनेक सूर्य दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तव में तो आकाश में एक ही सूर्य होता है । भिन्न 2 पात्रों में जो भिन्न 2 सूर्य दिखाई देते हैं, वह तो आभास रूप ही है । उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ की अनेकता के अनुसार पर्यायार्थिक नय से ज्ञान में अनेकता का स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से तो ज्ञान गुण में एकता ही है । जिस प्रकार एक ही दीपक अनेक पदार्थों को प्रकाशित करता है,

उसी प्रकार एख ही ज्ञान अनेक ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है । अनेक पदार्थों को प्रकाशित करने से जिस प्रकार दीपक में अनेकता नहीं आ जाती है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों को प्रकाशित करने मात्र से ज्ञान में अनेकता नहीं आती है ।

आत्मद्रव्य की एकता होने से उसके ज्ञानादि गुणों में भी एकता ही है । अपने आत्म स्वरूप में रमण करने में ही आत्मा की कुशलता है । पर-भाव में रमण करने में आत्मा की कुशलता नहीं है । पर-भाव में रमण से तो आत्मा भवबन्धन से ग्रस्त ही बनती है ।

परक्षेत्रे गत ज्ञेय ने जाणवे, परक्षेत्री थयुं ज्ञान, सुज्ञानि ।
अस्तिपणुं, निजक्षेत्रे तुमे कह्यो, निर्मलता गुण मान, सुज्ञानि ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

परक्षेत्रे=दूसरे के क्षेत्र में । **गत=**रहे हुए । **ज्ञेय ने=**जानने योग्य पदार्थ । **अस्तिपणुं=**स्व सत्ता । **निज क्षेत्रे=**स्व क्षेत्र में । **निर्मलता गुणमान=**वीतरागता गुण प्रमाण है ।

सामान्य अर्थ

केवलज्ञान, लोकालोक विषयक है अर्थात् सर्वक्षेत्रगत है । गाथा में शंका करते हैं कि स्वक्षेत्र में–स्वात्मा में रहा ज्ञान परक्षेत्र में रहे द्रव्य विषयक हो, यह बात कैसे मानी जाय ? नहीं मानने में हेतु बताते हैं–हे जिनेश्वर ! आपने ही कहा है कि स्व का अस्तित्व स्वक्षेत्र में ही है तो स्वक्षेत्र स्वात्मा में रहे ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेयगत कैसे मानें ? क्योंकि ज्ञेयपदार्थ तो ज्ञानक्षेत्र-आत्मा से भिन्न क्षेत्र में हैं ।

यहाँ शंका करे कि जिनेश्वर के कथन की सत्यता में क्या प्रमाण है ? तो इसका समाधान है-निर्मलता गुण वीतरागता गुण ही प्रमाण है ।

विवेचन

किसी एक दर्शन की अपनी मान्यता के अनुसार ज्ञान तभी पदार्थ को जान सकता है, जब वह ज्ञेय के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है अर्थात् ज्ञान ज्ञेय को प्राप्त करके ही पदार्थ का बोध करता है, परन्तु जैनदर्शन की यह मान्यता नहीं है । जैनदर्शन के अनुसार ज्ञेय पदार्थ को जानने के लिए

आत्मा को ज्ञेय क्षेत्र में जाने की आवश्यकता नहीं रहती है। आत्मा अपने अवगाही क्षेत्र में रहकर भी दूर रहे समस्त ज्ञेय पदार्थों को जान सकता है। जब आत्मा पर से ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण विलयन हो जाता है, तब आत्मा में निर्मल ज्ञान प्रगट होता है और आत्मा सर्व क्षेत्रगत सर्व पदार्थों को साक्षात् जान सकती है, इस हेतु उसे परक्षेत्र में प्रवेश की आवश्यकता नहीं रहती है। अर्थात् ज्ञेय को जानने के लिए न तो ज्ञान को ज्ञेय–क्षेत्र में जाना पड़ता है और न ही ज्ञेय ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है।

ज्ञेय विनाशे हो ज्ञान विनश्वरु, काल प्रमाणे थाय, सुज्ञानि।
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पर रीते न ज्ञाय, सुज्ञानि ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ज्ञेय विनाशे=ज्ञेय का नाश होने से। **विनश्वरु=**नाशवंत। **स्व काले करी=**अपने काल में।

सामान्य अर्थ

काल के विषय में शंका करते हुए बतलाते हैं कि जब ज्ञेय पदार्थ कालानुसार विनाश पाता है तब ज्ञेय विषयक ज्ञान में भी विनश्वरता की आपत्ति आती है अर्थात् भूतकालीन ज्ञेय का ज्ञान न होने की आपत्ति। उपलक्षण से ज्ञेय जो उत्पन्न ही नहीं हुआ है, तद्विषयक ज्ञान भी न होने की आपत्ति, जो त्रिकालविषयक केवलज्ञान में इष्ट नहीं है।

आगे और भी असमंजस खड़ा करते हैं `स्व-काले' ज्ञानकाल में ज्ञान की सत्ता जो नित्य है, वह पररीति-ज्ञेय के विनाश से कैसे विनष्ट हो सकती है अर्थात् विनाश को नहीं पाती है।

विवेचन

आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव के द्वारा ज्ञेय पदार्थों का बोध करती है। आत्मा जिस वस्तु का ज्ञान करती है उसमें उपयोग तदाकार हो जाता है। घट के ज्ञान समय आत्मा का उपयोग घटाकार हो जाता है और जब आत्मा पट का ज्ञान करती है, तब उसका घटाकार उपयोग नष्ट हो जाता है और पटाकार उपयोग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ज्ञेय के बदलने

से आत्मा के ज्ञान पर्याय में भी परिवर्तन आता है। ज्ञान आत्मा का मूल गुण है, जो आत्मा की सहभावी पर्याय है। ज्ञान गुण के क्रमभावी पर्याय में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इससे आत्मा का ज्ञानगुण नष्ट नहीं हो जाता है। काल के परिवर्तन के साथ मात्र उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य है। क्योंकि किसी भी वस्तु के पर्याय में परिवर्तन होने मात्र से उस वस्तु का सर्वथा नाश नहीं हो जाता है, बल्कि द्रव्य रूप में तो वह वस्तु सदा कायम रहती है। यहाँ शंकाकार शंका करते हैं कि केवलज्ञान के द्वारा भूतकालीन ज्ञेय पदार्थ का बोध कैसे हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ तो वर्तमान में विद्यमान ही नहीं है और इसी न्याय से भविष्यत्कालीन पदार्थ जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः उसका भी ज्ञान कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ज्ञान काल में ज्ञान की सत्ता नित्य होने से ज्ञेय के नाश से उसका नाश नहीं होता है।

पर भावे करी परता पामता, स्वसत्ता थिर ठाण, सुज्ञानि।
आत्म चतुष्कमयी परमां नहि, तो केम सहुनो रे जाण, सुज्ञानि ॥6॥

कठिन शब्दों के अर्थ

परभावे करी=पर पदार्थों का ज्ञान करने वाली आत्मा। **परता=**अन्यत्व, परभाव, परसत्ता, **भाव=**सत्ता। **पामता=**प्राप्त होने पर। **स्वसत्ता=**आत्म सत्ता। **थिर ठाण=**अपना स्थान स्थिर रखने में है। **केम सहु नो रे जाण ?=**इस प्रश्न से जानने में हेतु रूप ज्ञानादि चतुष्क की संभावना प्रबल है। **आत्म चतुष्कमयी=**आत्मा के द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव रूप चार की सत्ता अथवा अनंतज्ञानादि चतुष्कमयी सत्ता।

सामान्य अर्थ

भाव को लेकर यहाँ शंका करते हुए कहते हैं-परभाव विषयक ज्ञान से, तन्मयता से आत्मा में जो परता आती है, वह भी कैसे मानें ? क्योंकि परविषयक ज्ञान-समय में भी आत्मा की अथवा ज्ञान की स्वसत्ता अपने स्थान में स्थिर है ही स्वसत्ता के अस्तित्वकाल में परसत्ता को कैसे मानें ? एवं स्वात्मगत अनंतज्ञाना-दिचतुष्कमयी स्वसत्ता परद्रव्य में जब नहीं है तो

वह केवलज्ञानी या सिद्धात्मा सर्वविषयक ज्ञानी कैसे हो सकता है ?

विवेचन

ज्ञेय पदार्थों को जानते समय आत्मा का उपयोग तत्स्वरूप बन जाता है, फिर भी आत्मा की स्वसत्ता तो कायम रहती है। प्रत्येक वस्तु स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल तथा स्व-भाव की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से नास्ति रूप है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि आत्मा जब पर द्रव्यादि की अपेक्षा से नास्ति रूप है तो वह सर्व पदार्थों की ज्ञाता कैसे बन सकती है ? इस बात का समाधान आगे की गाथा में किया गया है।

अगुरुलघु निज गुण ने देखतां, द्रव्य सकल देखत, सुज्ञानि।
साधारण गुणनी साधर्म्यता, दर्पण-जल नो दृष्टांत, सुज्ञानि।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

अगुरुलघु=अगुरुलघु गुण (सहभावी)। **निजगुण=**आत्म गुण। **साधारण गुणनी=**सर्व सामान्य गुण की। **साधर्म्यता=**सद्रशता। **दर्पण जल दृष्टांत=**दर्पण एवं जल में जैसे प्रतिबिंब पड़ता है।

सामान्य अर्थ

उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं कि आत्मा का एक गुण `अगुरुलघु' है। आत्मा अपने इस गुण को देखते हुए सम्पूर्ण परद्रव्यों को देखता है। जिस प्रकार दर्पण और जल में वस्तुएँ प्रतिबिंबित होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय प्रतिभासित होता है।

विवेचन

केवली भगवन्त कैवल्य के उत्पन्न होते ही अपने अगुरुलघु गुण को देखने लगते हैं। यह गुण जीवाजीव सर्व द्रव्यों में समान रूप से है, अतः इसी गुण के माध्यम से केवलज्ञानी भगवन्तों को सर्व जीवाजीव द्रव्यों का ज्ञान हो जाता है एवं दर्शन हो जाता है। यह अगुरुलघु गुण संभव है जब तक क्षेत्रविषयक होना चाहिए। इस गुण का यदि ज्ञान से संबंध है तब संभव है– (1) जहाँ जीवाजीव पदार्थ हैं, उसे लोक कहते हैं। (2) जो न

ही एक आकाशप्रदेश समान अत्यंत लघु है और न ही अनंताकाश लोकालोक आकाश के समान अत्यंत गुरु है, अत एव स्व अगुरुलघु गुण के ज्ञान से स्व तुल्य समस्त जीवाजीव पदार्थों में रहे इस गुण का जब ज्ञान हो जाता है तब इस गुणविषयक सम्पूर्ण लोकाकाश रूप क्षेत्र का भी ज्ञान हो जाता है ।

यहाँ शंका हो सकती है कि लोकाकाश का ही ज्ञान क्यों कहा गया, अलोकाकाश का क्यों नहीं ? समाधान है–अलोकाकाश में उससे अन्य जीवाजीव द्रव्य हैं ही नहीं, तब उनके ज्ञान का भी प्रश्न नहीं उठता है–मूलं नास्ति कुतः शाखा । पर में रहे इसी अगुरुलघु का ज्ञान कैसे हो ? इस बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं–स्व पर में रहा हुआ यह साधारण गुण है । साधारण गुण में रहे साधर्म्य-समान धर्मिता के कारण धर्मी ऐसे अगुरुलघु गुण का भी ज्ञान हो जाता है, अब इस गुण के ज्ञान से ज्ञानगत ऐसी कौनसी खूबी है जिससे द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान हो जाय ? इसे बताने के लिए दर्पण-जल का दृष्टान्त देते हैं–जैसे दर्पण और जल में निर्मलतादि गुणों के कारण अपने सामने आए पदार्थों को प्रतिबिंबित करने की योग्यता स्वभाव से होती है, वैसे ही सर्व जीवाजीव पदार्थों में रहे अगुरुलघु गुण में भी योग्यता समझे, जिससे सर्वविषयक ज्ञान हो जावे ।

श्री पारस जिन पारस समो,
पण इहां पारस नांहि, सुज्ञानि ।
पूरण रसियो हो निज गुण पारसनो,
आनंदघन मन मांहि, सुज्ञानि ।।8।।

कठिन शब्दों के अर्थ

श्री पारस जिन=श्री पार्श्वनाथ भगवान । **पारससमो=** पारसमणि के समान । **पूरण रसियो=**पूर्ण रस से भरपूर । **निज गुण पारस नो=**पार्श्व के स्व गुण । **आनंदघन=**आनंद का समूह । **मन मांहि=**मेरे अन्दर ।

सामान्य अर्थ

हे पार्श्वनाथ प्रभो ! आपको पारसमणि के समान कहा जाता है। पारसमणि के स्पर्श से लोहा सुवर्ण बन जाता है। लेकिन आप वैसी पारसमणि नहीं हो, आप तो परिपूर्ण पारस हो, आत्मगुणों में लीन हो। ऐसे गुण प्रकर्षवान प्रभुजी के सम्बन्ध के प्रभाव से मेरी आत्मा भी आनन्द के समूह से भरपूर है।

विवेचन

क्या आपने पारसमणि को देखा है ? देखा नहीं तो उसके बारे में सुना जरूर होगा। ऐसा सुनने में आता है कि पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। पारसमणि जड़ होने पर भी उसमें कितनी बड़ी शक्ति है। एक नगण्य कीमत वाले लोहे को भी कीमती स्वर्ण बना देता है। परन्तु मेरे पार्श्व प्रभु तो उससे भी बढ़कर हैं। वे जड़ नहीं चैतन्य स्वरूपी हैं और उनके सम्पर्क में आने वाले तो स्वयं पारसमय बन जाते हैं। पार्श्वप्रभु के सान्निध्य में आने वाला प्रभु के ध्यान में तन्मय रहने वाला स्वयं पार्श्वमय बन जाता है। पार्श्वनाथ प्रभु आत्मा के पूर्ण रस में निमग्न हैं। अर्थात् पूर्ण समता रस से भरपूर हैं। अरे ! पारसमणि तो जड़ पत्थर है उसके स्पर्श से तो लोहा स्वर्ण ही बनता है, जबकि पार्श्वप्रभु के संग से तो आत्मा परमात्म रूप बन जाती है।

अन्य अर्थ—हे पार्श्वजिन ! आप तो पारस समान हैं परन्तु यहाँ इस भरत क्षेत्र में अब आप जैसा कोई पारस नहीं है। अथवा यहाँ मेरी आत्मा में आपका परस-स्पर्श नहीं हो रहा है, अतः मैं लोह समान ही रहा। आगे कह रहे हैं कि हे प्रभो ! आप पारस होकर भी अपने ज्ञानादि गुणों के स्पर्श में पूर्ण रसिक हैं। अतः आप मेरी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं जिससे मैं लोहा ही रहा। अथवा दूसरे विकल्प को लेकर कवि कह रहे हैं कि हे प्रभो ! आप ऐसा न मानें कि मुझे पारस बनने में रस नहीं है, मैं तो पूर्ण रसिक हूँ जिनगुणस्पर्शन का और जानता भी हूँ कि आपका आनन्दघन स्वरूप मुझ में भी है। अब कृपा कीजिए ताकि स्पर्श अनुभव हो जाय।

चौबीसवाँ स्तवन

पूर्व भूमिका

युद्धभूमि में लड़ना हो तो बाह्य-शारीरिक बल की आवश्यकता रहती है, परन्तु कर्म-शत्रुओं से लड़ने के लिए तो अंतरंग आत्मिक बल की आवश्यकता होती है। आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है परन्तु वह शक्ति कर्म से आवृत होने के कारण दबी हुई है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना से ज्यों-ज्यों वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम खिलता जाता है त्यों-त्यों आत्मिक बल बढ़ता जाता है और अन्त में कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से आत्मा अनन्त शक्ति / वीर्य का स्त्रोत्र बनती है।

इस स्थिति की प्राप्ति के बाद आत्मा को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। उसकी मन, वचन और काया की पराधीनता सदा के लिए दूर हो जाती है और वह स्वाधीन बनकर अपने शुद्ध स्वरूप की भोक्ता बनती है।

प्रस्तुत स्तवन में योगिराज आनन्दघनजी ने प्रभु से वीरत्व की प्रार्थना की है। वर्धमान स्वामी ने कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर महावीरता प्रगट की है। सच्चा सामर्थ्य तो वही है जिससे आत्मा कर्म के बन्धनों से सर्वथा मुक्त बने। क्षायिक वीर्य की प्राप्ति के बाद आत्मा-परमात्मा बन जाती है। वह सदा के लिए ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। योगिराज ने इस स्तवन में आत्मा की शैलेशीकरण आदि अवस्थाओं का सुन्दर संकलन किया है।

आओ ! हम सब मिलकर पू. योगिराज के स्वर में स्वर मिलाकर प्रभु महावीर की स्तवना करें...उनसे वीरत्व की याचना/प्रार्थना करें जिससे हम भी स्व-बन्धन से मुक्त होकर सच्चे वीरत्व के भागी बन सकें।

24 महावीर जिन-स्तवन

वीर जिनेश्वर चरणे लागुं, वीरपणुं ते मागुं रे ।
मिथ्या मोह तिमिर भय भागुं, जित नगारुं वाग्युं रे ।।
।। वीर०१ ।।

छउमत्थ वीरज लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अंगे रे ।
सूक्षम थूल क्रिया ने रंगे, योगी थयो उमंगे रे ।।
।। वीर०२ ।।

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंखो, योग असंखित कंखे रे ।
पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखे रे ।।
।। वीर०३ ।।

उत्कृष्टे वीर्य निवेशे, योग क्रिया नवि पेसे रे ।
योग तणी ध्रुवता ने लेशे, आतम शक्ति न खेसे रे ।।
।। वीर०४।।

काम वीर्य वशे जेम भोगी, तेम आतम थयो भोगी रे ।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ।।
।। वीर०५ ।।

वीर पणुं ते आतमठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे ।
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे ।।
।। वीर०६ ।।

आलंबन साधन जे त्यागे, पर परिणति ने भागे रे ।
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, आनंदघन प्रभु जागे रे ।।
।। वीर०७।।

वीर जिनेश्वर चरणे लागुं, वीरपणुं ते मागुं रे ।
मिथ्या मोह तिमिर भय भागुं, जित नगारुं वाग्युं रे ।।1।।

कठिन शब्दों के अर्थ

वीर जिनेश्वर=चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी । **चरणे लागुं=**पैरों में गिरता हूँ । **वीरपणुं=**शूरवीरता । **मांगु=**मैं माँगता हूँ । **मिथ्यामोह=**मिथ्यात्व मोहनीय रूप । **तिमिर भय=**अन्धकार का भय । **भागुं=**दूर गया है । **जीत नगारुं=**विजय का नगाड़ा । **वाग्युं=**बज रहा है ।

सामान्य अर्थ

श्री महावीर परमात्मा के चरणों में प्रणाम करके मैं उनके पास उनके द्वारा निर्दिष्ट शूरवीरता माँगता हूँ जिसके बल से उन्होंने मिथ्यात्व और अज्ञान के अन्धकार को दूर किया है और जगत् में विजय का डंका बजाया है ।

विवेचन

इस अनादि संसार में आत्मा के परिभ्रमण का मूल मिथ्यात्व और अज्ञान ही है । भगवान महावीर परमात्मा ने तप और वीर्य के बल से मिथ्यात्व और अज्ञान रूप शत्रुओं को परास्त किया है । समभावपूर्वक की गई तपश्चर्या के फलस्वरूप घातिकर्मों का क्षय कर भगवान महावीर परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और वीतराग बने हैं । भगवान महावीर परमात्मा ने समत्व की साधना के द्वारा मोहनीय कर्म पर गाढ़ प्रहार किया और अन्त में उस कर्म को परास्त किया । मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के साथ ही परमात्मा ने अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का भी क्षय कर दिया, जिसके फलस्वरूप परमात्मा केवलज्ञानी, केवलदर्शनी और अनन्त शक्ति के स्वामी बने हैं । इस प्रकार आत्मा के शत्रुओं के नाश से आप निर्भय बने हो और चौदह राज लोक में आपकी विजय का डंका बजा है ।

योगिराज आनन्दघनजी म. महावीर प्रभु से प्रार्थना करते हुए फरमाते हैं कि हे प्रभो ! मैं आपके चरण-कमलों में प्रणाम करके आपसे शूरवीरता की प्रार्थना कर रहा हूँ जिसके प्रभाव से मिथ्यात्व व मोह का भय सदा के लिए दूर हो जाय । हे प्रभो ! मुझे वह शक्ति दो कि जिसके बल

से आत्मा के कर्म शत्रुओं का हनन कर सकूँ और उन शत्रुओं को दूर कर विजय प्राप्त कर सकूँ ।

छउमत्थ वीरज लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अंगे रे ।
सूक्षम थूल क्रिया ने रंगे, योगी थयो उमंगे रे ।।2।।

कठिन शब्दों के अर्थ

छउमत्थ=छद्मस्थ अवस्था । **वीरज लेश्या=**क्षायोपशमिक वीर्य वाली लेश्या । **संगे=**योग से । **अभिसंधिज=** अभिसंधिजनित । **थूल=**व्यावहारिक । **क्रिया ने रंगे=**क्रिया करने के उत्साह से । **योगी थयो=**योगी बने हैं । **उमंगे=**उत्साह से ।

सामान्य अर्थ

लेश्यायुक्त छद्मस्थ जीवात्मा की इच्छा व प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति अभिसंधिज वीर्य से होती है । मन, वचन और काया की सूक्ष्म और स्थूल क्रिया के रंग से आत्मा उत्साहपूर्वक योगी बनती है ।

विवेचन

आत्मा की शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं । वीर्यांतराय कर्म के देश क्षय (आंशिक क्षय से) और संपूर्ण क्षय से वीर्य के दो प्रकार होते हैं । वीर्यांतराय कर्म के देशक्षय से जन्य वीर्य छद्मस्थों को होता है और सर्वक्षय से जन्य वीर्य केवली को होता है । इन वीर्यों के पुनः दो-दो भेद हैं ।

बुद्धि / विचार पूर्वक की क्रियाओं में प्रवर्तमान वीर्य को अभिसंधिज वीर्य कहते हैं और उपयोगरहित अवस्था में (जैसे-भुक्त आहार का सप्तधातु में परिणमन, एकेन्द्रिय जीव की आहारग्रहण की प्रवृत्ति आदि) प्रवर्तमान वीर्य को अनभिसंधिज वीर्य कहते हैं ।

छाद्मस्थिक वीर्य दो प्रकार का होता है—सकषायी और अकषायी । सकषायी छाद्मस्थिक वीर्य सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक पर्यन्त जीवों को होता है और अकषायी छाद्मस्थिक वीर्य उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानकवर्ती जीवों को होता है । छाद्मस्थिक वीर्य सदैव सलेशी होता है ।

केवली वीर्य के दो भेद हैं—(1) सलेशी और (2) अलेशी । सलेशी

वीर्य सयोगी गुणस्थानक में और अलेशी वीर्य अयोगी गुणस्थानक में होता है । केवली का वीर्य सदैव अकषायी ही होता है ।

मन-वचन और काया के पुद्गलों द्वारा प्रवर्तमान आत्मवीर्य को योग कहते हैं । मन, वचन और काया के पुद्गल सहकारी कारण होने से कारण में कार्य का आरोप करके शास्त्र में उन्हें योग शब्द से निर्देशित किया है और उस योग के तीन प्रकार हैं–

1. सहकारी कारण रूप मनोवर्गणा द्वारा प्रवर्तमान आत्मवीर्य को **मनोयोग** कहते हैं ।

2. सहकारी कारण रूप भाषावर्गणा द्वारा प्रवर्तमान आत्मवीर्य को **वचनयोग** कहते हैं ।

3. सहकारी कारण रूप काया के पुद्गलों के द्वारा प्रवर्तमान वीर्य को **काययोग** कहते हैं ।

वीर्य, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य आदि योग के ही पर्याय हैं । वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की तीव्रता मन्दता के अनुसार ही आत्मा अपनो शक्ति का उपयोग मन वचन और काया के द्वारा कर सकती है ।

भगवान महावीर परमात्मा ने अपनी शक्ति का उपयोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की पवित्रतम साधना में किया और उसके द्वारा घातिकर्मों का क्षय कर वे उत्साहपूर्वक सच्चे योगी (सयोगी गुणस्थानकवर्ती) बने ।

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंखो, योग असंखित कंखे रे ।
पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखे रे ।।3।।

कठिन शब्दों के अर्थ

असंख्य प्रदेशे=आत्मा के असंख्य प्रदेश । **वीर्य असंखो=**अमाप शक्ति । **योग असंखित=**असंख्य योग । **कंखे रे=**इच्छा करते हैं । **पुद्गलगण=**पुद्गल की विविध वर्गणाएँ । **लेशुविशेषे=**लेश्या विशेष करके । **लेखे रे=**मापसे, प्रमाण से ।

सामान्य अर्थ

प्रत्येक आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं और प्रत्येक आत्मप्रदेश

में असंख्य आत्मिकवीर्य के अंश होते हैं । आत्मिकवीर्य के असंख्य-असंख्य अंशों का योगस्थानक होता है और उन्हीं के बल से आत्मा अनन्त पुद्‌गलों के समूह रूप कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करती है ।

विवेचन

चौदह राजलोक के जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने ही प्रत्येक आत्मा के आत्मप्रदेश हैं और प्रत्येक प्रदेश में असंख्य वीर्य (छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से) रहा हुआ है । (केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तो प्रत्येक आत्मप्रदेश में अनन्त वीर्य होता है) ।

'पंचसंग्रह' में कहा गया है-`सूचि श्रेणी के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण असंख्य स्पर्धकों से जघन्य योगस्थानक होता है । यह योगस्थान भव के प्रथम समय में वर्तमान अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद के जीव को होता है ।' ये योगस्थान भी असंख्य हैं । इन योगस्थानों से आत्मा औदारिक, वैक्रियिक, कार्मणादि वर्गणाओं को अपनी ओर खींचती है और स्वयं कर्म के बन्धन से ग्रस्त बनती है । योगस्थानक के बल की शक्ति अनुसार तथा मन आदि की प्रवृत्ति के अनुसार आत्मा पुद्‌गल स्कंधों को ग्रहण करती है । मोक्षप्राप्ति के भी असंख्य योग कहे गये हैं । जीवात्मा यदि अपने वीर्य का उपयोग उनमें करे तो वह अवश्य ही भवबन्धन से मुक्त होकर अनन्त शक्ति की स्वामी बन सकती है ।

उत्कृष्टे वीर्य निवेशे, योग क्रिया नवि पेसे रे ।
योग तणी ध्रुवता ने लेशे, आतम शक्ति न खेसे रे ।।4।।

कठिन शब्दों के अर्थ

उत्कृष्टे वीर्य निवेशे=उत्कृष्ट वीर्य स्थान में । **योग क्रिया**=मन, वचन और काया की प्रवृत्ति । **नवि पेसे रे**=प्रवेश नहीं करता है । **योगतणी**=योग की । **ध्रुवता**=अचलता । **लेशे**=लवलेश मात्र । **न खेसे रे**=डिगता नहीं है ।

सामान्य अर्थ

आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य को प्राप्त करती है, तब उसकी योगप्रवृत्ति बन्द हो जाती है । योग की निश्चलता के कारण से आत्मशक्ति डिगती नहीं है ।

विवेचन

योग के निमित्त से ही आत्मा कर्म-बंध करती है । आत्मा ज्यों-ज्यों आग के गुणस्थानकों को प्राप्त करती जाती है...त्यों-त्यों उसकी योगप्रवृत्ति मन्द होती जाती है...जिससे आत्मा का कर्मबंध भी कम होता जाता है ।

जल आत्मा में उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होता है अर्थात् जब वह सयोगी गुणस्थानक को प्राप्त कर लेती है–तब तक गुणस्थानक में रही हुई योगक्रिया से आत्मा मात्र सातावेदनीय कर्म का बंध करती है और वह बंध भी कषायरहित होने से दूसरे ही समय में उसका वेदन और उसकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् तेरहवें गुणस्थानक में रहो आत्मा प्रथम समय में बंध करती है और दूसरे ही समय में उस कर्म को भोग लेती है ।

चौदहवें गुणस्थानक में आत्मा सर्वथा योगरहित बनती है और योगों से सर्वथा मुक्त बन जाती है । अयोगी गुणस्थानक का काल पांच ह्रस्वाक्षर प्रमाण है और इसी स्थिति में आत्मा शैलेशीकरण करके सर्व कर्मों का क्षय करके सम्पूर्णतया मुक्त बनती है और सदा के लिए कर्मसंग से मुक्त हो जाती है । सयोगी से नीचे के गुणस्थानकों में आत्मा योग की प्रवृत्ति के द्वारा नवीन कर्मों का बन्ध करती रहती है । परन्तु उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होने पर योगों की ध्रुवता से आत्मा अपने स्वभाव से लेश भी विचलित नहीं होती है ।

कामवीर्य वशे जेम भोगी, तेम आतम थयो भोगी रे ।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ।।5।।

कठिन शब्दों के अर्थ

कामवीर्य वशे=स्त्रीसंग की इच्छा से । **भोगी**=भोगकर्त्ता बनता है । **तेम**=उसी प्रकार । **आतम थयो भोगी रे**=आत्मा भोगी बनता है । **शूरपणे**=शौर्यगुण के बल से । **आतम उपयोगी**=निज स्वभाव में उपयोगवन्त रह कर । **तेह अयोगी रे**=वह आत्मा अयोगी बनता है ।

सामान्य अर्थ

कामवासना के वशीभूत हुआ मनुष्य अपनी वीर्य शक्ति के बल से

भोगी बनता है । इसी प्रकार आत्मा मन, वचन और काया के योग द्वारा अर्थात् सांसारिक वीर्य द्वारा संसार के चतुर्गतिक फल की भोक्ता बनती है । आत्मा में उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होने पर अपने शौर्य गुण के बल से वह निज स्वभाव में उपयोगवन्त रहती है और अयोगी गुणस्थानक को प्राप्त करती है ।

विवेचन

जब कोई मनुष्य विषय-वासना के अधीन बनता है, तब वह अपनी शक्ति का उपयोग विषय-सेवन में करता है और वह मनुष्य भोगी बनता है, इसी प्रकार आत्मा में जब वीर्योल्लास प्रगट होता है, तब वह निज गुण की भोक्ता बनती है । अत्यंत शूरता पूर्वक निज गुण में रमणता के फलस्वरूप आत्मा अन्त में योगों से सर्वथा मुक्त बनकर अयोगी अवस्था को प्राप्त करती है । योगिराज आनन्दघनजी म. परमात्मा से इस प्रकार की शूरवीरता की माँग कर रहे हैं कि जिसकी प्राप्ति के बाद आत्मा कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाय । जो आत्ना, आत्मा में रमण करती है, स्व स्वरूप में उपयोगवन्त रहती है, वही आत्मा क्रमशः अयोगी अवस्था को प्राप्त करती है ।

शास्त्र में वीर्य के तीन प्रकार भी बतलाए गए हैं–

(1) शारीरिक वीर्य – इस वीर्य का फल विषय-सेवन है ।

(2) सांसारिक वीर्य – द्वारा मन, वचन और काया के योग–इसका फल चतुर्गतिक संसार का परिभ्रमण है ।

(3) उत्कृष्ट वीर्य – इसके फलस्वरूप सयोगी अवस्था की प्राप्ति होती है ।

वीर पणुं ते आतमठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे ।
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे ।।6।।

कठिन शब्दों के अर्थ

ते आतमठाणे=वह आत्म गुणस्थान में चढ़ते । **जाण्युं रे=**मैं जान सका हूँ । **तुमची=**आपकी । **वाणे रे=**वाणी द्वारा । **निज=**स्वयं के । **ध्रुव पद=**मोक्ष पद । **पहिचाणे=**पहिचान से ।

सामान्य अर्थ

हे प्रभो ! आपकी वाणी / उपदेश से ही यह जान सका हूँ कि वीरता / शौर्य तो मेरी आत्मा में ही है । ध्यान-विज्ञान और शक्ति के अनुसार ही आत्मा अपने ध्रुवपद को पहिचानती है ।

विवेचन

हे प्रभो ! अभी तक मैं आपसे शूरवीरता की प्रार्थना कर रहा था...परन्तु आपकी वाणी से अब मुझे ख्याल में आ गया है कि शूरवीरता का मूल स्थान तो आत्मा स्वयं ही है । आत्मा में ही अनन्त शक्ति / सामर्थ्य रहा हुआ है । आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का पुञ्ज है' इस शाश्वत सत्य का प्रगटीकरण तीर्थंकर भगवन्तों ने ही किया है । उन्होंने ही यह सत्य जगत् के समक्ष प्रगट किया है । गुरुगम और शास्त्रीय विज्ञान का अवलम्बन लेकर आत्मा ज्यों-ज्यों अपने स्वरूप में / ध्यान में स्थिर बनती है, त्यों-त्यों आत्मा की ध्रुवता का बोध होता जाता है । निज स्वरूप ही ध्रुवपद / मोक्षपद है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर बनने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने अनेक उपाय बतलाए हैं, गुरुगम से उन उपायों को जानकर ध्यान-योग में स्थिर बनने से आत्मा की ध्रुवता का हमें बोध हो सकता है ।

आलंबन साधन जे त्यागे, पर परिणति ने भागे रे ।
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, आनंदघन प्रभु जागे रे ।।7।।

कठिन शब्दों के अर्थ

आलंबन=असमर्थदशा में सहायक । **साधन=**उपकरण । **त्यागे=**छोड़ देते हैं । **अक्षय=**जो कभी क्षय न हो । **आनंदघन=**आनन्द से भरपूर । **जागे रे=**ज्ञान से जागृत होते हैं ।

सामान्य अर्थ

जब आत्मा में सम्पूर्ण वीर्योल्लास प्रगट होता है, तब वह असमर्थ दशा में ग्रहण किये गए मन, वचन और काया के आलम्बनों का त्याग कर देती है और इससे पर-पुद्गल की परिणति भी दूर हो जाती है । आत्मा

अक्षय ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लीन बनती है। योगिराज फरमाते हैं कि इसी स्थिति को पाने पर आनन्द की समूह रूप ज्योतिर्मय आत्मा सदा के लिए जागृत बनती है।

विवेचन

जिस प्रकार शारीरिक कमजोरी में चलने के लिए दंड आदि की आवश्यकता रहती है, परन्तु कमजोरी दूर होने पर उस दंड का त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म मार्ग में प्रारम्भिक विकास के लिए मन, वचन और काया के योगों की आवश्यकता रहती है, उन्हीं की सहायता से आत्मा शुभ-शुभतर और शुद्ध अध्यवसायों में लीन बनती है, परन्तु जब आत्मा स्वयं पूर्ण बन जाती है, स्वयं शक्तिमान् बन जाती है तब उसे परपरिणति रूप किसी भी प्रकार के आलम्बन / सहारे की आवश्यकता नहीं रहती है।

मन, वचन और काया भी पुद्गल रूप ही है। आत्मा जब पूर्णता को प्राप्त कर स्व-स्वभाव में लीन बनती है, तब उसकी पर-परिणति सदा के लिए दूर हो जाती है और वह (आत्मा) अक्षय ज्ञान-दर्शन और चारित्र में रमण करती रहती है। आनन्द के समूह रूप आत्मा की यही पूर्णता जागृत अवस्था है अथवा योगिराज आनन्दघनजी फरमाते हैं कि अयोगी गुणस्थानक की प्राप्ति होने पर प्रभु अर्थात् आत्मा अनादि की निद्रा से जागृत बनती है और विभावदशा का त्याग कर आत्मा परमानन्द स्वरुप में लीन बनती है।

उपसंहार

श्रीमद् ज्ञानसारजी महाराज ने इन स्तवनों की समाप्ति पर टबे' (संक्षिप्त विवेचन) में लिखा है–

आशय आनंदघन तणो, अति गंभीर उदार ।
बाल बाँहि पसारि जिम, कहे उदधि विस्तार ।।

``इन स्तवनों की रचना में पू. आनन्दघनजी महाराज का आशय अत्यन्त ही गंभीर और उदार है । उनकी गम्भीरता का माप निकालना मेरे वश की बात नहीं है, फिर भी जिस प्रकार एक बालक को समुद्र का विस्तार पूछने पर वह अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर–समुद्र तो इतना बड़ा है–कहता है, उसी प्रकार मैंने अपनी अल्पमति से इसका संक्षिप्त अर्थ किया है ।''

पूज्यपाद योगिराज के स्थवन वास्तव में अर्थ-गाम्भीर्य और जिनशासन के गहनतम रहस्यों से भरपूर है । इन स्तवनों पर विवेचन लिखना मेरे वश की बात नहीं है । फिर भी परम कृपालु, कलिकाल कल्पतरु, जिनसासनस्तम्भ **पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** की सतत अमीदृष्टि, **प.पू. अध्यात्मयोगी भवोदधितारक पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की सतत कृपावृष्टि, **प.पू.वात्सल्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा.** के मंगलमय आशीर्वाद, **प.पू. शासन प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय मित्रानंदसूरीश्वरजी म.सा.** की सतत प्रेरणा शक्ति से ही यह कार्य निर्विघ्न समाप्त हो रहा है । इस कार्य में सहयोग / सहायता देने वाले **परम पूज्य विद्वद्वर्य पंन्यास प्रवर श्री धर्मजित्विजयजी गणिवर्य,** (बाद में **आचार्य श्री धर्मजितसूरिजी**)

प.पू. सेवाभावी मुनिवर्य श्री वज्रसेनविजयजी म.सा.,(बाद में **पू.पं. श्री वज्रसेनविजयजी म.**) **प.पू.विद्वद्वर्य मुनिवर्य श्री कुलचन्द्रविजयजी म.सा.** (बाद में **पू.आ.श्री कुलचन्द्रसूरिजी म.सा.**)आदि का मैं हृदय से आभारी हूँ ।

अन्त में इस शुभ कार्य से जन्य पुण्य से सभी भव्यात्माएँ निर्मल बोधि को प्राप्त करें, इसी हार्दिक अभिलाषा के साथ–

–रत्नसेनविजय

(वर्तमान में पू.आ.श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरिजी)

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्मतिथि	: भादों सुद-3, विक्रम सं. 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com.
दीक्षादाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षादिवस	: माघ शुक्ला 13, वि. संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षादिवस विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 से अधिक दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, वि.सं. 2033, दि.1-3-1977
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषाबोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन :** फागुन सुदी 14, विक्रम संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली, विक्रम संवत् 2038

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना।

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, सं. 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई।

◆ **आचार्य पदवी :** पौष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा।

आनंदघन-चौबीसी

एक अद्‌भूत-रचना !

अवधूत महायोगी के

अंत: करण में से

प्रस्फुटित शब्दों की संरचना

अर्थात्

आनंदघन-चौबीसी !

जिसके एक-एक शब्द

गंभीर रहस्यों से भरपूर है ।

स्तवनों के माध्यम से

योगीराज हमें

आत्मा से परमात्मा की ओर

अन्तर्यात्रा की गहराई में ले जाते है ।

'आइए ! आनंद चौबीसी'–हिन्दी विवेचन

के माध्यम से

परमानंद की अनुभूति का

एक सफल प्रयास करे !

Shubhay M. 98205 30299